BANARAS HINDU UNIVERSITY JOURNAL

Vol. X (1) 14 NOV. 1964

Subscription Rates (per issue) :—

U.S.A.	...	...	...	1 $
U.K.	...	...	...	10s
India	...	...	...	Rs. 5.00
B.H.U. (Staff and Students)		...	...	Rs. 3.00

RULES

(1) The "Prajñā", shall, so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Diwali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Assistant Editor, "Prajñā", B.H.U. Journal, Varanasi-5.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the College Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Article should ordinarily be typewritten on foolscap paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Teacher authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 50 off-prints *gratis* and the students will get 25 off-prints.

(5) Articles of a highly techinical nature will not be entertained.

BA

Vol.

BANARAS HINDU UNIVERSITY JOURNAL

Vol. X (1)

14 NOV. 1964

विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)

मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय-सूची

पण्डित नेहरू व्याख्यान देते हुये

मालवीय जन्म-शती पर नेहरू जी का व्याख्यान

वाइसचान्सलर साहब, विश्वविद्यालय के आचार्य, अध्यापकगण व विद्यार्थियो, बहनो, भाइयो और बच्चो !

आज इस जगह पर खड़े होकर और इस महान समारोह को देखकर मेरा मन कुछ पिछले जमाने में जाता है, गुजरे जमाने में; और अनेक चित्र उसमें आते हैं—तस्वीरें उन बातों की जो गुजर गई हैं, हो गई हैं। ठीक है, ऐसा तो होना ही है क्योंकि हम आए हैं एक महापुरुष की याद में और इसलिए पुराना जमाना याद आयेगा ही।

जब यह विश्वविद्यालय शुरू हुआ था, वह दिन भी मुझे याद है और शायद मैं तारीख भूल जाता उसकी लेकिन एक वजह से बहुत याद है मुझे। मैं उसमें आ नहीं सका था, इच्छा तो थी, लेकिन उसमें और एक बात में कुछ मुठभेंड़ हो गई। बात यह कि उसी तिथि को, उसी तारीख को, दिल्ली में मेरी शादी थी। वसंत पंचमी का दिन था, एक शुभ दिन विश्वविद्यालय के आरम्भ करने का भी और मेरी शादी का भी।

तो उस समय से कितनी बातें हुईं जो याद आती हैं इस विश्वविद्यालय के सिलसिले में। और जहाँ तक पूज्य मालवीय जी का सम्बन्ध था मुझे याद नहीं पड़ता कि कब पहले उनकी और मेरी मुलाकात हुई क्योंकि वह शायद मेरी पैंदाइस के थोड़े दिन बाद हुई थी। साफ याद नहीं है मुझे। बचपन में उनको देखा दूर से। वह एक बुजुर्ग थे आदरणीय बुजुर्ग। मैं एक बच्चा था, लड़का था। कुछ बड़े आदमियों को देखकर दूर से कुछ घबड़ाता भी था कि बहुत बड़े लोग हैं उनके पास नहीं जाऊँ, क्योंकि याद रखिए उस जमाने में बुजुर्गों का हम लोग ज्यादा आदर किया करते थे बनिस्वत आजकल के। और इस तरह हम बड़े हुए। फिर मैं चला गया विदेश पढ़ाई-लिखाई के सिललिले में और सात-आठ वर्ष वहाँ रहा। और जब वापिस आया तो फिर से उनसे मिलना जुलना हुआ और अक्सर हुआ।

हम दोनों इलहाबाद के रहने वाले थे। लेकिन खाली मिलने-जुलने की बात नहीं थी, बल्कि मेरे दिल में कुछ परेशानी रहती थी, क्योंकि जमाना ऐसा था कि मेरे दिल में ही नहीं—मैं जब अपना कहता हूँ आप समझिये उस जमाने के नौजवानों का कहता हूँ—उनके दिल में अक्सर परेशानी थी भारत की हालत पर, नाराजगी थी कि क्यों यहाँ अंग्रेजी साम्राज्य चलता जाता है, क्यों नहीं उसको हटाते, और उसी के साथ यह बकसी कि करें क्या।

उधर उसके थोड़े ही दिन पहले कुछ नौजवानों ने, नवयुवकों ने बंगाल में—उधर महाराष्ट्र के तरफ भी—बम फेंकना शुरू किया था, कुछ बरस, एक-दो बरस पहिले। वह भी एक निहायत निकम्मी बात मालूम होती थी हमें। और उसी के साथ एक दूसरा तरीका भी था कि प्रार्थना-पत्र लिखते जाँय, भेजते जाँय, तार भेजते जाँय और दरखास्तें भेजें। वह भी एक निकम्मी चीज और कुछ शान के खिलाफ बात मालूम होती थी।

लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि यह जमाना था जब भारत में काफी लम्बे लोग पैदा हुए। खासी पैदाइश के वक्त वे लम्बे नहीं थ। लेकिन मैं उनके कद की बात नहीं कहता। उनके दिमाग का, सेवा भाव का और बातों का। काफी बड़े आदमी भारत ने उस जमाने में पैदा किए और इसी साल (१९६१) में आप देखिये कितनी शताब्दियाँ हम मना रहे हैं और जितनी मना रहे हैं उससे और भी बहुत हुए जिनकी हमने मनाई नहीं। और काफी बड़े आदमी हुए लेकिन वह चूँकि अपने फन में बड़े थे, इसलिये सारा देश उन्हें शायद न जानता हो। विज्ञान में बड़े से बड़े आदमी सर पी० सी० राय—आचार्य रे—बंगाल के बहुत बड़े आदमी थे। उनकी भी शताब्दी इसी साल मनायी जा रही है। तो एक ऐसा समय था जब कि इक्तिफाक से भारत ने बड़े-बड़े आदमियों को पैदा किया और इस तरह से दिखाया कि वह एक जीवित देश है, जिन्दा देश है, क्योंकि निशानी यही है देश की। निशानी यह तो नही है कि हमारे देश में ४३ करोड़ आदमी रहते हैं; निशानी यह कि ४३ करोड़ में कितने ऊँचे दर्जे के लोग हैं, कितनी क्वालिटी के लोग हैं। और ऐसी हालत में जब कि भारत अंग्रेजी साम्राज्य में था, दबा था और बढ़ने के मौके कम मिलते थे, उसमें ऐसे लोगों को पैदा किया जिनकी शताब्दी हम मनाते हैं। और थोड़े दिन बाद महात्मा गांधी को पैदा किया। अगर हमें कुछ भी भारत के बारे में मालूम न हो तो हम यह कह सकते हैं कि भारत में कुछ ऐसे गुण हैं कुछ बड़ी भारी जबरदस्त चीज है जो ऐसे लोगों को पैदा कर सकती है कभी-कभी।

मालवीय जी इन बहुत बड़े आदमियों में थे, और ऐसे समय आए जब कि एक बदलता हुआ भारत कुछ थोड़ा सा बदल रहा था। भारत कुछ सम्हल रहा था उस धक्के से जो कि १८५७ की आजादी की लड़ाई में उसे मिला था, जब अंग्रेजी साम्राज्य ने बेरहमी से कुचला था हमारे देश को विशेषकर उत्तर भारत को। कुछ उससे सम्हल रहा था हल्के-हल्के और उसको सम्हलने का वक्त आया जब उसके २०-२५ वर्ष बाद नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ और नेशनल कांग्रेस के करीब-करीब जन्म होते ही शायद दूसरे ही वर्ष मालवीय जी उसमें शरीक हुए—और उनकी जिन्दगी भी उस भारत के बढ़ते हुए इतिहास के साथ थी। कहा जा सकता है कि उस समय के इतिहास को नेशनल कांग्रेस ने लिखा भारत का; तो वह उसमें शरीक हुए। उसके बनाने वाले थे और उसकी सेवा करने वाले थे तो यह तो एक बहुत बड़ा हिस्सा उनकी राजनीति का हुआ, जो उन्होंने विशेषकर कांग्रेस द्वारा किया।

लेकिन वह हर तरफ़ देखते थे। शुरु ही से उनका ध्यान हमारी शिक्षा की तरफ गया। क्योंकि वह ऐसा समय था कि हमारी शिक्षा अव्वल तो बहुत कुछ फैली नहीं थी—फैल रही थी हल्के-हल्के—लेकिन फिर भी थोड़े से लोगों के लिए थी और उस पर असर पश्चिमी देशों का बहुत था, होना ही था, आश्चर्य की बात नहीं। शिक्षा में बहुत सी बातें हमें पश्चिमी देशों से सीखनी थीं हम गिर गये थे वह आगे बढ़े थे हमें सीखनी थीं बहुत बातें वह ठीक था लेकिन उसी के साथ बहुत सारी बातें उधर से आने लगीं जो कि बहुत आवश्यक नहीं थी, बल्कि कुछ हानिकारक थीं—और हम एक नकली लोग होने लगे हल्के-हल्के, असली नहीं। असली आदमी होता है वह जो दूसरों की नकल नहीं करता हम सब

नकल करने लगे योरप की ऊपरी बातों का। यूरोप में बहुत अच्छी बातें थीं और हैं। योरप ने एक सिविलाइजेशन ऐसी बनाई है इस बीसवीं शदी में जिसमें अनेक खूबियां हैं, ऊचे दर्जे की हैं अगर हम उन बातों को सीखते तो अच्छा था क्योंकि हममें कमियां थीं लेकिन हमारा ध्यान कोट, पतलून, टाई और कालर की तरफ जाता था और योरप की असली विद्या जिसने योरप को बड़ा किया उसकी तरफ कम गया और साथ ही जिन बातों ने भारत को बड़ा किया था प्राचीन समय में और बाद में उनको हल्के-हल्के भूलने लगे; तो मालवीय जी ने इस बात को पकड़ा। यों तो योरप की अच्छी बातों को वह अच्छी तरह से समझते थे। अंग्रेजी भाषा के वह बेनजीर बोलने वाले थे, लिखने वाले थे और योरप की साइंस विज्ञान की बड़ी कद्र करते थे, लेकिन वे ऊपरी बातों की नहीं करते थे। तो एक माने में आप देखें कि वह मिलाना चाहते थे दो बातों को—भारतीय संस्कृति और योरप के विज्ञान को। विज्ञान के साथ और चीजें बढ़ीं विज्ञान के साथ एक नई दुनियाँ बनी, नई इण्ड-स्ट्रियल सिविलाइजशन उद्योग की दुनियाँ बनी मशीनरी वगैरह की। वह दोनों को मिलाना चाहते थे जैसा हम आज भी चाहते हैं और कोशिश करते हैं।

आदरणीय मालवीय जी ने इस बहुत भारी लक्ष्य को अपने सामने रखकर यह विश्व-विद्यालय कायम किया और जमाना इसको हो गया और आज हम यहाँ बैठे हैं; तो सोचे हमलोग मालवीय जी का स्मारक बनाने की कोशिश करते हैं; उनकी स्मृति की उनकी याद करते हैं लेकिन कितने लोग दुनियाँ मे होंगे जिनका कोई स्मारक ऐसा शानदार बना हो जैसा कि यह विश्वविद्यालय यहाँ है—सोचिए, शानदार ही नहीं बल्कि एक पक्की चीज, एक बढ़ती हुई चीज, जीती जागती चीज जिसका असर देश भर में पड़े। इससे ज्यादा कोई चीज स्मारक नहीं हो सकती। हाँ मूर्तियाँ और इमारतें ईट पत्थर की बनती हैं और बनेंगी। लेकिन यह कि एक जिन्दा चीज, एक जीवित चीज जो कि आप को याद भी दिलाए और स्मारक भी हो और आगे की तरफ दिखाए भी आप को, इस तरह से आप पिछले जमाने को भविष्य से मिलाएँ तो यह हमेशा के लिये उनकी यादगार है और बताएगी किस तरह उनका जीवन था भारत की आजादी के लिए। बहुत लोगों से उस जमाने में मिला हूँ। जानता हूँ हजारों को भारत में जिन्होंने अपने जीवन को इस स्वराज्य के संग्राम में सर्व कर दिया; पूरी तौर से दे भी दिया। लेकिन मैं समझता हूँ कि ऐसे कम ही होंगे जिनके दिल में इस स्वतन्त्रता के लिए, आजादी के लिए ऐसी आग—लौ जलती थी जैसी मालवीय जी के दिल में। यह तो उनके जीवन का बड़ा भाग है, बड़ा भारी हिस्सा जिसका असर भारत के इतिहास पर पड़ा भारत की बढ़ती हुई आजादी की लड़ाई पर पड़ा। दूसरा हिस्सा उनका यह है—दोनों हिस्से अलग नहीं हैं—जिसकी निशानी यह विश्वविद्यालय है काशी का; जहाँ हम इस वक्त मौजूद हैं। दूसरा हिस्सा मैंने कहा लेकिन दोनों बिल्कुल मिले हुए हैं। भारत की आजादी—राजनीतिक आजादी हुई। हम आजाद हो गए। नक्शे पर हमारा एक रंग था पहले—अब दूसरा हो गया। अंग्रेज यहाँ से हट गए यह बात ठीक है। लेकिन जितने हमारे बड़े आदमी हुए हैं उन्होंने आजादी के माने कुछ अधिक समझा। खाली ऊपर से नहीं। मालवीय जी समझे और इसीलिए उस आजादी को मजबूत करने के लिए—आने वाली आजादी को—उनका ध्यान शिक्षा की तरफ, विश्वविद्यालय की तरफ गया।

गांधी जी को लीजिए, कोई अगर देखना चाह, अगर समझना चाहे कि जो-जो बातें उन्होंने कीं उसके माने क्या हैं तो पहले माने उसके यह नहीं है कि वे अंग्रेजी हुकुमत को यहाँ से अलग कर दें—यह माने थे उसके यह नतीजा था उनके काम का यह उनके मन में था। लेकिन जिस नीयत से वह काम करते थे वह यह था कि हम कैसे भारत की जनता की ताकत को बढ़ाएँ असली ताकत कि भारत की जनता के दिल से डर निकाल दें उसमें एक हिम्मत या वीरता आए। क्योंकि अगर ये बातें आ जाती हैं तो भारत की जनता की ताकत बढ़ जाती है। उसका लाजिमी नतीजा यह है कि कोई बाहर की हुकुमत यहाँ नहीं रह सकती। देखिए सोचने का तरीका। एक यह कि किसी तरह से बम फेंक कर यह करके, वह करके हम अंग्रेजी हुकुमत को निकाल दें फिर हम देख लेंगे, यह नहीं था, पर किस तरह हम हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों की ताकत बढ़ाएँ सहयोग की शक्ति बढ़ाएँ जिससे बड़ी जबरदस्त शक्ति हो जाती है—उसके सामने अंग्रेजी राज्य नहीं रह सकता और उसके बाद कोई और हमला नहीं कर सकता। अगर किसी इत्तिफाक से, चतुराई से अंग्रेजी राज्य यहाँ से हट जाता तो हमारी ताकत नहीं होती काफी फिर गिर जाते जैसे बार-बार हम गिरे इतिहास में अपनी कमज़ोरी से, आपस में लड़ने से।

मेरा विचार यह है—कहाँ तक सही है, आप के आचार्य लोग जानें—हिन्दुस्तान की यह दलबन्दी की आदत, अलग-अलग खानों में रहने की आदत, हमारे जाति-भेद से पैदा हुई है जो खास भारत की एक चीज है और जगह भी दलबन्दी वगैरह होती है लेकिन जाति-भेद तो भारत की एक खास चीज है जिसने यहाँ के लोगों के इतने टुकड़े किए, खानों में रक्खा अलग-अलग और एक असली राष्ट्रीयता को पैदा होने नहीं दिया। हम राष्ट्रवादी हैं। हम बहुत कुछ नेशनलिज्म की चर्चा करते हैं लेकिन सच बात यह है कि हमारे यहाँ जैसा जाति-भेद और नेशनलिज्म साथ-साथ मिलकर नहीं रह सकता। एक दूसरे को कमजोर कर देता है और पूरी राष्ट्रीयता हमारे देश में नहीं आ सकती जब तक कि हम इस बात को न समझें और भेद को खत्म न करें। समाजवाद वगैरह की चर्चा तो और भी दूर की चीज है तो अब यह प्रश्न गांधी जी के सामने था कि जो बातें कमजोर करती हैं हम उनको कैसे हटाएँ सारा आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन व सिविल नाफरमानी, जो भी वे करते थे उसका मतलब यही था—लोगों की ताकत बढ़ाना, लोगों से भय निकालना और लोगों में सहयोग का माद्दा पैदा करना यह बुनियादी बात थी इसी सिलसिले में उन्होंने अस्पृश्यता का विरोध बड़े जोरों से किया क्योंकि हमारे देश में राष्ट्रीयता कैसी जब हम आधे देश को या एक चौथाई देश को दबाकर रक्खें? आजादी उनके लिए नहीं है। नहीं देश बन सकता इस तरह। जितनें काम उन्होंने किया उसी ढंग से देखिए—भारत की जनता को उठाना, उसकी शक्ति बढ़ाना, उसमें ताकत हो, शक्ति हो, बलिदान करने की हिम्मत हो और मिलकर रहें।

तो इसी ढंग से मालवीय जी के सामने भी प्रश्न थे। मालवीय जी और गांधी जी में हर बात में एक राय नहीं थी। एक दूसरे से बहुत प्रेम करते थे और बहुत आदर करते थे और बहुत बातों में एक राय के भी थे लेकिन हर बात पर एक राय नहीं थे। लेकिन बुनियादी तौर से मालवीय जी के सामने और हमारे नेताओं के सामने बात थी भारत के

लोगों को मजबूत करना उठाना उनको शिक्षा के जरिए से और बातों से तैयार करना जिम्मेदारी लेने की। उसी सिलसिले में विश्वविद्यालय भी कायम हुआ। मालवीय जी की एक और विशेषता थी। यह सब लोग जानते हैं कि उनको हमारी पुरानी संस्कृति से बहुत प्रेम था—उसके बहुत अच्छी निशानी और नमूने थे वह। नरम दिल थे लेकिन सिद्धान्त के पक्के। आसानी से वह अपने किसी सिद्धान्त को नहीं छोड़ते थे। लेकिन फिर भी नरमी से बात करते थे। वे मिलाना चाहते थे, तोड़ना नहीं चाहते थे। किसी बड़े आदमी की भी एक बड़ी निशानी यह होती है कि वह मिलता है न कि तोड़ता है और खासकर हमारे देश में जहाँ इतनी सारी शक्तियाँ हैं तोड़ने की, अलग करने की तो और भी वह बड़ी बात हो जाती है कि कौन मिलाता है, जोड़ता है। सबसे बड़ी मिलाने की बात क्या है? पहली बात तो यही कि हिन्दुस्तान में, भारत में जो ४२ करोड़ ४३ करोड़ रहने वाले हैं वह मिलकर रहें। मोटी बात है मिलकर नहीं रह सकते तो फिर भारत इस तरह से नहीं चल सकता—भारत की शक्ति अपने को उठाने में नहीं लगेगी, आपस में लड़ाई झगड़े में लगेगी। इसलिये भारत के लोगों को मिलना है।

भारत के लोग कैसे मिलें? अनेक प्रकार के लोग मिलते हैं हमारे देश में। हाँ, उनमें एकता है लेकिन फिर भी अनेकता बहुत है। आप जाइये आसाम से लेकर दक्षिण में कन्या-कुमारी तक। कितना फर्क आप पाएँगे—भाषा म, खान-पीने में कपड़े लत्ते जो पहनते हैं, सब बातों में और उसी के साथ आप एक जबरदस्त पक्की एकता भी पाएँगे संस्कृति की जो चली आती है प्राचीन समय से; दोनों बातें कुछ एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। हमारी अनेकता उस समय एकता को कमजोर नहीं करती। हाँ, अगर अनेकता की तरफ ज्यादा ध्यान दीजिये तो एकता कमजोर हो जाती है।

तो पहला सवाल हमारे सामने, गांधी जी के सामने, मालवीय जी के सामने, यह रहा है कि कैसे हम इस देश के लोगों में एकता पैदा करें। एकता के माने यह नहीं है कि सब एक से हो जायँ। एक से लोग नहीं होते। अलग-अलग धर्म हैं। अलग-अलग जगह संस्कृति भी थोड़ी-बहुत अलग-अलग हो सकती है, भाषाएँ अलग हो सकती हैं। और बातें अलग हो सकती हैं। फिर भी एकता है। यह बड़ा सवाल है।

अब आप भारत के इतिहास को देखिए—आज के नहीं, एक हजार दो हजार बरस के इतिहास को, तो आप पाएँगें कि भारत के मन में हमेशा एक खोज रही—समन्वय की, एक सिन्थेसिस की, मिलाने की जो जाहिरा अलग-अलग चीजें हों उनको जोड़ देने की। और यही भारत की ताकत रही। भारत का बड़ा जमाना जब-जब हुआ वह जमाना एक अलग रहने का नहीं था। वह जमाना था जिसकी दरवाजे खिड़कियां खुली थीं। जो आना चाहें आएँ; जो विचार आना चाहे आएँ। जो अच्छे हैं, उचित समझेंगे तो हम उसे अपनाएँगे, उसको ले लेंगे। यह नहीं कि हम दरवाजे खिड़कियाँ बन्द कर देंगे। हमारे लोगों ने प्राचीन समय में बड़ी-बड़ी यात्राएँ कीं। सारे हमारे पुराने किस्से-कहानियाँ क्या हैं? आप पुराण पढ़िये। भारत के बाहर की कहानियाँ हैं और भी बातें हैं। आप जानते हैं कि कैसे भारत के लोगों की पूर्वी एशिया देशों में पहुंच हुई? और भी दूर-दूर तक और पूर्वी एशिया का तो कोई भी देश नहीं है जहाँ भारतीय लोगों की पहुँच नहीं हुई।

अब भी भारत की संस्कृति का अध्ययन करना चाहें तो आपको भारत के बाहर जाकर देखना होगा। भारत के बाहर देखिए कि क्या होता था। चाहे आप इन्डोनेशिया जाइए, चाहे इन्डोचाइना जाइए या और कहीं; आप हजारों मील दूर मंगोलिया जाइए। वहां बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं, बड़े-बड़े मन्दिर बने। यह सब अधिकतर तो बौद्ध जमाने में हुआ। याद रखिये बौद्ध जमाना हमारा जमाना था। बौद्धधर्म हमारा धर्म है। वह कोई विदेशियों का धर्म नहीं था। तो उस वक्त भारत के दिमाग की खिड़कियां खुली थीं। हममें हिम्मत थी। हम जाते थे और जगह अपनी कला लेके, अपनी संस्कृत को लेके, अपनी भाषा को—यानी संस्कृति को—लेके। दूर-दूर जाते थे और सब लोग स्वागत करते थे, इसलिये कि जो चीज हम ले जाते थे वह कीमती थी। कुछ जबरदस्ती तो थी नहीं—फौज को लेकर तो हम गए नहीं वहाँ। अब भी आप जाइए—मंगोलिया जाइए—तो मंगोलिया वाले कहेंगे कि उनका जो राजवंश था वह एक भारतीय था जो यहाँ से—भारत से—गया था शायद एक बौद्ध बौद्धधर्म को लेकर। जिस तरह से वहाँ जाकर उसने विवाह किया वहाँ की किसी रहने वाली से—कोई राजकुमारी थी—तो उससे उनका राजवंश शुरू हुआ था। यह कहानी उनके यहाँ आती है। बहुत पुरानी बात है। ऐसी ही कहानी है कम्बोडिया में—कम्बोज में। तो जरा सा आप देखिए उस समय हमारे संबंध दुनिया के देशों से थे। वहाँ हम जाते-आते थे, कोई रुकावटें नहीं थीं। बाद के समय देखिये रुकावटें हुई, दीवारें पैदा हुई, समुद्रपार करना, कहीं जाना पाप समझा जाने लगा। प्रायश्चित करो। दीवारें हो गई। तो निशानी है यह एक कौम की जो गिर रही है। बजाय दिमाग की खिड़कियां खुली हों सब बन्द होने लगीं। सिटकिनी और ताले पड़ने लगे उनमें। हम अपने कुएं में बैठकर समझने लगे कि हमें कहीं जाना नहीं है, हम जितना सीख सकते थे सीख लिया हमने और कहीं बाहर जायँ तो जाने क्या बात हो जाय। देखिये भारत के इतिहास में कि कैसे हम गिरे। जहाँ मन के दरवाजे और खिड़कियां बन्द करने का प्रश्न आया एक देश गिरने लगता है, क्योंकि दुनियाँ एक देश से कुछ अधिक बड़ी चीज है। और मोटी बात यह कि जहाँ आप और दुनियाँ की हवाएं नहीं खाते और फिर मन में नहीं लाते आप पिछड़ जाते है। यही हुआ। बिलकुल यही हुआ। दुनियाँ में कैसी-कैसी बातें हुई इस समय पर, इस पिछले तीन-चार सौ बरस में। ३०० बरस में बड़ी क्रान्तियां आईं, इन्कलाब आए, "इंडस्ट्रियल रेवेल्यूशन" आया। बदलती गयी दुनिया—शक्ति बढ़ी उसकी। लेकिन हम बैठे हैं। यहाँ अकलमन्द आदमी हैं बड़े, लेकिन अकलमन्दी ज्यादा है पुराने सबक के रटने में, कोई नई बात करने का दम नहीं रहा। नई हिम्मत नहीं आई। हिम्मत तो थी वह राजस्थान में आप देखें। कितनी हमारी कहानियाँ हैं वीरता की राजस्थान में, और बड़े हम लोग पढ़ते हैं उनको तो हमारा दिल भी उभर आता है। लेकिन आप देखिए, वीरता अक्सर कैसी रही ? दो वीर पुरुष एक दूसरे से लड़ रहे हैं कि किसकी मूँछ ऊँची है, किसकी नीची है और अपने को तबाह कर रहे हैं और तीसरा दुश्मन लाभ उठाता है। इसी तरह अंगरेज आए यहाँ। खास उनमें माद्दा आपस में फूट का था जिसने हमें कमजोर किया। कभी भी हमारे देश में वीर पुरुषों की कमी नहीं रही। तेज दिमाग आदमियों की हर बात में थी। लेकिन फिर भी कमी रही तो माद्दा मिलकर काम करने को जो एक बड़ी भारी

बात है औ इस मिलाकर काम करने को कमज़ोर कर दिया हमारे समाज के संघटन के जाति भेद ने। खैर पुरानी बातें हैं लेकिन उससे हम सबक सीख सकते हैं।

जो बात आप से मैं कह रहा था वह यह कि भारत के सामने दो बड़ी बातें हैं और सब उसके पीछें हैं। एक तो यही कि भारत के लोगों में आपस में एकता हो। एकता के माने यह नहीं कि सब एक से हो जाँय। लोग अपने अपने ढंग से रहें, अपने-अपने धर्म पर रहें। अपने-अपने जो कुछ हैं—आदतें हैं, रस्म हैं—उसमें रहें, लेकिन उनका राष्ट्रीय धर्म एक हो। एक राष्ट्र के रहने वाले हैं तो उनका राष्ट्रीय धर्म एक होना चाहिए, नहीं तो राष्ट्रीयता से अलग हो जाते हैं। यह हमें स्वीकार करना चाहिए कि अलग-अलग धर्म के लोग भारतीय हैं और उतना ही उनको हक है जितना किसी और को हो सकता है—किसी को भी। यह अगर हम समझते हैं कि भारत की संस्कृति की एक बुनियादी चीज है, तो वह यही है जो आप देखते हैं दो हजार दो सौ वर्ष पूर्व लिखा हुआ सम्राट अशोक के स्तम्भों और पत्थरों पर कि तुम अपने धर्म का पालन करते हो, आदर करते हो तो दूसरे का जो धर्म है उसका भी, उसके धर्म का भी आदर करो। अगर उसके धर्म का आदर करोंगे तो वह तुम्हारे धर्म का आदर करेगा—यानी एक दूसरे की बरदाश्त। यह विशेषकर भारतीय संस्कृति की निशानी है। इसी तरह से भारत बना है। भारत के लोग चारो ओर फैले हुए हैं—वह आप की राय से एक धर्म के पैदा हुए। बात यह है कि तरह-तरह के लोग आए, वह अपनाए गए, हमारे समाज में दाखिल हो गए, हजारों बरस में बरदाश्त करने की बुनियादी नीति पर। अगर वह न होता तो असली जो सिक्का है भारत का वह नहीं होता हम लोगों में। तो यह हमें पहला सबक सीखना है।

दूसरा है, उतना ही आवश्यक, हमारी पुरानी संस्कृति। और जब मैं पुरानी संस्कृति कहता हूँ, मैं ऊपर की बातों को नहीं कहता कि आप कैसे अपने बालों को रखें, चोटी रखें न रखें टीका लम्बा लगाएँ कि चौड़ा लगाएँ। यह कोई संस्कृति की तो चीज नहीं है। अच्छी बात आप करना चाहते हैं तो आप करें नहीं तो नहीं करें। टीका लगाने से दिमाग के अन्दर की अक्ल नहीं बढ़ जाती है, हो सकता है कि और भी कम हो जाय। वह तो एक निशानी है, अच्छी निशानी तो आप रखें। लेकिन भारत की जो असली संस्कृति है जो कि कहिए दिमाग की, मन की है, आध्यात्मिक है, जो कुछ कहिए वह है एक चीज है जिसका कि दुनिया पर असर पड़ा है, जिसका असर हम लोगों पर अनजान भी हो तो पड़ता है जबरदस्त। वह एक कीमती चीज है—बेशकीमती चीज। तो उसे हमें रखना है और हमें तो रखना ही है। हम उसी से पैदा हुए हैं, उसी से ढले हैं और अगर वह हमसे छूट जाती है तो हमारे पैरों के नीचे से जमीन फिसल जाती है, हम बेजड़ हो जाते हैं। वह तो ठीक बात है।

लेकिन उतना ही आवश्यक है हमारे लिए आजकल की दुनिया को समझना, आज-कल के विज्ञान की दुनिया को समझना। विज्ञान से सब चीजें निकलती है, सब उद्योग धंधे। तो कैसे दोनों बातों का समन्वय करें? यह प्रश्न आ जाता है। आचार्य विनोवा भावे एक बात कुछ रोज-महीनों से कह रहे हैं जिसका लोगों पर बड़ा असर हुआ है।

उन्होंने कहा, यह उन्हीं के शब्द हैं जहाँ तक मुझे याद आता है, वह उस वक्त थे उत्तर भारत में, पंजाब में या कहाँ मुझे याद नहीं। उन्होंने कहा कि राजनीति या रियासत और मजहब इन दोनों के दिन खत्म हो गये। जरा गौर कीजियेगा। आजार्य विनोबा भावे से ज्यादा धार्मिक आदमी कोई भारत में नहीं हैं लेकिन जिस माने में यह कहा उन्होंने उसको आप समझिए। उन्होंने कहा कि पालिटिक्स और रिलिजिन के दिन खत्म हो गए। इसके माने यह थे कि आजकल जो परिस्थिति होती है और आजकल जो धर्म होता है उसका जमाना खत्म हो गया। लेकिन उसकी जगह क्या है ? उन्होंने कहा अब जमाना है विज्ञान का, साइंस का और स्पिरिचुएलिटी का, आध्यात्मिक विद्या का। गौर कीजियेगा। उन्होंने फर्क किया धर्म में और आध्यात्मिक विद्या में। एक धर्म के माने हैं धर्म के दिखाने की चीजें, ऊपर की; पर जो असली चीज है उसको तो बहुत किमती वह समझते हैं। तो यह बात गौरतलब है कि जो हमारी पुरानी संस्कृति की असली चीज है, जिसने भारत को भारत बनाया, वह तो रहना ही है। और उसका जो कुछ समन्वय हो आजकल की साइंस से, विज्ञान से और जो उससे बातें मिली हुई हैं, उसे करना है आजकल की दुनिया में हमें—आप को रहना है। पुरानी दुनिया से हम ताकत लें, विद्या लें, लेकिन रहना है हमें आजकल की दुनिया में। हम पुरानी दुनिया को लेना चाहें तो हम ले सकते हैं लेकिन उसका असर किसी पर नहीं होता और जब कोई तूफान आता है तो झाड़ू से हम अलग कर दिए जाते हैं। क्योंकि हम जमे नहीं आजकल की दुनिया में। तो यह बड़ा प्रश्न हमारे सामने है। सब बातें हम जो करते है—हम पंचवर्षीय योजना बनाएँ, यह करें, वह करें, उसके पीछे यही कि हम कैसे जोड़े इन बातों को। हम नहीं हैं हिन्दुस्तान को छोड़ा चाहते—जिन बातों ने भारत को भारत बनाया है हजारों वरस में कैसे उसे छोड़ सकते हैं हम ? माना, लेकिन हम उस समय में नहीं रह सकते हजारों वर्ष पहिले के। आज के समय में रहना है दुनिया में आज-कल की दुनिया में जिसमें प्रकृति की शक्तियों से लोग काम लेते हैं—यानी बिजली है, एटामिक एनर्जी है, और क्या है। यह क्या है ? यह जादू तो नहीं है। यह तो प्रकृति है। उसको समझना विज्ञान है।

तो दोनों का समन्वय करना है। मालवीय जी के मन में यह समन्वय था और इसलिये विशेषकर उन्होंने यह विश्वविद्यालय बनाया; और भी देश में काम करते थे वे लेकिन वह एक माने में इकट्ठा होके शक्ल पाई इस विश्वविद्यालय में। वे दूरदर्शी थे। दूर तक देखते थे। अब वह समय गुजरा। ऐसे मौके पर वह थे, जीवित थे, जब कि हल्के-हल्के नया भारत पैदा हो रहा था, आँखे खोल रहा था, कुछ अगड़ाइया ले रहा था, और हल्के-हल्के उसमें कुछ ताकत आई और वह स्वतन्त्र हो गया। और स्वतंत्र होते ही उसके सामने जो सवाल, जो प्रश्न छिपे हुए थे वह आग आ गए जिन्हें देखना था, जिन्हें हल करना था।

मैं इधर एक दूर की बात करता हूँ, लेकिन देखिए यह बातें जुड़ी हैं। हमारी नीति वैदेशिक नीति रही है कि हम सब देशों से मित्रता करें और कोई फौजी सन्धि किसी से न करें, यानी हमारी—जो कहते हैं—"नानअलाइनमेंट" की नीति रही है। अभी यह कोई चीज हवा से तो निकल नहीं आई। मैं कहता हूँ आप से कि यह नानअलाइनमेंट की

नीति हिन्दुस्तान के रवा और रेशे में भरी है---मेरे नहीं, मैं एक टुकड़ा हूँ इस महान देश का—लेकिन सारे हजारों बरस के हमारे मन में भरी है, हमारी। उसके माने क्या हैं ? हम अपनी हैसियत नहीं छोड़ा चाहते हैं। हम अपनी जिम्मेदारी रखा चाहते हैं। हम नहीं किसी से बँधकर, उसके साथ-साथ बँधे बँधे फिरा चाहते हैं। हम मित्रता रखना चाहते हैं हर एक से। लेकिन अपने रास्ते को हम खुद चुनना चाहते हैं, मित्रता रखते हुए। अगर मित्रता है तो हमारा फैसला ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिससे हम लड़ाई किसी से करें। ठीक, तो यह नानअलाइमेंट की नीति है। कोई चारा नहीं है। लेकिन जहाँ हम बँध जाते हैं किसी फौजी सम्बन्ध में तो फिर बँध जाते हैं उसके गेन्ग से, हम खींचते-ढकेले जाते हैं उस तरफ—चाहें या न चाहें। फैसला सवालों का और देश करते हैं—हम बँधे हुए चले तो हमें भी मानना पड़ता है। हमारी आजादी कम हो जाती है। यों भी यह ठीक बात नहीं है विशेषकर हमारे जैसे देश भारत जैसे देश—के लिए। और जैसा मैं समझता हूँ—कि भारत का कुछ संदेशा दुनिया के लिए है। हर देश का कुछ न कुछ पैगाम होता है, कुछ न कुछ संदेशा होता है अपने-अपने ढंग से। लेकिन भारत का अवश्य है। तो मैं उसको दबाना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि वह बढ़े। उसका असर हो दुनिया पर। वह चीज और विशेषकर आजकल की दुनिया में इसकी जरूरत है।

तो मैं बँध जाऊँ और औरों की बातों में फँस जाऊँ, अपनी बात न रखूँ, भारत राय न रखे, तो भारत अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है, अपनी सक्सियत से अलग हो जाता है। यह बात मुझे तो गवारा नहीं है। भारत ऐसा देश नहीं है कि मध्यम रहे। वह शान का देश है, मजबूत देश है, जानदार देश है, आगे बढ़ता हुआ देश है। गिरे हुए जमाने के बाद हम बढ़ रहे हैं और होंगे शानदार। लेकिन शानदार होंगे जब हम अपने रास्ते पर रहते हैं। गलती भी होती है हर एक से। हमसे भी होती है। वह तो और बात है। लेकिन एक ईमानदारी से जो सिद्धान्त, लक्ष्य रखकर हम काम करें तो गलती भी होगी तो हम सम्हल जाएँगे।

मैं आज सुबह इलाहाबाद से आया और करीब-करीब सीधा पहुँच कर मैं सारनाथ गया; क्योंकि सारनाथ, हालाकि मैं कई बरस बाद गया, मुझे बहुत खींचता हैं, मुझे सारी गौतम बुद्ध की कहानी खींचती है। और जब मैं यहाँ आता हूँ—बनारस या वाराणसी या काशी जो कुछ कहिए—तो मेरी आखों के सामने जरा कम आप की इमारतें यह वह रहती हैं। मेरे सामने हजार चित्र आते हैं—पुराने समय के, पुराने दिनों के, इस शहर के जो कि शायद दुनिया में उन दो-चार दरअसल में पुराने और प्राचीन शहरों में हैं, उसके साथ का है। प्राचीन शहर तो बहुत थे लेकिन यह उस समय से अब तक कायम है बगैर उखड़े—यह नहीं कि जमीन से गाड़कर आप निकालें जैसे मोहनजोदड़ो को निकाला गया। यह कायम है उस समय से। इसकी चर्चा महाभारत और रामायण में है और २५०० बरस हुए गौतम बुद्ध आए थे यहाँ, अपना पहला भाषण देने। क्यों आए थे वे यहाँ ? इसलिये कि बनारस उस समय भी भारत का एक केन्द्र था, विचारों का केन्द्र था, संस्कृति का केन्द्र था। इसलिये वे आए थे यहाँ और यही से शुरू किया उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार।

तो बनारस में तो बहुत सारी बातें हैं जो अच्छी नहीं लगतीं। आपकी गलियां निहायत गंदी हैं, बदबूदार हैं। लेकिन वह बदबू भी भूल जाता है आदमी—कम से कम मैं—जब मेरे सामने चित्र आते हैं। मैं देखता हूँ गौतम बुद्ध को अपना पहला भाषण देते तो मेरी भी आखें उससे खुल जाती हैं उस विचार से और मैं देखता हूँ इस तरह से। और भी कितनी तस्वीरें—क्या-क्या हुआ बनारस में, क्या-क्या नहीं हुआ और भी कितने आए और गए और अपना कुछ छोड़ गए थोड़ा सा। तो यह एक पैनोरमा, सुन्दर चित्रा-वली है—बड़ी जबरदस्त। शायद ही कोई शहर दुनिया में इसका मुकाबला कर सके। यह तो हमें मिला है, हमारी विरासत है। हम कैसे उसको चलाते हैं, यह आपका और हमारा काम है। कम से कम हमें इसको याद रखना चाहिए कि कितनी बड़ी जिम्मेदारी है हमारी। जब हम वारिस हों इसके तो इस विरासत को रखना है, बढ़ाना है कुछ ताकि हमारे बाद जो आवें कहें कि उनको कुछ बढ़कर मिली है न कि घटकर। तो आज कल का हमारा कुछ कर्त्तव्य है। और मालवीय जी इसी बात की याद दिलाते थे, इस बड़ी भारी विरासत की जो कि हमारी है। हमारी संस्कृति, पुरानी संस्कृति और उसको जोड़ना आजकल की दुनिया में और उससे लाभ खाली नहीं उठाना, बल्कि उसको बढ़ाना अपनी शक्ति से अपनी ताकत से यह समारा आजकल के जमाने का काम है।

हर युग का एक धर्म होता है। कभी-कभी एक युग का धर्म दूसरे युग में ठीक चस्पा नहीं होता पूरी तौर से। युग बदलता जाता है, या धर्म का रूप कुछ बदल जाता है, या धर्म का रूप कुछ बदल जाता है नये युग में। चाहे धर्म वही हो उसको अमल करने का तरीका कुछ बदल जाता है। अब इसलिये आजकल जो हमारा युग है उसके जो बड़े सवाल हैं उसमें हमें देखना है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है। भारत का कर्त्तव्य क्या है, क्योंकि भारत उन देशों में नहीं हो सकता कि वह अलग रहे दुनिया के चलने से, दुनिया की रफतार से। क्यों नहीं ? एक तो इसलिये कि यह इतना वड़ा है, इतना बड़ा देश कि जिसमें दुनिया की सातवीं आवादी—एक सातवाँ हिस्सा दुनिया का--भारत में रहती है। लेकिन अलावा इसके भारत एक ऊपरी देश नहीं है, एक सुपरफिसियल देश नहीं है। भारत की जड़ बहुत पुरानी है, हजारों बरस की। और हजारों बरस से भी कुछ नहीं होता है—हजारों बरस जहालत में भी गुजर सकते हैं। लेकिन उसके हजारों बरस जहालत में नहीं गुजरे हैं। बाज गुजरे हों। काफी ऊँची बातें हैं भारत के दिमाग ने निकाली। हाँ, बीच में एक जमाना हो गया था जब हम गिर गए थे लेकिन अब फिर उठ रहे हैं। फिर जमाना हमारा एक आजमाइश का आता है, कि फिर हम ललकार सकते हैं कि नहीं आसमान को भी अपने दिमाग से अपने मन से अपने कर्म से। तो इनमें विशेषकर जो हमारी पुरानी संस्कृति है वह मदद करती है, लेकिन जभी मदद करती है जब आप उसे लाकर आजकल के विज्ञान से मिलाएँ। अलग-अलग रखें तो न वह मदद करेगी न विज्ञान मदद करेगा। विज्ञान की हालत यह है आजकल कि हमें घसीट के हमारी शक्ति बढ़ाता जाता है। यानी आदमी की, इन्सान की शक्ति इतनी शक्ति हो गई, उसके हाथ में शक्ति आ गई कि सारी पृथ्वी को उड़ा दे वह अपने हाइड्रोजनबम वगैरह से। शक्ति बढ़ती जाती है। लेकिन मानसिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति नहीं आई कि इसको काबू में रखें। तो दोनों को बराबर रखना

है। इसलिये मैं कहता हूँ, इसलिये मैं जाता हूँ सारनाथ और वहाँ गौतम बुद्ध की याद तो यों ही रहती है लेकिन और विशेष हो जाती है। तो उनका संदेशा कान में आता है। अशोक का संदेशा कान में आता है जो कि असली भारत की संस्कृति का निचोड़ है और मैं समझता हूँ कि वह संदेशा दुनियाँ के लिए है। खैर, दुनिया में क्या कहें हम जाके। पहले तो खुद हम समझें, खुद हम उसे अमल करें। फिर दुनिया से कहें।

तो आप यहाँ विश्वविद्यालय में हैं और हम मिले आज यहाँ महामना मालवीय जी की शताब्दी मनाने। इस सिलसिले में बहुत सारे स्मारक खड़े होंगे इमारतें खड़ी होंगी। लेकिन आखिर में एक बड़े आदमी की याद तो यही है कि उसकी बात हम समझें और उसे अमल करें। और जितने बहुत बड़े आदमी हुए हैं इसी तरह से याद रही है उनके संदेश की, उनके पैगाम की। तो क्या हम सीखते हैं इस जमाने से जिस पर इतना बड़ा असर मालवीय जी ने डाला। कुछ मैं ने उसको आप के सामने रखने की कोशिश की। फिर से कहना चाहता हूँ कि आप के यहाँ—बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी इसका नाम है और ठीक है—यह पुरानी संस्कृति वगैरह इसका विशेष काम है, उसके तरफ ध्यान दें लोग सीखें-समझें। लेकिन अगर उस संस्कृति को आप ने एक तंगख्याली से देखा, तंगख्याली से चले और आप ने वजाय जोड़ने के अपने को अलग किया औरों से जो हिन्दू न हों या जिनकी कुछ संस्कृति और हो तो आप उस भारतीय संस्कृति के साथ ना इंसाफी करेंगे; क्योंकि असल संस्कृति जो भारत की है वह अलग की नहीं है मिलने की है, जोड़ने की है और दरवाजे-खिड़कियाँ दिमाग के खोलने की है। इसलिये आप यहाँ इस संस्कृति का अध्ययन करें, लेकिन इस तरह से कि आप दिखाइए कि वह चीज खास एक सम्प्रदाय की नहीं है बल्कि दुनिया की चीज है और विशेषकर भारत में जो अनेकता है उसको मिलाती है, उसको और अलग नहीं रखती। हम अलग हैं और लोग अलग हैं तब आप भारत की सेवा ठीक नहीं कर सकते हैं।

तो मैंने इधर-उधर के विचार आपके सामने रखे जो मेरे मन में आते थे। कुछ जब मैं सोचता हूँ मालवीय जी का या उस समय का जब वह एक बड़े जोरों से भारत में काम कर रहे थे और हम लोग भी उनके पीछे चलते थे, उन नेताओं के, और उससे कुछ सीखते थे और जो कुछ हम हैं उन्होंने ही बनाए। उन बातों को आप सोंचे, विचार करें। हमारे और आपके सामने कोई आसान रास्ता नहीं है। आप बच नहीं सकते। अगर आप आराम की जिन्दगी चाहें तो मैं नहीं दे सकता आपको, न कोई दे सकता है, क्योंकि जमाना आराम का नहीं है। एटामिक जमाने के दरवाजे पर हम हैं। जमाना ऐसा कि लड़ाई छिड़े, बड़ी लड़ाइयाँ हों। हम क्या करें? तो इसका मुकाबला करने के लिये जरा हमें भी अपने दिमाग को बढ़ाना है। जरा और समझना है इस दुनिया को। देश को सम्हालना है। शक्ति देनी है। और विशेषकर उन बातों को जो हमारी पुरानी संस्कृति, पुराने हमारे सिद्धान्त थे उनको याद करना है और ढंग से सामना करना है और आजकल के विज्ञान को भी लेके।

जो इस समय आपको मौका मिलता है सीखने का, पढ़ने का, अपने को तैयार करने का, अपने को एक तलवार बनाने का, एक दिमागी तलवार—मतलब यह नहीं कि तलवार

लेकर आप लड़ाई लड़ें जाके—लेकिन आप का मन, आपका शरीर एक तलवार से तेज हो काम करने के लिए, समझने के लिए और जो-जो गांठे हों उनको, उन गांठों को काटने के लिए। तब आप मैदान में कूदिए जोर से। अगर आप इस समय से लाभ नहीं उठाते तो ऐसा समय, जो दुबारा नहीं आता किसी के जीवन में, उसको जाया कर देते हैं, और यह अफसोस की बात होती है।

आपके सामने इस विश्वविद्यालय में हर वक्त मालवीय जी की याद होनी चाहिए, मालवीय जी के काम की और उन्होंने जो कामयाबी हासिल की, सफलता हासिल की, उस काम में और आप अपने मन से विचार करके सोंचिए कि आपको किस रास्ते पर चलना है। लेकिन जो भी रास्ता हो कुछ बुनियादी बातें होती हैं जो कि हर रास्ते में होनी चाहिए। और वह बुनियादी बातें आप हमारे बुजुर्गों से सीख सकते हैं—मालवीय जी हैं, गांधी जी हैं—उनसे सीख सकते हैं। फिर आप उन बातों को याद रख के आप जो रास्ता चाहें उस पर चलिए। इस तरह से आप इस शताब्दी को मनाएँ तो आप अपने को भी बनाएँगे और देश के बनाने में भी मदद करेंगे।

जयहिन्द।

---

[1] पं० महामना मदनमोहन मालवीय जन्मशती समारोह के शुभ अवसर पर टेप-रेकार्डर द्वारा लिया गया पंडित जवाहर लाल नेहरू का अविकल व्याख्यान

—बी० एच० यू० गजेट के सौजन्य से
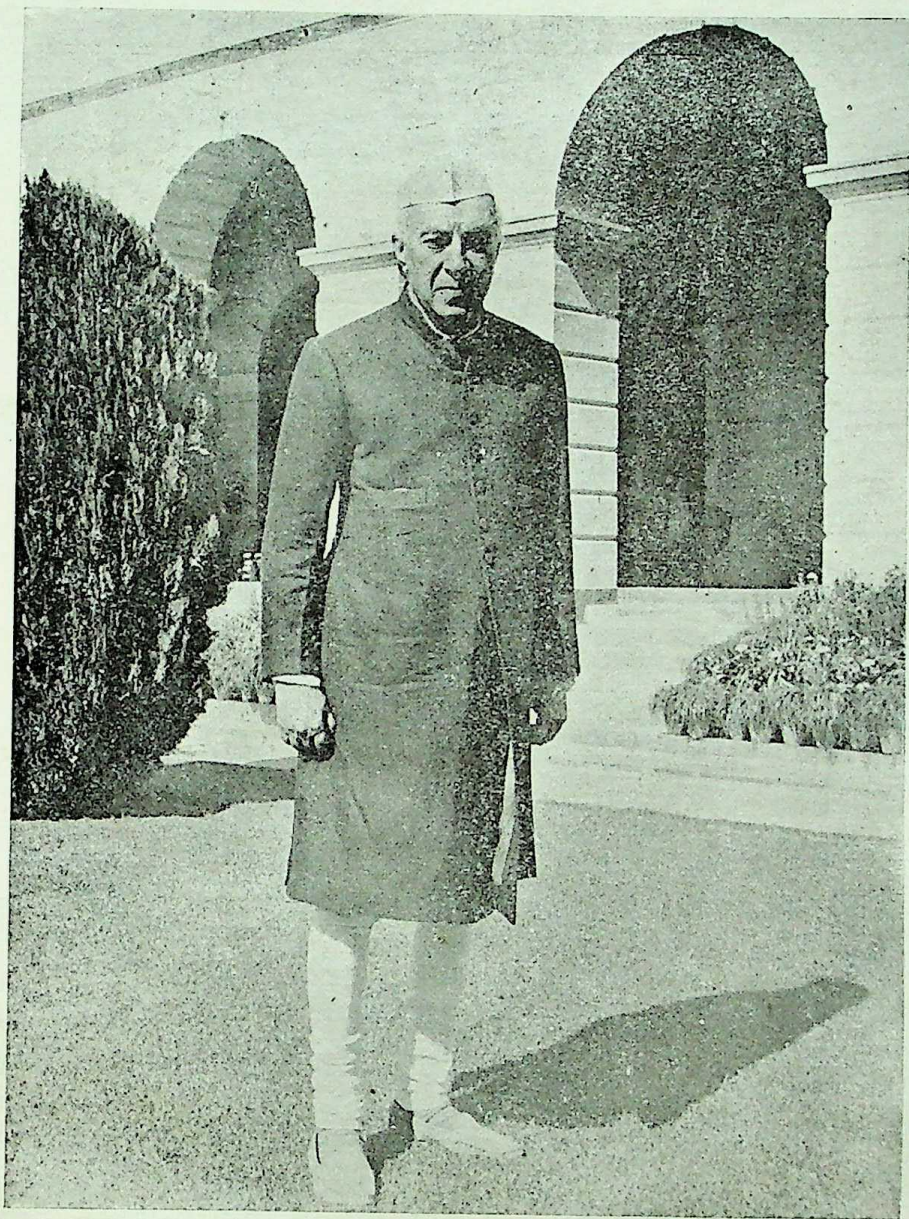
पण्डित नेहरू अपने उद्यान में
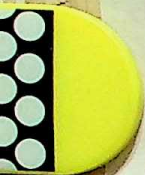
अनुस्मृतिः

रामचन्द्रशास्त्री भारद्वाजः

अध्यक्षः—संस्कृतमहाविद्यालयः
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः

श्रीमोतीलालदम्पत्योस्तपस्संपत्फलायितम् ।
कौलवंशोद्भवं रत्नमनर्घमतिसुन्दरम् ॥१॥

विनीतं बहुविद्यासु कमलागृहमेधिनम् ।
विनूतने वयस्येव श्रितगान्धिमहोदयम् ॥२॥

वैदेशिकपराधीनभारतोन्मोचने रतम् ।
तृणीकृतस्वपित्र्यादिरिक्थसन्दोहमञ्जसा ॥३॥

स्वातन्त्र्यफलसंग्रामनासीरप्रष्ठमुत्सुकम् ।
राजाधिराजसम्मान्यराज्यतन्त्रविशारदम् ॥४॥

आस्वातन्त्र्यान्निर्वहन्तं धुरां राज्यस्य लीलया ।
वरिष्ठं मन्त्रिमुख्यानां विश्वसौहार्दकांक्षिणम् ॥५॥

भारतस्य समुन्नत्यै दारिद्र्यदलनाय च ।
निद्राहारावपि त्यक्त्वा यतमानमहर्निशम् ॥६॥

विश्वशान्त्यग्रदूतं तं वाचोयुक्तिपटूत्तमम् ।
विश्वघस्मरशस्त्रौघनिर्माणविनिवारणम् ॥७॥

विश्वाडम्बरमहायुद्धवार्तयाप्यतिदुःखितम् ।
आयोधनार्थसंभारसज्जीकृतिविरोधिनम् ॥८॥

प्रतिद्वन्द्विमनोवृत्तियुतेषु दलबन्धिषु ।
प्रबलेष्वपि राष्ट्रेषु विनिर्बध्नत्सु नैकधा ॥९॥

माध्यस्थ्यमेव मन्वानं राष्ट्रस्यास्य हितावहम् ।
निश्चित्य जनतासौख्यं पुमर्थं परमं स्वकम् ॥१०॥

श्राम्यन्तं सततं तस्मै दश सप्त च हायनान् ।
अध्यक्षैरपि राष्ट्राणामर्हणीयेषु सत्तमम् ॥११॥

शतधा शकलीकृत्या खिद्यन्तीं भारतप्रसूम् ।
विरोपयन्समग्राङ्गीं कुर्वाणं बलबृंहिताम् ॥१२॥

श्रीमज्जवाहरं लालमात्मजं कर्मयोगिनम् ।
अगणेयगुणग्राममसोमोत्प्राप्य याऽनिशम् ॥१३॥

वीरसूरिति यान्वर्थसंज्ञया जुघुषे भुवि ।
सा भरतप्रसूरद्य परलोकमितं सुतम् ॥१४॥

स्मारं स्मारमविच्छिन्नधाराप्रवहदश्रुभिः ।
क्रन्दन्ती नास्य शोकस्य पारं परमुदीक्षते ॥१५॥

नान्तोस्ति पुत्रदुःखस्य मातुरित्यभिचक्षते ।
अमृष्यदुःखसन्तप्तां सतीं भारतमातरम् ॥१६॥

सर्वार्तिहारी भगवान् करुणावरुणालयः ।
पयादपायादखिलात्तरुणेन्दुशिखामणिः ॥१७॥

X (1)

OUR OBLIGATION

SURINDER JETLEY,
Department of Political Science and Sociology

It lies as an obligation for the present generation to leave for posterity, an objective record of the life of one of the Greatest of men of our times, and yet how difficult it is for us, who lived under the very shadow of his magnetic personality, his almost omnipotent influence and unchallanged poltical supremacy, to be objective. Any assessment of the man, would be coloured mostly by a habit he gave to us—a habit of looking up to him for all troubles, and satisfied by the solutions he gave. It can be anything but cold evaluation. Still the obligation is with us and we cannot shirk it. We may wait for a few years to let the first flood of emotions pass, to think more reasonably and in a detached manner.

The first decade of Nehru's life was spent without a companion of his age, which left a deep imprint on him and loneliness formed the deeper level of his personality content, though this may have in turn been responsible for his craving for meeting people—to be in the crowd. Nehru lived under the assertive personality of his father and it continued to shape him, till the encounter with the Mahatama brought a turning point in his life. It was after he had been conditioned by these two, Nehru admits, that he met another of our illustrious men of this age—Rabindra Nath. Gandhiji's pruning fingers were deft to pick up this assertive shy, westernized youth, 'a hangover' from Harrow and Cambridge and shaped him by filling him with a fervent desire for Freedom and a hard resolve to achieve it. Still we find that Nehru did never become a mouthpiece of the personality which most influenced him. He always matched his rationale with Gandhiji's intuitive idealism, his own modern world view with his revivalism. We find that after Gandhiji's death, Nehru translating his own views with a far greater speed than he could ever do while the master was living.

Nehru's private Tutor, Brooks deserves the claim of kindling in the boy a taste for reading, a persistent curosity in science, and love for the English Language. They say, probably he thought in English. Perhaps this gave him in turn, a cosmopolitan outlook, which very often irritated his fellowmen. His concern with the world around, sometime was criticised as there was so much to accupy his attention at home. But he kept wider interests before him and a broad outlook of mind. His struggle for Independence along with the other stalwarts against the British, never influenced him in any way to hate Britishers as such. Some of his best friends among foriegners, were British.

Nehru's first formative years of life were spent abroad and this perhaps explains his wonderful capacity of adjustment. But he inherited from his father the assertive tendency of outshining everywhere. He towered above his fellowmen and they let him do it out of sheer love of the leader and he sometime took advantage of the blind love and faith of the people—in which lay his strength. For a long time in the recent history of India, his pervading influence dwarfed men with the result that today we have a man as the present Prime Minister, who though possessed of a very virtuous and honest record, has been chosen because of his close conformity to Nehru's views, and an unconscious belief that his election may give peace to the departed soul.

For all his weaknesses and failures his "Banayan Tree" quality and Caesarian label, he was loved and respected by his countrymen, as a Great man, a Great leader and a Great architect of the Indian Nation. The Epitaph be wrote of himself a decade before his death shows his deep love towards his countrymen. Perhaps, for many generations to come, there will not be so lovable a leader. It may seem a prevision, its truth will be found only with time. His one great desire was to be well remembered by his people and that they will do—for a considerably long time. His testament to the nation added a last graceful touch to the picture built for him, when he desired to be an indistinguishable

part of India. For nearly half a century he plunged himself completely into the building up of India and then died in harness. His love for the people was too intoxicating and powerful. After him, we find fear and hesitation to step into his shoes lest the powerful 'Mana' of the strong soul may prove too strong for the digestion of weaker men! A persistence of the blind loyalty to the departed leader can be seen in all the committees and counsels. It will take some time before Nehru will be understood and interpreted in a better way. It will be only then that the people will realise that he would have never liked them to have agreed with him over time and space. He was too much of a democrat to expect that. Even when he was voicing his own opinions and ideas as country's policies he described them as People's "democratic urges". Nevertheless Nehru was to India a source of strength and in his absence we have become for a time at least, a ship without a rudder.

INFLUENCE OF BUDHISM ON NEHRU

DR. N. H. SAMTANI,
College of Indology.

Our late beloved Prime Minister Shri Jawharlal Nehru was not a religious man in the sense that he did not believe in any religious dogma. No religion attracted him for it is generally associated with superstitious practices, dogmatic beliefs, uncritical credulousness and unscientific approach towards life's problems. Nonetheless Nehru was neither irreligious nor anti-religious. He acknowledges that "it had produced many fine types of men and women, as well as bigoted, narrow minded, cruel tyrants. It had given a set of values to human life, and though some of these values had no application today, or were even harmful, others were still the foundation of morality and ethics"[1].

Nehru was attracted towards finer things in religion. And in this respect, Buddhism has played no mean role in influencing him. Especially in the evening of his life the influence of Buddhism was marked in his utterances and actions. The active role he played in the celebrations of the 2500th Buddha Jayanti in 1956 was the evidence of it. It is said that once he confided to a friend, "No other religion attracts me, but if I had to choose it would certainly be Buddhism"[2]. He was especially drawn towards its rational approach, its stress on free will, its contempt for superstitious and ritual and its message of Non-violence.

Real Bodhisattva :

Nehru was not a Buddhist. He was a Brahmin by birth. But he was a real *Bodhisattva* who worked for the well being of his people, nay the whole world, till the last breath of his life.

[1] *The Discovery of India* P. 12 (Published by Merdian Books Limited, 8 Garrick Street, London-W.C.2(1960).

[2] M. Brecher : *Nehru : A Political Biography* P. 606.

It is said in the Buddhist scriptures that a *bodhisattva* refuses to enter *Nirvana* till the last man on the earth has obtained liberation. It seemed Nehru also refused to take rest till the last tear on the human face was wiped out. It was Nehru and Nehru alone who could raise the solgan of *Ārām Harām Hai* (Rest is taboo), whose life was a living example of it. Born with a sliver spoon in his mouth, blessed with all the luxuries that life could give him, he purposely chose the life of strenuous work and struggle. Before independence, he fought with foreign rule and after independence, he fought against hardles in the raising of India of his dreams.

Budhha at his Bedside

In this article I am going to quote profusely from Nehru's two major works '*Autobiography*' and '*The Discovery of India*' to show how powerfully he was influenced by the Buddha and Buddhism in his life. The very fact that till his last breath he kept the picture of Buddha at his bedside goes to show the deep reverence he had for the Buddha in the innermost recesses of his heart.

Early Days :

In his 'Autobiography[1] he tells us that his tutor Mr. F. T. Brooks developed in him a taste for reading and theosophical studies. *Dhammapada*, a Buddhist anthology was one of the books which was referred to or discussed in the talks. In *The Discovery of India* he writes, "The Buddha story attracted me even in early boyhood, and I was drawn to the young Siddhartha who, after inner struggle and pain and torment, was to develop into the Buddha. Edwin Arnold's '*The Light of Asia*' became one of my favourite books. In the later years when I travelled about a great deal in my province, I liked to visit many places connected with the Buddha legend, sometimes making a detour for the purpose"[2].

[1] J. Nehru : *An Autobiography* (Bidely Head, London 1953) P. 15

[2] J. Nehru : *The Discovery of India* P. 120.

Later this interest in Buddhism had still grown more. The places connected with the Buddha had a special charm for Nehru. Writing about the panorama of India's past in *The Discovery of India*, he writes, "Hundreds of vivid pictures of the past filled my mind, and they would stand as soon as I visited a particular place associated with them. At Sārnāth, near Benares, I would almost see the Buddha preaching his first sermon, and some of his recorded words would come like a distant echo to me through two thousand five hundred years. Asoka's pillars of stone with their inscriptions would speak to me in their magnificent language and tell me of a man who, though an emperor, was greater than any king or emperor".[1]

Young Nehru full of KARUṆĀ (Compassion):

It cannot be said that Buddhism had directly influenced Nehru to be full of compassion which is the key note of Buddha's teaching. But the future Prime Minister of independent India and the champion of the World-without-War had in the early days soft feelings towards animals also, In his *Autobiography* writing about 'shikār' he says, "I indulged in some diversions like 'shikār' but had no special aptitude or inclinaion for it. I liked the outings in the jungle and cared little for the killing. Indeed my reputation was a singularly bloodless one, although I have succeeded, more or less by a fluke, in killing a bear in Kashmir.. An incident with a little antelope damped even the little ardour that I possessed for shikār. This harmless little animal fell down at my feet, wounded to death, and looked up at me with its great big eyes full of tears. Those eyes have often haunted me since".[2]

Nehru in Ceylon:

Nehru visited many Buddhist countries after independence. But early during the struggle of Independence, he went to Ceylon with his wife Kamalā and daughter Indirā for a peaceful holiday. Ceylon, the centre of Buddhism, attracted him very

---

[1] Ibid P. 39.

[2] *Autobiography* P. 30.

much. The sight of Buddha's statue creates vivid memories of past in him. He writes in his *Autobiography*. "We visited many of the famous sights of historical ruins of island and Buddhist monasteries and the rich tropical forests. At ānurodhpura, I liked greatly an old statue of the Buddha. A year later, when I was in Dherādun Jail, a friend in Ceylon sent me a picture of this statue, and I kept it on my table in my cell. It became a precious companion for me, and the strong, calm features of Buddha's statue soothed me and gave me strength and helped me to overcome many a period of depression".

"Buddha", writes Nehru further in his *Autobiography*, "always has had a great appeal for me. It is difficult for me to analyse this appeal, but it is not a religious appeal, and I am not interested in dogmas that have grown up round Buddhism It is the personality that has drawn me. So also the personality of Christ attracted me".[1]

Buddhist Bhikshus :

Speaking about Buddhist monks, Nehru says, "I saw many Buddhist Bhikshus (monks) in their monasteries and on the high ways, meeting with respect wherever they went. The dominant expression of almost all of them was one of peace and calm, a strange detachment from the cares of the world. They did not have intellectual faces, as a rule, and there was no trace of fierce conflicts of the mind on their countenances. Life seemed to be for them a smooth flowing river moving slowly to the great ocean. I looked at them with some envy, with just a faint yearning for a heaven, but I knew well enough that my lot was a different one, cast in storms and tempests. There was to be no heaven for me, for the tempests within me were as stormy as those outside. And if per chance I found myself in safe harbour, protected from the fury of the winds, would be contented or happy there ?" asks Nehru in the end in his characteristic style[2].

---

[1] P. 272.

[2] *Ibid* pp. 272.

Visit to Buddhist Countries :

Speaking of some foreign Buddhist conntries in different vein, he writes in *The Discovery of India*, "When I visited countries where Buddhism is still a living and dominant faith, I went to see the temples and the monasteries and met monks and laymen, and tried to make out what Buddhism had done to the people. How had it influenced them, what impress had it left on their minds and faces, how did they react to modern life? There was much I did not like. The rational ethical doctrine had become overlaid with so much verbiage, so much ceremonial, canon law, in spite of the Buddha, metaphysical doctrine and even magic. Despite Buddha's warning, they had deified him, and his huge images, in the temples and elsewhere looked down upon me and I wondered what he would have thought. Many of the monks were ignorant persons, rather conceited and demanding obeisance if not to themselves then to their vestments[1]".

But that is not the complete picture. Nehru saw in these Buddhist countries many good things also which he had liked. He writes, " There was an atmosphere of peaceful study and contemplation in some of the monasteries and the schools attached to them. There was a look of peace and calm on the faces of many of the monks, a dignity, a gentleness, an air of detachment and freedom from the cares of the world". And this all sends Nehru in questioning mood. He characteristically asks, "Did all this accord with life today, or was it a mere escape from it ? Could it not be fitted into life's ceaseless struggle and so tone down the vulgarity and acquisitiveness and violence that afflict us ?"[2]

Buddha's Immortal Message :

Buddha's message has a strong appeal to Nehru for its simplicity and directness. He writes, "For more than debates and arguments, of which India has always been so enamoured,

[1] *The Discovery of India* P. 120.

[2] *Ibid* p. 120.

the personality of tremendous and radiant being had impressed the people and his memory was fresh in their minds. His message, old and yet very new and original for those immersed in metaphysical subtleties, captured the imagination of the intellectuals; it went deep down into the hearts of the people. 'Go into all lands, had said the Buddha to his disciples, 'and preach this gospel. Tell them that the poor and the lowly, the rich and the high, are all one, and that all castes unite in this religion as do the rivers in the sea'. His message was one of universal benevolence, of love for all. For, 'Never in this world does hatred cease by hatred; hatred ceases by love'. And 'Let a man overcome anger by kindness, evil by good'[1].

Pessimism and Buddha:

The charge often levelled against Buddhism is that it is a religion of pessimism. But to Nehru, when he thinks of the Buddha, no such feelings arise. For, he cannot imagine that a religion based on passivity and pessimism could have had such a powerful hold on a vast number of human beings, among them were the most gifted of their kind.[3]

Buddha's Image:

As stated above Nehru is powerfully influenced by Buddha's personality who symbolises the spirit of Indian thought. Buddha's image or statue or portrait sends Nehru into raptures. The pen picture that he draws of the meditating Buddha in *The Discovery of India* is one of the masterpieces of his literary style. I cannot withhold the temptation of reproducing it verbatim :—

"Seated on the lotus flower, calm and impassive, above passion and desire, beyond the storm and strife of this world, so far away he seems, out of reach, unattainable. Yet again we look and behind those still, unmoving features there is a passion

[1] *Ibid* P. 117.

[2] *Ibid* P. 121.

and emotion, strange and more powerful than the passions and emotions we have known. His eyes are closed, but some power of the spirit looks out of them and a vital energy fills the frame. The ages roll by and Buddha seems not so far away after all; his voice whispers in our ears and tells us not to run away from the struggle but, calm eyed, to face it and to see in life ever greater opportunites for growth and advancement".[1]

Rightly in the end of that masterpiece of his prose he quotes a foreign author who has described Buddha as the 'finished model of calm and sweet majesty' and Nehru proudly remarks in the end.

"And the nation and the race which can produce such a magnificent type must have deep reserves of wisdom and inner strength".[2]

---

[1] *The Discovery of India* P. 121.

[2] *Ibid* p. 121.

NEHRU AS WE THOUGHT OF HIM

By

Dr. K. P. SRIVASTAVA,

Department of Zoology

If there was a man of the people and for the people he was Jawaharlal Nehru, a name which had a collective identity not only with the 40 crores of Indians but with the suffering millions of the world at large. One of the provoking statesmen of our times but perhaps the most honestly understood man, westernized in outlook yet oriental at heart, progressive but deeply wedded to the past heritage, the busiest man of the world yet with time enough to play cricket, write to a school-girl in California, read a poem or address a gathering of students. Such was his personality—conflicting within itself but so forceful in combined effect that it could change the destiny of man from a path of war and destruction to that of peace and co-existence. It is natural, therefore, that the end of such a man should come to mean the end of an epoch in the history of humanity.

Now that he is gone, we assess him, his life and works and as we do so we marvel at the qualities that constituted his personality. What was in him that caused so much of grief in so many hearts in so many countries ? What was in him that made the Capitalists and the Communists, who have gulf of differences in their ideologies, regard him equally well ? What was in him, a man born brought up and preferring to live in aristocracy, that hypnotised the masses to run behind him in adoration ? And again, what was in him that made the convicts and the beggars, the two incorrigibles of society, fast on his death and contribute funds towards his memorial ? The answer to all this is difficult for men like Nehru have something divine in them which can more be felt than described. Neverthe-less, one feels tempted to eulogise him if only for the privilege of being associated with his name even though one knows that no amount of words could exactly and completely depict what he was.

The most outstanding quality that Nehru possessed was the quality of his heart. Our world to-day is full of men who are waiting in readiness to annihilate it, for the fact is that man by instinct is a killer, an animal. Perhaps he has not yet reached the stage where he could rightly be called a human being. A human is one who has a humane heart and Nehru was indeed one who possessed it intensely ; he was sensitive to the pains and sufferings of others and ready to alleviate them. He loved man as a product of creation and not as one belonging to this country or that. A conflict in Korea or in Congo would draw his sympathies as much as a trouble in any part of India. In fact he always felt the burden of the world problems on his own shoulders as if the world belonged to him or better still, he belonged to the world. It was this quality of universal brotherhood that bound him to every heart and when death broke the bond, people felt the pang of it. In India, he had come so close to the common man that the latter regarded him not as a Prime Minister but as Nehru, the man who had championed his cause all his life, who stood by him in all his adversities inside the jail, under the shower of the Imperialists' *lathies* under all his personal losses and who ultimately put the ashes of his body into the soil in which he toils day in and day out. And thus, as long as he lived, Nehru ruled the hearts of the masses like a crownless king but with a difference—the kingship being replaced by a strange kinship that made him truly belong to the commoner.

Nehru was a queer synthesis of old and new inspite of his apparent modern outlook. The old was so old that it belonged to the early history of India itself, to the times of her wise sages who laid the foundations of her philosophy, culture and civilization. He dreamt of an India which was modern, advanced in science and technology but he was more than reluctant to lose touch of the past heritage which has sustained her throughout the centuries of subjugation, change and turmoil. To lose touch of such a past, he believed, would be to lose touch of India's spirit, her wisdom, her culture, her

civilization. And so he strove to bring about a synthesis of the old and the new to evolve such an India where spiritualism and materialism could develop hand in hand . At the same time the *new* in him was so new that he could well be said to have been living much ahead of the times, in an age of disarmament, of '*Panchsheel*, and of One World Government. It was not surprising, therefore, to have misunderstood and misinterpreted many of his actions and statements when they could not be accounted for in terms of the present.

Many people live longer than Nehru but not all are left with the same zeal and exuberance that made him the symbol of eternal youth. He never seemed to be growing old. To know the secrets of his youthfulness, one has to reflect a little over why one grows old. We begin to grow old when we stop learning. We begin to grow old when we stop being interested. We begin to grow old when we stop using our body. There is, however, no physiological age at which we must stop all activity. Hence, there is no age at which we must grow old. Nehru knew the secret of this truth as he was constantly learning, taking interest almost in everything around him and using his body to the utmost. This added life to his years and not merely years to his life. Besides, he had a philosophy of life that took notice of only the brighter aspects of things which kept his mind unpolluted and healthy and a healthy mind could not but have a healthy body. Mixed with this youthfulness was his dominating spirit of adventure which he seemed to have inherited in good measure from his ancestors, in asmuch as his father had ventured to send him, his only son, across the seas at a time and age when many parents would not consider their sons fit even to take a railway journey. It was this spirit that made Nehru enjoy his mule-journey to Laddākh as much as a bath in the sea or a holiday in Kulu, that sustained him in his marathon tours of the places inaccessible in the early thirties carrying the message of India. This sustained him wonderfully well as the Premier of a newly emerged India. The magnitude of the burden that lay on him all these seventeen

years becomes evident when we find our present Prime Minister, sixteen years junior to Nehru, breaking down only after one month of the taking over.

There may be many people endowed with a sharp intellect but not many with a good face and inside it a golden tongue too. He was soft-spoken, polite and courteous even to his personal staff. His humility and tolerance were exemplary. He weilded almost dictatorial powers in the Congress and the country but he never utilized dictatorial methods of liquidating those who differed from him in or outside the Parliament. The M.Ps. naturally wept and said while condoling his death, "If only we had known that Panditji would leave us so soon, we would have begged his pardon for many a harsh words we used against him in the Parliament". The equlibrium of mind was Nehru's another enviable asset. When others around him lost their heads, he kept his composed and serene. Not long ago we had nothing but abuses for our neighbours like Pakistan and China. But Nehru was still the only one who was using words of civility and moderation. The reason was not his policy of appeasement as many of us attributed to him, but it was his sheer gentlemanliness. He was born and brought up in the best traditions of liberalism and democracy and therefore, he could not help being a gentleman, come what may.

Thus like a diamond, Nehru's personality was a multi-facetted one, the facets multiplying at every change of the viewer's angle of vision. Whereas a diamonds' brilliance is a borrowed one, Nehru's was not only original but was thoroughly inductive. And now to the misfortune of us all, that diamond is lost. Yet, its brilliance still remains to bring us out of the darkness that surrounds us to-day . The rose that was an inseparable part of Nehru has withered, yet its fragrance remains to soothe our nerves in times of despair. The life that was aflame in him only a short while ago is now extinguished but the ashes remain to convey to posterity the message of peace, co-existence and human dignity.........

PANDITJI AT ŚANTINIKETAN

Dr. S. BHATTACHARYA,
Professor of Sanskrit

Visva-bharati becomes a Central University

In 1902 the hermitage of Maharshi Devendranath Tagore, Santiniketan, was converted by his son, Gurudeva Rabindranath, into an educational institution to produce the "full man". But the dream of a poet was confronted from the beginning by economic stringency. In the movement against the partition of Bengal in the year 1905, the role of Rabindranath was not insignificant although he did not descend to active politics. Through his songs and writings and also through his personal contact with Mahatma Gandhi, Rabindranath kindled the flame of revolutionary patriotism and created a psychological climate in the country, resulting eventually into a mass movement against foreign domination. Naturally the poet and his institution had never basked under royal patronage. So the struggle for the bare existence of his mental idol was a lonely fight. When, therefore, the award of the Nobel Prize was communicated to him, he heaved a sigh of relief that some essential requirements which brook no further delay could now be met, including some repairs to the structures that would otherwise crumble into ruins. In the meantime as his vision was taking shape, new departments of knowledge were being brought into existence and the gap between financial requirement and academic growth was constantly widening. His personal purse based upon the income of his Zemindari in East Bengal could no longer cope with it. In desperation, Tagore took out a dance-drama troupe to go round the country to collect funds for the institution that was now gasping for breath. This was too much for Mahatmaji to see his Gurudeva like this in advanced age. The money required for tiding over the emergency was secured and with a light heart Tagore returned to his land of dream, Santiniketan.

As long as Rabindranath was alive, the institution was a constant burden on his mind. Before leaving this world, he laid his holy charge on Mahatmaji. It was Gurudeva's last wish. After his return from South Africa, Mahatmaji had located an institution of his own in Santiniketan for some time. This was the occasion when the two institutions, Santiniketan and his own, had blended into one in his mind and the last wish of Gurudeva to his spiritual disciple only stimulated a formal acceptance.

But Mahatmaji could not live long to fulfil the pious charge. It therefore devolved upon Pandit Jawaharlal Nehru to see it through. The association of Panditji with Mahatmaji and Gurudeva was long-standing. All three were together in Santiniketan many a time before. Young Jawaharlal was a witness to what transpired between Tagore and Gandhi. He naturally shared their worries and visions. So his mind was fully prepared when Gandhiji passed the unfulfilled desire of Gurudeva on to Pandit Nehru and Panditji treasured it as his first obligation.

India achieved independence in 1947. Rathindranath, the only son of Tagore, could no longer run the institution. Frantically he ran to Delhi to place facts at the disposal of Panditji. In right earnest the Central Legislature passed the Visva-bharati Bill, recognized the poet's dream as an institution of national importance and Visva-bharati was converted into a Central University in 1951. The Government of India guaranteed its financial stability and the struggle for material existence came to its end for ever.

Now that Tagore was gone, Visva-bharati, vested with a new dignity, needed a dynamic leader imbued with the founder's ideals for its academic prosperity. Panditji was unanimously elected as the Acharya, the Chancellor. Now that the project is on strong financial grounds, the ideals of Tagore have to be realized under his stewardship. Panditji accepted the offer, in spite of his tremendous commitments in other directions.

And, to the last breath of his life, he worked for it. Ungrudgingly he took all pains for its well-being and yet always complained against himself for doing so little for such a noble institution. For him, no post was bigger than the stewardship of Visva-bharati and if he could be spared he very much wanted to spend the rest of his life at Santiniketan, the abode of peace, the hermitage hallowed by the presence and memory of his spiritual teachers, Gurudeva and Bapuji.

Acharya comes to Śantiniketan

As the undertone of all activity on the part of the students and workers (*karmin*) was the yearly expectency that Panditji, the Acharya of the Visva-bharati University, will come to Santiniketan. The Maharshi had founded his Ashram on the 7th of Pauṣa So, according to his Deed of Trust a three-day *pauṣa-melā* opened at the adjoining ground with a special prayer in the morning beneath the seven-leafed three (*sapta-parṇī*) where the Msharshi is believed to have had his consecration. Such a *melā* was conceived to serve as a venue for the sale of cottage industry goods and for the propagation of the village culture of Bengal, expressed through Kīrtan, Bāul, Yātrā and folk dance of the Santāls, in addition to the fireworks to amuse the simple rural folk. But as Visva-bharati changed into a Central University, the character of the *melā* changed with it. The annual Convocation synchronized with the festival and each enriched the other. Gorgeous stalls came into existence from all over India and the exquisite display of the fancy goods of modern civilization attracted people who are far from being rural. So the old and the new coalesced. But above all reigned the thought that Panditji will come and one will then have the rare privilege to see him from close quarters. Sorrow and disappointment would cast a pale shadow over the whole situation if there was a rumour that this year Panditji might be too pre-occupied to come. But he did come every year.

During the second World War at Panagarh a few miles away from Santiniketan an air-port was improvised by the United States military scheme. It has since been abandoned.

On the morning of the 7th of pauṣa the special plane of Panditji, *Meghadūta,* would touch down at the air-port. Under the strict vigilance of a Police army consisting of a few thousand strong and spread over the whole area from the air-port to Santiniketan, Panditji would drive in an open car of the University through the main road, surrounded, cheered and garlanded by persons from neighbouring villages. Panditji vehemently resented the Police arrangement. Was he a prisoner to be cordoned in this way ? So the red *Pāgris* had to be changed into plain clothes. They moved incognito Panditji entered Bolpur. Floral gates were erected to welcome him. Garlands became an unmanageable heap in the car. Panditji, exuberant with joy, threw them upon the kids on both sides. This is of course an ordinary sight. We therefore leave it at that......

Panditji reached the main entrance of Santiniketan. The children of the School (*Pāṭha-bhavana*) invaded his car and accorded him the first welcome with sandal paste on his forehead and garlands of the choicest flowers from the Uttarāyana garden over his shoulders. With childlike simplicity Panditji subjected himself to the caresses ; and with quite a few of them in the car closely clasping him, drove slowly on, amidst the cheers of thousands, towards Uttarāyana, the poet's residence. The car stopped at the front of the main building Udayana. Panditji alighted with folded hands. The resonance of the morning melody from *Sānāi* had mingled with the fragrance of roses and jesmines of the place. The atmosphere was saturated. Escorted by the Vice-Chancellor, Panditji entered Udayana.

Acharya discharges his official duties

The University has already chalked out his official duties. First, to preside over the meeting of the Court held a day before the Convocation. Annual Budget, Financial Estimate, Amendment to Statutes, Ordinances and Regulations, Election of representatives to the Executive Council, Courses and syllabii, the Resolutions of the Academic Council and the Executive

Council, Development plans and schemes—in fact, all transactions of the University are assessed and decisions are taken thereon. Panditji was furnished with a copy of the whole lot—a considerable bulk. He glanced over. The meeting commenced. The way he conducted the meeting bore testimony to the fact that he has not only scrutinized everything with attention but has also given sufficient thought to the whole issue. In fact, he was the master of the situation. With unique ease and penetration, he handled the affairs. The meeting came to its close without producing heat. His towering personality reigned over all. Over the mat studded with pillows, the supreme body of the University finished its job.

The next morning is the Convocation at the mango-grove. A streak of path runs through parallel rows of tall mango trees clasping one another in deep embrace and bearing witness to such functions from the vary inception of Santiniketan as an educational institution. The path ends in a small altar, a construction of bricks, that throughout the year serves as an open-air site for a class of the poet's School. It is now improvised into a dais with a few wooden cots covered with cloth prepared at Sriniketan for the purpose. On the left is the *śāl-vīthi* where the poet used to stroll in the morning after his early meditation and used to witness how the working of his institution started with morning prayers at *gaur-prāṅgaṇa* that skirts the *śāl-vīthi*. On the right of the dais, stands a few yards away the Santiniketan, the original guest house constructed by Maharshi for the residence of inquisitive souls who would come to his hermitage for meditation at the *Mandir* adjacent to it. Nearby is the *Sapta-parṇī-talā*, the ground for the consecration of Maharshi. The road from Uttarāyana is crossed at right angle by a tiny path *vakula-vīthi*, a way through *vakula* trees, leading up to the mango-grove where the Convocation is to be held. The Convocation ground has been cordoned with a rope forming into a rectangle with clean divisions of seating arrangements on mats for students, staff, guests and other people. The dais is fitted with mikes and arrangement for the relay of the preceedings of the Convocation.

At five minutes to eight, Panditji's car arrived at the *vakula-vīthi*. Over his shoulders lay with ease and grace the ceremonial dress, the yellow scarf. Instantly the ceremonial parade began. All stood up in reverential awe and silence. Embraced by thousand eager glances Panditji moved through the mango-grove with folded hands, reciprocating their sentiments. His face beamed with joy. The simple and sublime figure of Panditji seemed to lose its frontiers into infinitude.

With the chanting of Védic hymns and the affirmation of ideals, the Convocation began. Acharya presented to each of the successful students a twig from the seven-leafed tree. It was a formal recognition of their initiation to the new responsibility to hold up the flame, the ideals that Gurudeva stood and strove for throughout his life. "Accept this twig with all humility unto the depth of your heart. Nourish it to grow into a towering reality offering light and shade to humanity."

After the routine speech by the chief guest, Panditji would rise to speak. It would be a meandering through reminiscenses of the past and joyous anticipation of the future, cut across by the stress and strain of the present. He would begin : "The hope to be back to Santiniketan after a year has sweetened every step of my life. It is the elixir that keeps me going. Santiniketan is my annual pilgrimage. I feel here the living presence of Gurudeva in the atmosphere. Every thing is embalmed with his spiritual touch. I therefore rush to this place to rid myself of the humdrum of every day life and the agonies of the present age, to drink deep from the fountain of spiritual life that abounds in Santiniketan. The Védic hymns had sprung from the hermitage. Today's chanting leads me on to that life where the teacher and the taught lived together in the bosom of nature and evolved through the proper training of mind, body and spirit the whole man. It reminds one of the heavy responsibility of a teacher and the obligations of his students, which Gurudeva wanted to reincarnate in our age through the establishment of this noble institution. We just heard the affirmation of ideals : *yatra viśvaṁ bhavatyeka-nīḍam* where the entire world is settled

in a single nest. Throughout his life, Gurudeva fought relentlessly for the one-world concept, for universal fraternity welling forth from the vital spring of his universal love. Visva-bharati is the masterpiece of that master artist where he invited the whole world to give and to take, where none was to be refused as a stranger. The profound implications of this institution have to be realized. It is a medium for building up the whole man. I crave for this place for receiving again and again the lessons of universalism. Here the simplicity of life, the natural beauty of the surrounding and the spiritual fervour act on me. I pray let they be the inexhaustible sustenance of my life, and of the life of all who are essembled here. Let us overhaul our being with this spiritual bath.'

The Convocation ended with Védic hymns. Before his departure from Santiniketan, Panditji would hold a private sitting with the Vice-Chancellor over the future planning and progress of Visva-bharati.

Panditji indulges in small pleasures

After the Convocation Panditji was dragged by children under the shade of the cocoanut tree for a photograph. As the then Principal of the College of Post-Graduate Studies I had the privilege to be snapped with him along with the students obtaining Degrees, Sometimes the venue was the courtyard of the Post-Graduate College. Panditji would be literally covered by boys and girls who got at him without any reservation. I stood by his august personality seated upon a stool. Students sat at his feet. He held a few by the arms. I stood stiff, fully aware of the dignity and privilege of being by his side.

Panditji was moving round. I was informed that he was coming to visit the Post-Graduate College. I arranged the teachers to form into parallel rows at the front of the courtyard. Here came he with a smiling face and shook hands with each of the teachers. My job was to introduce them individually to him by name, status and the Department to which a teacher belonged. But I was so overwhelmed that I made chaos—utt-

ered the wrong name, gave the wrong status and mistook the Department as well. So complete was my confusion that it evoked laughter among the teachers. But with all seriousness at my command I continued my job. I had the private statisfaction that my confusion was harmless because Panditji would forget every thing the next moment, including me. But I did not realize then that it was another blunder to think like that. Years later, at Chandigarh during the session of the Inter-University Board I met Panditji. He picked me up in the crowd and said "Halo!". I bowed humbly and asked about his health. He met me with a counter-question : How is Visvabharati ?

Panditji invited the foreign students from almost all parts of the world to meet him over a cup of tea. Very softly he would be asking about their inconveniences. How did they like Santiniketan ? The students would be quite at home with him. They found in him one of their best friends.

Panditji invited children to see him. Provision had been made for fruits, biscuits and sweets. Many of them entered with bamboo sticks in their hands—one of the specialities of *Pauṣa-melā*, that caught the fancy of all from the kids to the invalid. Panditji would seize upon one of those and throw the guantlet for an open fight. In a moment the courtyard of Uttarāyana would be transformed into a battlefield with Panditji as the ring-leader. But kids get tired. Panditji gave them eatables. Then the battle resumed, now with pillows. He would throw them into the air and there was a race to catch them. Panditji himself was a contestant. The victorious would get special eatables. Panditji always lost the contest because he had to be the donor.

Panditji received an invitation in return from the children that he must accompany them to the merry-go-ground at the *melā* ground. With appropriate grace Panditji accepted it. The news spread like wild fire. As the Secretary of the *melā*, I ran to the spot to attend on him at the ground. In the morn-

ing I had conducted the prayers at the *Sapta-parṇī-talā*, at noon had been in the meeting of the Court ; and before I could hardly change my clothes came the call to be present at the *melā* ground. Before I could reach, Panditji's jeep had entered the *melā* ground with kids hanging round him and gave a round through the open space reserved for the sports, along the stalls and the big sweet shops set in a rectangle. I gasped to contact him. But by then he was comfortably seated in the merry-go-round in the good company of kids. The action began. He was the most boisterous among all, making all sorts of voices. We broke into peels of laughter. Panditji nodded. By his gesture he was telling us that he was capable of a feat which none of us could venture to do, at least with his age.

At dinner in the evening I met Panditji again. The Vice-Chancellor was seated opposite to Panditji by the side of the District Magistrate. Bananas were among the fruits to be taken after the major items. The Vice-Chancellor entered into a serious discussion with the D. M. on the idioms of a language. To illustrate his point, he said, "If I say, 'have a banana' this is perfectly polite. But if I translate the same thing in Bengali and say '*kalā khāo*', it will mean 'go to dogs'." At the coffee after the dinner in the adjacent drawing room, Panditji was personally chatting to every body. After the whole day's programme, he looked tired. The wife of the Vice-Chancellor softly put in a suggestion : Panditji, you are getting late. You have to run a second programme from early morning next day. The Vice-Chancellor interjected : "Never mind, Panditji. I am used to it. Now she is trying the same on you !".

But Panditji could not be bound down to a programme. At dawn he could be found taking a stroll at the front rose-garden of the Uttrarāyana. Suddenly he would dash to Śriniketan to see how the cows and bulls of Sriniketan were flourishing. He would slip into the neighbouring village of Goālpārā. He was delighted to see the ducks and the chickens fluttering about by the side of the village primary school. Gurudeva's programme of rural reconstruction flashes before his mind's eye.

His gaze recedes to the distant horizon, to the dawn of new India. He recollects himself and says, "Now let us go".

The sequel

Panditji will leave Santiniketan today. Fatigue and gloom have pervaded every mind. Early morning at the front of Uttarāyana the workers of Santiniketan and Sriniketan have assembled in parallel rows to bid him farewell. The morning sun had percolated into the courtyard through the straightlines of the cocoanut leaves and had created an illusion of decoration with sandal paste. The *Sānāi* had created a flood of music, accentuated with floral fragrance. The front floor of Udayanana put on a grand mosaic with artistic figures from the girls of the School of Painting of the University. The whole situation was caught up in perfect harmony with the adjacent drawing-room pictures from the master hand of Gurudeva, suspended against the walls in simple frames.

With folded hands Panditji appeared before the eager workers, ready for departure. He stood for a moment upon the mosaic, cast a surveying glance at the crowd and then at the enviroment, begged assent with a smile from the Vice-Chancellor and then slowly moved onward, shaking hands with every body on both the rows. He stepped forward and then came in the midst of the boys and girls of Santiniketan. He had already been profusely garlanded, with a budding rose at his button hole. In ecstasy, they shouted "*Panditji kī jai*". He looked at them wistfully. His heart went out to congratulate them, to communicate to them how happy he was in their company. Silently he boarded the car waiting at the gate of Uttarāyana, escorted by the Vice-Chancellor and a few others. He drove slowly upon the road of red sand, a permanent charm for Gurudeva, leading up to the metalled road of the district board off the main gate. On both the sides stood the boys and girls of the School, the darling of the Poet. They stood singing the Āshram choir: "Our Santiniketan, the darling of our hearts. Wherever we might be rambling, Santiniketan abides by us. There

is a spell in the environment ; it plays upon the vital chord of our lives. Here life has embraced life. Here brother has found his brother. All are united here in one life." Panditji was thoroughly saturated. He looked sublime and grave. The car arrived at the main gate. Panditji looked back. What he scanned I do not know. The car drove on, now with speed.

Panagarh air-port. With good-bye to every body, he boarded the plane with slow and dignified pace. He stood again with folded hands at the door. Slowly the door closed. The gang-way was taken off. The plane was in action. *Meghadūta* took a way the angel from us. With heavy hearts we returned to Santiniketan. The music of the *sānāi* greeted us ; but was it the same music ?

———

THE POLITICAL IDEAS OF JAWAHARLAL NEHRU

Dr. K. V. RAO
Professor of Political Science

The world has seen many great men who swayed it with their ideas, and the world will see many more. But what is unique in Jawaharlal is that he is one of those rare people who had developed their ideas slowly and firmly and stood steadfast by them all their lives. Winston Churchill wavered, Lenin deviated from his doctrines, Stalin readjusted them to capitalistic encirclement, and even Mahatma Gandhi changed his ideas and beliefs from time to time. It was left to Jawaharlal and Jawaharlal alone to stand steadily by his own ideas ; in jail or out of jail, as a subject of an imperial power or as a citizen of an independent country, out of power or at the hight of it, Jawaharlal's political ideas and ideals never changed. Not only that ; when he had the full opportunity of putting them to practical use, it was again left to Jawaharlal alone, of all the statesmen of the world, to implement them, and also successfully—and this he did by combining the methods of a messiah and the cudgels of a conqueror[1].

It is sometimes said that Jawaharlal's ideas were the result of a confluence of, at least, three streams of thought—western liberalism, Marxian communism and Indian Gandhism—he wanted to combine the wisdom of the East and West[2]. There might be some truth in it, and Jawaharlal himself was not quite sure to which world he belonged. The truth is that probably he was *himself*[3] ; and most of his political ideas were of his own

---

[1] Cf. Toynbee, A. in 'Encounter' dated Aug. 1964.

[2] He once said : "We must maintain (India's) age old traditions. At the same time we should not lag behind other countries in the scientific and technological spheres. We cannot ride motor cars with a bullock-cart mentality".

[3] He writes : "I have become a queer mixture of the East and the West, out of place everywhere, at home no where". And again, "they (acquisitions from the East and West) also create in me a feeling of spiritual loneiness, not only in public activities, but in life itself".

thinking ; and some of them, at least, go beyond even all the three streams put together.

Jawaharlal was a mighty thinker and on all problems of his own country or of the external world, he directed a multipronged attack ; and he always insisted that everything must be examined in a larger context. It is indeed difficult to isolate his political ideas from the rest of his complex totality of thinking, and any such attempt would be to explain him only partially.

Jawaharlal was a democrat ; he believed in equality ; and he went beyond it to expound the dignity of the individual. He was an anti-imperialist, from the very beginning an extremist[1] never afraid of saying what he felt. He always denounced the right of a country, however strong and enlightened, to rule over another people ; and he extended his sympathy towards all the struggling colonial peoples ; and he wanted independent India to spearhead the movement for colonial emancipation[2].

At the same time, he was an anti-fascist. To it he reacted very strongly even at a time when the sympathy and help of a mighty man like Mussolini, whom the British were wooing then, would have been helpful in winning his own cause of Indias struggle for freedom, a cause so dear to him[3]. In a similar way he reacted to the violent aspect of communism in practice. Once he said that there was much to learn from communism but at the same time he could not reconcile himself to violence.

And that is because Jawaharlal was essentially a man of peace both in the internal and in the international sense. Internally, he believed that a peaceful atmosphere was essential for

[1] In this respect he was in contrast to his master (Gandhiji), who began his political life as a loyalist.

[2] He said in the Constituent Assembly that millions of people were looking at India with admiration and even with hopes of leadership in Asia because " it will also contribute to the freedom of other countries of the freedom movement in Asia.................. We should think of ourselves in these larger terms".

[3] Before the War, when Nehru was passing through Rome, Mussolini sent him a pressing invitation to see him, but Nehru spurned it. It required courage.

economic development, specially of an emerging country like ours. His policy of non-alignment flows from it. But it never meant for him that internal peace should mean the Government remaining unarmed and helpless in the face of either external attack or internal disturbance[1].

He hated war; he was an apostle of international peace; peace was almost an article of faith with him[2]. It was this belief that international peace must be won and established firmly that had led him to the enunciation of the '*Pancha Sheel*', his unflinching faith in the U. N. and his tolerance towards all 'isms' and co-existence. Non-aligment was something he enunciated and explained in the Indian context, but he wanted that it should be the creed of every country. It is this passionate belief in the necessity for international peace that made him the most respected man in almost all the countries in the world, democratic or communist.

It is often said that a successful statesman is one who learnt and practised the art of compromise. By any standard Jawaharlal was one of the most successful statesmen in the world, of all ages; but it was on very few occassions, indeed probably on no occasian at all, that Jawaharlal ever compromised his principles and firm convictions. Throughout his long and eventful career, he never flinched from the ideas so dear to him, and that is no small compliment to a man that was called upon to steer his country amidst the conflicting waves of communism and western democracy, and for long seventeen years.

Of all the ideas which he most cherished, the most important probably were his ideas concerning the welfare of the com-

[1] He said: "when freedom is menaced or justice threatened, or where aggression takes place, we cannot be and shall not be neutral".
And again he said: "increased agricultural and industrial production is necessary, not only in itself, but to provide the foundations for military preparation".

[2] In 1963 in an interview with "Pravda" he declared: "War must be eliminated not' only from life but also from the consciousness of men, from peoples minds".

mon man of his country and the welfare of humanity at large[1]. Probably the idea of social welfare was the central core from which all other ideas shot up.

He himself was born with a silver spoon in his mouth. He had never known poverty and he never lived in the dirty sorroundings of a village. He had no occasion to mix with the common man nor to know his life and difficulties. But when once, for the first time, he came face to face with him, the transformation in him was quick, sure and permanent[2]—it was not unlike the experience felt by Prince Gautam ; and the rest of their lives run parallel. The Buddha faught for his cause and conquered humanity ; and Jawaharlal fought for his cause and won the ever-lasting love of his countrymen. In both the cases, the conquest was complete.

When after a long struggle, in which he fought in not an insignificant way, India won independence and the mighty British left the country, the mantle fell upon him as the undisputed leader of an unconquerable party. The head of a smaller man would have turned, and many a leader would have forgotten his ideals and broken his promises, but not so in the case of Pandit Jawaharlal Nehru. In the very first broadcast he made to the Nation after he came to power, he declared himself to be "the first servant of the Nation" and dedicated himself to the cause of the country and the common man[3]. To him the country's political power was not an end in itself, the Constitution was not an end in itself ; in fact, nothing was an end in itself but the

---

[1] He said in the Constituent Assembly that India was going to have a powerfull effect on the rest of the world, and hoped that, "she will always lay stress on that spirit of humanity ...."

[2] He himself wrote that his outlook to start with was "bourgeois" but ever since he came into contact with the common man, "my mental picture of India always contains the naked hungry mass".

[3] He knew that, in return, the common people adored him. He said once in the House of the People "I am more than the Prime Minister of India".

cause of the common man in India[1] and the suffering humanity elsewhere. To him human suffering, wherever it was, was unbearable and required his immediate attention. Never did he forget this cause so dear to him.

It is this attachment to the cause of humanity that had made the world feel that he belonged to the whole of mankind. It was not with any pedantry that Adlai Stevenson remarked at the Security Council, while speaking on his death, that "Nehru's name had come to be synonymous with the spiritual goals of mankind", which, I may recount here, were equality, self-government, democracy, human dignity and social-welfare.

This cause of humanity, he wanted to serve through social-welfare at home and world peace at large. He had, no doubt, a respect for the individual and his happiness, but this individual dignity and welfare he wanted to obtain not under the scheme of laissez-faire but through deliberate improvement and welfare of the community. Thus in the Constituent Assembly of India, he very neatly summarised his own philosophy in the matter: the individuals should have a right, but so also the community; but between the individual and the community the former should bow down before the latter. It does not mean that the individual should suffer and sacrifice for the so-called community interest as it is done under Hegelian idealism or other totalitarian systems, the individual is important, he must be given economic, social and political justice, he has got equality before law, and so on; but he should thrive with the community and through the community. In other words, the community cannot be exploited in the name of individual freedom[2]. The

[1] He declared in the Constituent Assembly that the Assembly's first task was "to feed the starving people and clothe naked masses and to give every Indian fullest opportunity to his capacity".

[2] Once recently (1963) he said: "The betterment of their (people's) lot ultimately depends on the growth of each individual. We cannot separate the nation and the individual in the long run. It is a very very short-sighted policy, apart from the morality or eithics of it, to think in individual terms too much and not in national terms".

whole Part on Fundamental Rights and that on Directive Principles of the Indian Constitution, in the making of which he had a large say, echo his ideals—echo what may be called Nehru's Socialism. We have also evidence to show that Nehru took a large interest in the delimitation of human rights through the efforts of the International Law Commission. Just as he believed in the equality of man, so also he believed that internal peace was essential for fostering social-welfare, for equality was an empty slogan unless it was backed by solid fulfilment of material wants. It was this conviction that made him to seek with great passion peace throughout the world[1].

He believed that world peace could be attained through a policy of co-existence and by the instrumentality of the United Nations. This faith in the United Nations that it could deliver the goods was immense even when the U.N. failed us sometimes as in the case of Kashmir on occasions. It was like the faith of the child in the mother, innocent and unfaltering in spite of occasional lapses. He realized that the U. N. of his time was divided by the two power Blocks, that it was filled with mutual suspicion and recriminations, and that decisions taken there were based upon power politics and national interest but not by the larger interest of the world in general. But at the same time he was firmly convinced on the one hand that the two powerful Blocks must tolerate each other and on the other that strengthening of the U. N. alone was the only hope for everlasting world peace. It was this unfaltering belief of his in the United Nations that had made all the peace-loving peoples of the world, from whichever corner they came and to whichever creed they belonged, to look to him as an international figure of great stature and a champion of their own cause and peace. And it is this realisation that has made the President of the Security Council to remark spontaneously that "India's mourning is the mourning of

[1] The Objectives Resolution of the Constituent Assembly, of which he was the author echoes this idea : "This ancient land attains its rightful and honoured place in the world and makes its full contribution to the promotion of world peace and the welfare of mankind".

the United Nations". Millions of people throughout the world must have felt so at that moment of sadness.

His feelings for the under-developed nations of the world were as deep and sympathetic as those for the underdogs of India. His sympathy was reflected clearly when he insisted that if and when the World (U. N.) Charter was revised, there should be created under its auspices an Aid Fund for Under-developed Countries.[1]

It was this genuine depth of solicitude for the national integrity and independence of several countries, and anxiety for the development of the suffering humanity everywhere in the world, that had made almost all the leaders of the world, belonging to different camps, admire him and also treat him as an elder brother, friend, guide and philosopher. No other statesman in recent history could get such encomiums from such vastly differing statesmen, and leaders of the world as Khrushchev of Russia, Nkrumah of Ghana, Johnson of America and Queen Elizabeth of England. Not only did they each feel a personal loss but also felt that "his death was a loss to the peace-loving peoples of the world[2]".

---

[1] This is found in the Clark-Shon Plan for the revision of the United Nations Charter.

[2] Queen Elizabeths' Message on his death.

NEHRU THE VISIONARY

Dr. A. P. O'BRIEN,
Professor of English

There is a known and an unknown Nehru. The known Nehru is bound up with the eventful : the Nehru who studied Chemistry, Geology and Botany at Cambridge, who joined the Inner Temple, who returned from England to India in 1912, who went to prison first in 1921 and eight times after that, who lived in a barrack in the Lucknow District Jail doing the chores of prisoners, who became Prime Minister in 1947, formed the Official Language Commission, the States Reorganization Commission, the Planning Commission, the Board of Scientific and Industrial Research and the Atomic Commission, who kept India in the Commonwealth in 1949 and was one with the twenty-one African and Asian countries at Bandung in 1921, and who fought the Chinese in 1962. The list can be extended for he did so much for so many in the seventeen years of his enlightened leadership and statesmanship as Prime Minister of India.

And yet there was an unknown Nehru, inward, intangible, evanescent and secret, who revealed himself on occasions at which he spoke and wrote in the meaningfulness and the wisdom of a prophet and the percipience of a seer. It is this infinite Nehru which was there and very much so and which raises him above the finitudes of his endeavours and achievements and the tasks he left unaccomplished for the rest of us and the leaders of the nation to fulfil.

It is significant that the last thing he wrote on a paper in his own handwriting kept on the table by his bedside on that last night before his death was the last stanza of Robert Frost's poem *Stopping by Woods on a Snowy Evening :*

'The woods are lovely, dark and deep,
But I have promises to keep,
And miles to go before I sleep,
And miles to go before I sleep.'

Nehru was one with the circumambient universe : he loved the mountains, the rivers and the woods and the soil of India, perhaps not the stars in a romantic way, in a Space Age of satellites the progress of which he followed closely. There was a time of course in the prison years when he watched as he wrote in his *Autobiography* the moon wax and wane and 'the stars moving along inexorably and majestically'. He loved at all times the beauties of the earth in a never-failing attachment but these were not to be a whole time preoccupation ; there were other pressing claims on him of national and international importance and urgencies. He had a long way to go before he slept and heard the warning not to stop in the very Frost poem he deeply felt in its early lines :

'Whose woods these are I think I know
His house is in the village though ;
He will not see me stopping here
To watch his woods fill up with snow.

My little horse must think it queer
To stop without a farmhouse near
Between the woods and frozen lake
The darkest evening of the year.

He gives his harness bells a shake
To ask if there is some mistake.'

Nehru went his way and then passed into the dark night of death, his spirit as it always was in a space-time-life continuum, a condition which 'is vivid in a great man, and a pure nuclear spark in every man who is still free'.

In the vicissitudes of politics Nehru often found himself opposed to several. He differed from Gandhiji ; he even differed from his own father Motilal Nehru. At times these seemed the tantrums of youth impatient with the slow pace of radicalism and revolution. He was elected President of the Congress. He always had a Nehru flair to brush aside opposition and conservatism. He appeared at times full of hauteur. The deeper stirrings within him were often, perhaps never fully understood. Even in the crowds he loved and induced, he felt his own individuality as he wrote : 'I have been one of a mass, moving with it, swaying it occasionally, being influenced by it ; and yet, like the other units, an individual, apart from the others, living my separate life in the heart of the crowd'. There was a Nehru dream of mystery and high purpose which he kept to himself till he unburdened himself on occasions as he did on Independence Day, August 15, 1947 :

> 'Long years ago we made a tryst with destiny, and now the time comes when we shall redeem our pledge, not wholly or in full measure, but very substantially. At the stroke of the midnight hour, when the world sleeps, India will awake to life and freedom. A moment comes, which comes rarely in history, when we step out from the old to the new, when an age ends, and when the soul of a nation, long suppressed, finds utterance. It is fitting that at this solemn moment we take a pledge of dedication to the service of India and her people and to the still larger cause of humanity'.

He remembered Gandhiji on that night :

> 'The ambition of the greatest man of our generation has been to wipe every tear from every eye. That may be beyond us, but so long as there are tears and suffering, so long our work will not be over'.

A year later when Gandhiji was assassinated on January 30, 1948, his sorrow mingled with his quivering vision :

'The light has gone out of our lives, and there is darkness everywhere. Our beloved leader, Bapu as we called him, the Father of the Nation, is no more....A great disaster is a symbol to us to remember all the big things of life, that living truth, and forget the small things of which we have thought too much. In his death he has reminded us of the big things of life, that living truth, and if we remember that, then it will be well with India.'

Six years later in 1954 Nehru wrote his testament. This gave another revealing glimpse of the unknown Nehru. The will was executed in a business-like fashion as narrated by N.R. Pillai of the External Affairs Ministry after Nehru's death:

'One morning, ten years ago, when working in the Ministry of External Affairs, I received an urgent summons from the Prime Minister. I went across to his office at once, and, as I entered, Panditji smiled and said: "Would you mind witnessing my will?" I was somewhat taken aback at this, for the mention of a will conjures up unpleasant visions before me. However, seeing Panditji so calm and composed himself, I braced myself to the task, looking as impassive as I could. Dr. Katju, the Home Minister, who was to be the first witness, was already there, and the ceremony, if ceremony it could be called was brief. Within a few minutes, in businesslike fashion, Panditji had signed his will and we two had witnessed his signature.'

Here was an act in which the known and the unknown Nehru mingled and yet kept their demarcation like the sky blue and the crystal clear waterline of the Jamuna and the Ganges in which part of his last ashes were eventually confined. The Will itself is a literary masterpiece and an expression of the hidden soul of Nehru. It was solemnly worded and intertwined with India's history, his love for the people and India as a whole. The quotation of it in a large measure is meet and

proper and worthy to be enshrined in our hearts and that of generations after us, who will read with amazement the profound story of this very great man who discovered India and in doing so discovered himself. The testament opens with a passionate acknowledgement of the love he received unreservedly from the people of India:

> 'I have received so much love and affection from the Indian people that nothing that I can do can repay even a small fraction of it and indeed there can be no repayment of so precious a thing as affection. Many have been admired some have been revered, but the affection of all classes of the Indian people has come to me in such abundant measure that I have been overwhelmed by it. I can only express the hope that in the remaining years I may live, I shall not be unworthy of my people and their affection'.

In return he wanted to have his ashes strewn over the fields where the farmers labour:

> 'The major portion of my ashes should, however, be disposed of otherwise. I want these to be carried high up into the air in an aeroplane and scattered from that height over the fields where the peasants of India toil, so that they might mingle with the dust and soil of India and become an indistinguishable part of India.'

The Ganga appeared to him as a symbol of India, its tradition and its continuity:

> 'The Ganga, specially, is the river of India, beloved of her people round which are intertwined her racial memories, her hopes and fears, her songs of triumph, her victories and her defeats. It has been a symbol of India's age long culture and civilisation, ever changing, everflowing, and yet ever the same Ganga. She reminds me of the snow covered peaks and the deep valleys of the Himalayas, which I have loved

> so much, and of the rich and vast plains below where my life and work have been cast.'

He had watched it along with the Jamuna and loved the two rivers :

> 'I have been attached to the Ganga and the Jamuna rivers in Allahabad ever since my childhood and, as I have grown older, this attachment has also grown. I have watched their varying moods as the seasons change, and have often thought of the history and myth and tradition and song and story that have become attached to them through the long ages and become part of their flowing waters'.

Further on, he fuses the Ganga's physical loveliness with his sense of time present, time past, and time future :

> 'Smiling and dancing in the morning sunlight and dark and gloomy and full of mystery as the evening shadows fall : a narrow, slow and graceful stream in winter, and a vast roaring thing during the monsoon, broad bosomed almost as the sea, and with something of the sea's power to destroy, the Ganga has been to me a symbol of the past India, running into the present, and flowing on to the great ocean of the future.'

He next dwells on what he tried to repudiate in the Indian tradition and what he tried to conserve from it :

> 'And though I have discarded much of past tradition and custom and I am anxious that India should rid herself of all shackles that bind and constrain her and divide her people, and suppress vast numbers of them, and prevent the free development of the body and the spirit though I seek all this, yet I do not wish to cut myself off from the past completely.
>
> I am proud of that great inheritance that has been, and is, ours, and I am conscious that I too, like all of us, am a link in that unbroken chain which goes back to the dawn of history in the immemorial past

of India. That chain I would not break, for I treasure it and seek inspiration from it. And as witness of this desire of mine and as my last homage to India's cultural inheritance, I am making this request that a handful of my ashes be thrown into the Ganga at Allahabad to be carried to the great ocean that washes India's shore.'

There is scepticism too of formalized religion. He makes no fuss and has no inhibition about it:

> 'I wish to declare with all earnestness that I do not want any religious ceremonies performed for me after my death. I do not believe in any such ceremonies and to submit to them, even as a matter of form would be hypocrisy, and an attempt to delude ourselves and others.'

In many ways the Will expresses his beliefs and doubts, and that voice within him which spoke to him in his solitude, loneliness and meditation. It presents an aspect of his personality, hidden from the public gaze, the searching scrutiny of reporters and the flash-bulbs of photographers. All this makes him so endearingly great, now that the veil is torn from his life and we gaze at the spring flows of his subterranean and sentient being.

Nehru had a vision, the sweep of which, went beyond his own people to humanity at large. He strove for a world without war. In fact this was so dominant in his utterances in world forums that Lyndon Johnson rightly said when he heard of Nehru's death: 'There could be no more fitting memorial to him than a world without war'. Peace was Nehru's ideal: like Gandhiji he was an apostle of peace. But this peace was not just a romantic pursuit, inchoate and undefined, or a politician's platitudinous utterance. He conceived it in a thought and action nexus of Ends and Means. This is what he said in his Address to the United Nations General Assembly, December 20, 1956:

> 'Means are at least as important as ends; if the means are not right, the end is also likely to be not right,

> however much we may want it to be right. And therefore, here especially in this World Assembly to which all the nations of the world look, I hope an example will be set to the rest of the world in thinking always about the right means to be adopted in order to solve our problems'.

Increasingly, as the years passed, he strove to build a world morally strong and democratically free in which the liberal virtues like decency and respect for others would prevail.

In all these various outpourings of his spirit in 1947 on Independence Day, in 1948 on the death of Ganghiji, in 1954 when he wrote his Will, in 1956 when he addressed the United Nations General Assembly, in 1964 when he closed his eyes in sleep never to wake again to daylight or night, that we get a total view of his centralized life and judgment and the changeless character of his vision. For him it always happened that

> 'The Absolute—removed
> The Relative away !'

JAWAHARLAL THE APOSTLE OF CLEAR THINKING

PROF. SURYAKANTA

From the golden age of the Guptas to the age of Jawahar Lal I see a void of some fifteen hundred years. In that general torpor a man was needed to set the Indian humanity going again, to put new springs in the understanding: a man bold enough to upset, genuis enough to re-build; a man who could really reform India's religion, philosophy, morality and political life.

For the first time in India's History Jawaharlal said' I, or my mind'; and he produced phenomenal effect not, by reproducing in the souls the wave of his sensibility, the vast tumult of his heart, but by leading the nation's mind away in constructive channels, by captivating the reason with sines and clear ideas. He perceived the great Vedic truths, which India had forgotten; and his strentgh lay in effectively recalling them.

"Be undeceived" he exhorted; and he freed the nation's mind from the age old shackles—religious, philosophical and moral and he charted the man's mind into scientific streams. He attacked India's traditional esoteric intellectualism; he gave a rude shake to the traditional Indian heart that was tainted and putrescent, throughly rotten with sensual self-love and self-complacency.

This was Jawahar Lal, the only son of Motilal, who (ML) could hurl the challenge at the Congress Working Committee, meeting at Kakinda, on December 24, 1923 then dominated by the non-changers: 'the Svarajist steam—roller, starting from Allahabad will crush all opposition", and it did crush the opposition with a victory seldom repeated in the Congress annals.

Motilal had the power to convey a remarkable proportion of the treasure of his intellect and the valour of his blood to his children. To Jawahar Lal, his only son, the inheritance passed

in extraordinary perfections; for he repeated, without apparent effort all his father's triumphs in life.

A Jewel of countless facets, Jawahar Lal was gifted with an apollonian personality, personality that made his life really dramatic; and he attracted the Indian masses like honey, or a flower, or music, or a picture, or all combined into one. A perfect model of physical beauty, Jawahar Lal, perhaps, of all men of his age, came nearest to the mould and ideal of manhood, which every father would like to see his son aspire to and if possible attain. The bounty of nature, enriched and developed, not only by early training, but also by constant self-discipline through life, blended in him gifts and graces which taken alone are rare, and in such attractive union are rarers still. Body, mind and character—the school-room, the cricket field, the Bar, the political arena, and the Parliament each made its separate contribution of faculty and of experience to a many-sided and harmonious whole. But what he was he gave; and gave with such ease and exuberance that I think it may be said without exaggeration that wherever he moved he seemed to radiate vitality and charm. He was a strenuous fighter and a fierce party-man. But he has left behind no resentments and no enmities; nothing but a gracious memory of a manly and winning personality; the memory of one, who served with an unstinted measure of devotion his country and the world at large.

A man of godly gifts, Jawahar Lal was indeed a man of the universe; that is why he was loved alike by men and women by young and old, by Indians and foreigners, by Hindu and Muslims-a very rare acheivement indeed. Like the sun and the moon he perhaps did not feel any difference between man and man, between a Hindu and a Muslim, a man of genius universalism, and a man in whom Indian creeds and paradoxes merged and became integrated.

A man of universal mind he rightly dominated the entire Indian field political, economic, literary, scientific and artistic

and we shall ever remember with grateful affection and zeal the success with which he operated in all of them ; and remember we will also the zest and zeal with which he laboured to consolidate the peace and concordance of the world ; to aid every merciful endeavour for the alleviation of the Human suffering, and to unit in justice and freedom the different communities of India.

Nor do the angels cut out their ideas from the common cloth of Being—A man deeply aligned to this nation Jawahar Lal was a man of non-alignment, a vitally active philosophy of his own creation, a philosophy that has proved so very useful to this developing nation.

A preacher of universal peace and prosperity Jawahar Lal intuitively loved Pakistan and China ; and had he been spared a year or two more, he would have secured lasting friendship of these two neighbours ; for, I believe, that unless we do that, and that too in time, there can be no peace and prosperity for us. Friendly Pakistan and friendly China are an absolute essential for the ordered growth of the inherently peace-loving India. Let Indian Leadership concentrate on this.

The impression of the personality of Jawahar Lal remains vivid upon the minds of his friends ; and the sense of his loss is in no way dimmed by the ordered transfer of power at the Centre. We, poor Indians, feel infinitely poorer today that he, the genuine socialist has gone from us without giving us an effective fighter for equality and fraternity, the two ideals for which the Indian climate has never been really conducive.

In these days dangers and difficulties are gathering upon India, and we are also conscious of a lack of outstanding sincere figures with which to overcome them. Here was a man in whom there existed not only an immense capacity for service, but also that flame of creative genius, which every one recognises, but no one can define. Alike in his great periods of political struggle and command he towered over those with whom he came in contact. They felt themselves in the presence of

a marvellous and overpowering personality. They felt tha his latent reserves of force and will power were beyond measure ment. If he roused himself to action, who should say wha crisis he could not quell ? If things were going very bad, how glad one would be to see him come round to take command He was indeed a dweller upon the mountain-tops, where th air is cold, crisp and rerefied, and where the view on clear days commands all the kingdoms of the world and the glory of them It is good that we have scattered his ashes over the mountain-tops.

Let me end this homage with a line from Robert Bridges:

And thou, O lover, that art on the watch,
Where, on the banks of the fortgetful streams,
The pale indifferent ghosts wander and snatch
The sweeter moments of their broken dreams,
Thou, when the torch light gleams,
When thou shalt see the snow procession,
And when thine ears the fitful music catch
Rejoice, for thou art near to thy possession.

यह जवाहर-दीप भी ले लो !

डॉ० देवराज
अध्यक्ष—भारतीय दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

यह जवाहर-दीप भी ले लो।
देश के गत औ अनागत के अधिष्ठाता
ऐ अजर इतिहास ! रक्षा पुरुष !
यह हमारी साधना का सित नया हीरा
यह हमारा नर-रतन निष्कलुष ;
संकटों के तिमिर-प्लावन में चमकता जो
स्थिर, अकम्पित—ज्योति का यह
द्वीप भी ले लो !

सौम्य, कोमल, शिष्ट भी मन का बड़ा मानी
शीश गर्वीला गगन से मिला,
द्रोह-दहते विश्व के आशा-क्षितिज पर जो,
स्नेह-मैत्री का अमृत ले खिला ;
देख उर-आँखें जुड़ा जातीं जिसे जन की
वह हमारा चाँद
शोभातीत भी ले लो !

वीर-विद्रोही कि जो साम्राज्यशाही के
ढा गया दृढ़ द्वार चौड़े क़िले,
धीर, जिसके मन्द्र-घन स्वर की चुनौती से
अनय के सौ बुर्ज ऊँचे हिले,
त्रस्त, उत्पीड़ित जनों का सुहृद, निर्भय बन्धु
मनुज-गौरव का अचल
उद्गीथ भी ले लो !

लक्ष जन के क्लिष्ट-चिन्तित मुखों को तकते
सोच-डूबे, स्निग्ध-गीले नयन,
आँकते इतिहास की गति बुद्धि-मन उद्विग्न
शान्तिपथ-निर्देश करते वचन;
यह हमारे बोध-वाणी-कर्म का नूतन
स्वच्छ संगम, दृष्टियों का
तीर्थ भी ले लो !

काल नर! ये युग-कदम, शतियाँ विवर्त्तन की
नित तुम्हारी हों शुभालोकित,
इसलिए शुचि बुद्ध-गान्धी, विमल प्रियदर्शी
औ कृती अकबर किए अर्पित;
घृणा की कालौंच से निर्मुक्त, शीतोज्ज्वल
यह जवाहर-अर्चि

ज्योतिस्फीत भी ले लो
यह मणि-दीप भी ले लो

[Vol. X (

नेहरू जी और उनकी जन्म-कुण्डली

पं० राजमोहन उपाध्याय
अध्यक्ष ज्योतिष विभाग
काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय

भी ले लो
भी ले लो

लौकिक दृष्टि से फलित ज्योतिष शास्त्र में श्री नेहरू जी की व्यक्तिगत निष्ठा नहीं थी। समय समय पर फलित के विरोध में उनके वक्तव्य भी प्रकाशित हुए। वस्तुतः नेहरू जी को विज्ञान अधिक प्रिय था। साथ ही साथ विज्ञान का वह भाग अधिक प्रिय था, जिसके द्वारा समाज को सुख-शान्ति और सुविधा अधिक प्राप्त होती है। ज्योतिषियों के कथित फलों में उन्हें विज्ञान का वह रूप नहीं दिखाई पड़ता था, जिससे कुछ भी समाज का हित हो सके। संभवतः उनके मन में यह भी रहा हो कि फलित ज्योतिष से यदि कुछ सत्य बतलाया जा सकता है तो ज्योतिषी लोग अपना ही भविष्य क्यों नहीं देख लेते और परमुखापेक्षी क्यों बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त विज्ञान की परम्परा के आधार पर वे समझते थे कि कोई वस्तु सदा के लिए एक सी निश्चित नहीं रह सकती। फलित ज्योतिष यदि यह बतला सकता है कि यह घटना अमुक समय में घटेगी, तब निश्चित ही कर्म नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती, परन्तु यह संसार कर्म भूमि है, यहाँ पर आकर मनुष्य को कर्म करना चाहिए। जो विद्या कर्म से मनुष्य को विरत करती हो उसे अवश्य ही समाज से पृथक् रखना चाहिए। उक्त तथ्यों के आधार पर नेहरू जी ने अपनी एक निश्चित धारणा बना ली थी। कुछ अंशों में उनकी धारणा सत्य भी थी। परन्तु उन्होंने आवश्यकता से अधिक अपनी धारणा को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया।

फलित ज्योतिषशास्त्र विज्ञान की श्रेणी में अपना वही स्थान रखता है, जो गणित में स्टेटिस्टिक्स या आंकड़ा शास्त्र का है। अतएव इस विद्या के कुछ उदाहरण नेहरू जी की जन्म-पत्री के आधार पर हम रखने का प्रयास कर रहे हैं। वस्तुतः फलित ज्योतिष समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है, किन्तु इस विषय में अनधिकारी और अनभिज्ञों का अधिक प्रवेश हो गया है। इसीलिये यह विद्या अधोगति की दिशा में रही है। अधिकांश गणित-ज्योतिष के विद्वानों ने सदा से अपनी रुचि इस विद्या में नहीं दिखाई। इसलिए बहुत अधिक इस विद्या का ह्रास हुआ है। किन्तु यह विद्या हमारे पुरातन महर्षियों की देन है, और हमें इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म के लिए एक स्वप्न या कल्पना मात्र है। ब्रह्म के एक दिन में ४३२०००००० सौर वर्ष व्यतीत होते हैं ऐसा शास्त्रों का वचन है। अतः केवल कल्पना कह कर किसी भी बात को नहीं टाला जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में कल्पना की एक तरंग सदा उठा करती है और कभी-कभी वह तरंग साकार रूप में परिणत होकर समस्त मानव मात्र को आश्चर्य में डाल देती है। जब न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त लोक-समक्ष आया तब समस्त विज्ञान जगत् यह समझता था कि इससे बढ़कर अन्य वस्तु का आविष्कार होना कठिन है। किन्तु आइनस्टाईन के सापेक्षवाद नामक सिद्धान्त के प्रकट होने के अनन्तर गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त

फीका पड़ गया। आज ह्वायल तथा नार्लिकर का सिद्धान्त आइनस्टाईन के सापेक्षवाद को भी दोषपूर्ण बता रहा है। इन सबका तात्पर्य यह है कि समय समय पर प्रत्येक वस्तु अपना महत्व रखती हैं, अतः हमें किसी भी सिद्धान्त की अवहेलना नहीं करनी चाहिए अपितु उस पर पूर्ण विचार करना चाहिए।

यहाँ श्री नेहरू जी की कुण्डली फलितशास्त्र की परम्परा को लोक समक्ष प्रस्तुत करने के हेतु उपस्थित की जा रही है। यह कुण्डली सन् १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति श्री गोविन्द मालवीय ने मुझ तथा मेरे गुरुवर स्वर्गीय पं० श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाण्डेय जी को आयु के विचार के लिए दिया था। कुण्डली की नकल गुरुवर के रजिस्टर में उन्हीं के कर कमलों से अंकित है। फलादेश के सहित कुण्डली की मूल प्रति श्री गोविन्द मालवीय जी वापस दिल्ली ले गए। अतः उक्त कुण्डली के आधार पर यह समीक्षा प्रस्तुत की जाती है।

श्री नेहरू जी की कुण्डली

सम्वत् १९४६ शकः १८११ मासोत्तमे मार्गशीर्षे कृष्णे षष्ठयां गुरुवासरे घट्यादि ०।३४ पुष्यभे २६।२६ शुक्ल योगे ४२।७ दिनमानम् २६।५७ वृश्चिकार्कगतांशाः १, तत्रेष्टम् ४१।३६ कर्कोदये ता० १४-११-१८८९ ईस्वीये घंटा २३ मि० ४ समये जन्म। अयनांशाः २२।१३।३५ लग्नम् ३।२३।१३

जन्मांगम्।

५ श०
३ श०
६ मं०
४ चं०
२
७ बु० शु०
१
८ सू०
१०
१२
९ वृ० के०
११
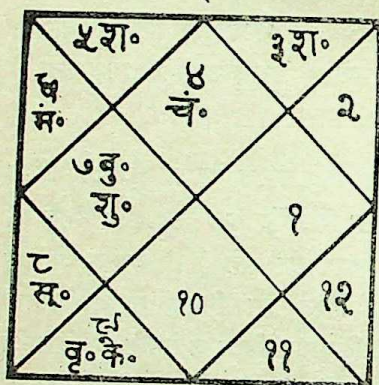
स्पष्टग्रहाः।

सु०	चं०	मं०	बु०	बृ०	शु०	श०	रा०	के०
७	३	५	६	८	६	४	२	८
०	१७	१०	१७	१५	७	१०	१२	१[illegible]
२१	५९	३	१३	१६	२७	५४	४९	४[illegible]

महादशाचक्रम्

बु०	के०	शु०	सू०	चं०	मं०	रा०	
१३	७	२०	६	१०	७	१८	
०	०	०	०	०	०	०	
१९	०	०	०	०	०	०	
१९	०	०	०	०	०	०	
१९४६	१९५९	१९६६	१९८६	१९९२	२००२	२००९	२०२७
७	७	७	७	७	७	७	७
०	१९	१९	१९	१९	१९	१९	१९
२१	४०	४०	४०	४०	४०	४०	४०

राह्वन्तरम्

रा०	गु०	श०	बु०	के०	शु०	सू०	चं०	मं०
२	२	२	२	१	३	०	१	१
८	४	१०	६	०	०	१०	६	०
१२	२४	६	१८	१८	०	२४	०	१८
२००९	२०११	२०१४	२०१७	२०२०	२०२१	२०२४	२०२५	२०२६
७	४	८	७	१	२	२	१	७
१९	१	२५	१	१९	७	७	१	१

प्रस्तुत कुण्डली के आधार पर निम्नांकित परिणाम व्यक्त होते हैं—

१—चन्द्रमा, शुक्र और वृहस्पति ये तीन ग्रह स्वराशि के हैं। इसके लिए समस्त जातकशास्त्र प्रणेताओं का एक मत है कि—

"त्रिभिस्वस्थै र्भवेन्मन्त्रीत्रिभिरुच्चैर्नराधिपः।
त्रिभिर्नीचैः भवेद्दासः त्रिभिरस्तंगतैर्जडः॥"—इति

उक्त वचन के आधार पर मन्त्रीत्व योग पूर्णतया विद्यमान है और इस योग की चरितार्थता भी प्रत्यक्ष है। किन्तु ऐसे तीन ग्रह स्वराशि के बहुत लोगों की कुण्डलियों में होगे पर सभी लोग प्रधान मंत्री नेहरु ही नहीं बन सके। ज्योतिष शास्त्र में राशि, नक्षत्र, लग्न और ग्रह ये चार मुख्य उपकरण हैं, और इनका आवर्तन भी होता रहता है। नक्षत्र २७, राशि १२, लग्न १२, और ग्रह ९ हैं। बहुधा यह देखा गया है कि जिस प्रकार के ग्रह महाराजाधिराज या महापुरुषों की कुण्डलियों में पाए जाते हैं उसी तरह के विरक्त संन्यासियों की कुण्डली में भी होते हैं। अतः ग्रह, नक्षत्रादि उपकरणों का साम्य होने पर भी फल सबका एक सा नहीं होता। फल वैषम्य के मुख्य तीन कारण हैं। १—देश, २—काल, ३—पात्र, इनमें पात्र की अपेक्षा देश की महत्ता और देश की अपेक्षा काल की महत्ता स्थिर है। अतः ग्रहनक्षत्रादि उपकरण इन्ही तीन आधारों पर अपने फलों में वैषम्य उत्पन्न करते हैं। श्री नेहरु जी की कुण्डली में देश, काल और पात्र तीनों की महत्ता है। पात्र की दृष्टि से नेहरू जी महान् मेधावी नेता के पुत्र थे। अतः सामान्य स्तर के लोगों से उनका स्तर पहले से ही ऊँचा था और देश के प्रमुख पात्रों की समकक्षता में स्वयं विना प्रयास विद्यमान थे। देश के विचार से तीर्थराज प्रयाग में उनका जन्म हुआ था। जो हिन्दुओं का सबसे बड़ा पवित्र तीर्थ है। अतः देश की पवित्रता उनके साथ जन्मजात थी। काल की दृष्टि से नेहरू जी का जन्म मार्गशीर्ष मास में हुआ था और ज्योतिष के कई विशिष्ट योग काल के आधार पर उनकी कुण्डली में विद्यमान हैं। अतएव ज्योतिष की समस्त मान्यताएँ एक साथ उनकी कुण्डली में चरितार्थ हुई हैं। अतः स्वक्षेत्रीय तीन ग्रहों का फल यहाँ प्रत्यक्ष देखने को मिला है।

२—ज्योतिषशास्त्र का वचन है कि केन्द्र में पञ्च तारा-ग्रह (मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि) स्वराशि, उच्च या मूल त्रिकोण का होकर केन्द्र में बैठें तो पञ्च महापुरुष योग होता है। ऐसे योग में महापुरुष ही उत्पन्न होते हैं और अपने स्तर के अनुसार बुद्धि वैभव का चमत्कार जगत के समक्ष उपस्थित करते हैं। यहाँ प्रस्तुत कुण्डली में शुक्र स्वराशि का चतुर्थ स्थान में विद्यमान है अतः मालव्य नामक योग पड़ा है। इस योग में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति ऐहलौकिक पद, प्रतिष्ठा, धन प्राप्त करता हुआ ७० वर्ष की आयु प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त श्री नेहरु जी की कुण्डली में शंख नाम का योग पड़ा है।

"अन्योन्यकेन्द्रगृहगौ सुतशत्रुनाथौ लग्नाधिपे बलयुते यदि शंखयोगः तथा जीवेदब्दं वत्साराणामशीति" बृहत्पराशर होरा के इस वचन के अनुसार इस शंख योग की आयु ८१ वर्ष की होती है। जहाँ पर दो तीन प्रकार के योग उपस्थित हो जाँय वहाँ पर सभी के योग में योगकारी संख्याओं का भाग देना चाहिए। अतः

मालव्य योग	आयु	७०
शंख योग	"	८१
योग	"	१५१

योगकारी संख्या २ से भाग देने से फल=७५ वर्ष ६ माह निकलता है। उक्त योगों के आधार पर श्रीनेहरू जी की स्पष्ट आयु ७५ वर्ष ६ माह की निकलती है। उनकी आयु का न्यूनतम भाग ७० और अधिकतम भाग ८१ वर्ष है। दोनों के मध्यभाग आयु की पूर्णता या उत्कर्ष की चरम सीमा समाप्त होती है। यदि वे पद और प्रतिष्ठा का परित्याग कर सामान्य व्यक्ति की भाँति जीवन व्यतीत करना चाहते तो अवश्य ही ८१ व तक जीवित रहते। यहाँ आयु का तात्पर्य जीवन की उन समस्त चेतनाओं से है, जिन क्रियाशक्ति पूर्णतया कार्य करने में समर्थ हो। जिस प्रकार चन्द्र ग्रहण में ग्रहण के पू चन्द्रमा की विम्ब में कान्तिमालिन्य आरम्भ हो जाता है, वैसे ही जीवन समाप्ति के कु पहले प्राणियों में अधोगति का प्रारम्भ होता है। नेहरू जी का जन्म १४ नवम्ब १८८९ का है, अतः १५ मई सन् १९६४ को उनकी आयु ७५ वर्ष ६ माह की पूर्ण हुई किन्तु इसके पूर्ण होने के ११ दिन बाद उनका निधन हुआ। इन ११ दिनों का अन्तर भी गणितागत आयु के आधार पर निकाला जा सकता है। किन्तु फलित शास्त्र का व काल्पनिक योग जिसे हजारों वर्ष पूर्व ऋषि महर्षियों ने व्यक्त किया था, वह आज भी अप मूलरूप में चरितार्थ है। शतप्रतिशत सत्य होने का दावा कोई भी विज्ञान नहीं क सकता, किन्तु जो विज्ञान ७५ प्रतिशत से अधिक सत्य हो उसको आज के वैज्ञानिकों भी अपनाया है। मनुष्यों का आयुष्य निर्णय उपलक्षण मात्र है। किसी भी वस्तु उत्पत्तिकाल और उत्पत्तिकालिक ग्रहस्थिति के आधार पर उसके साद्यन्त इतिवृत्त का पता लगाया जा सकता है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि किसी भी वस्तु का यदि काल निश्चित है तो उसके संबंध में अन्य सभी प्रयास व्यर्थ हैं। किन्तु विचार कर पर यह बात यथार्थरूप में प्रकट नहीं होती। ज्योतिष एक सामान्य निर्णय प्रस्तुत करता है। विशेष परिस्थिति में वह सामान्य नियम व्यभिचरित भी होता है। किन्तु व्या नियम की अपेक्षा घटी यंत्र की तरह नहीं की जा सकती। उन विशेष नियमों के अनेक विभिन्न स्थितियाँ शास्त्र में अंकित हैं। योगाध्याय में अमितायु, ब्रह्मपद, इन्द्रप कुबेरपद आदि का संकेत है, अर्थात् जहाँ पर ये योग लग जायँगे वहाँ सभी सामान्य निय व्यभिचरित हो जायेंगे।

३—संसार की समस्त वस्तुएं पांचभौतिक हैं किन्तु समस्त वस्तुओं में भूतों की मा समान नहीं होती। महर्षि पराशर का कथन है कि जीवात्मा और परमात्मा नाम की सत्ताएँ एक साथ काम कर रही हैं। "परमात्मांशाधिको येषु ते सर्वे खेचराभिधाः"। अथ ग्रहों में परमात्मांश की मात्रा अधिक है और उन्हीं परमात्मांशाधिक्य के कारण ग्रहों के आधा पर विशिष्ट अवतारी पुरुषों का धराधाम पर अवतरण होता है। उदाहरणार्थ दशावता का वर्णन ग्रहों के आधार पर इस प्रकार है।

रामोऽवतारः सूर्यस्य चन्द्रस्य यदुनायकः।
नृसिंहो भूमिपुत्रस्य बुद्धः सोमसुतस्य च॥

वामनो विबुधेज्यस्य भार्गवो भार्गवस्य च ।
कूर्मो भास्करपुत्रस्य सैंहिकेयस्य शूकरः ।।
केतोर्मीनावतरश्च ये चान्ये तेऽपिखेटजाः ।
परमात्माशोंऽधिको येषु ते सर्वे खेचरापिधाः ।। वृ० प० अ० २

उक्त श्लोकों में रामावतार सूर्य ग्रह का वैशिष्ट्यद्योतक तथा कृष्णावतार चन्द्र का वैशिष्ट्य सूचक है। इसी प्रकार नृसिंह, बुद्ध, वामन, परशुराम, कूर्म, सूकर तथा मीनावतार क्रमशः मंगल; बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु के वैशिष्ट्य द्योतक हैं। इन अवतारों का तात्पर्य यह है कि सूर्य संयम, नियम का मूर्त्त रूप है। संसार को नियंत्रित रखना ही उसका काम है। इसलिये लिखा है "सूर्ये संयमात् भुवनज्ञानम्" इति। अतः जहाँ कहीं भी सूर्य का विशिष्ट प्रभाव पड़ेगा वह वस्तु या व्यवित संयम नियम का प्रतिमूर्ति समझा जायेगा। इसी प्रकार चन्द्रमा सदा तीव्रगामी होने के कारण चंचल स्वभाव का है। जहां कहीं इसका विशिष्ट प्रभाव पड़ता है वहां चंचलता अधिक दिखाई पड़ती है और सभी चीजें इसी चंचलता के कारण अनियंत्रित जान पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रहों का भी प्रभाव समझना चाहिय।

यहाँ ग्रहों का प्रभाव दो प्रकार का माना गया है। १—जन्मकालिक स्थिति का प्रभाव २—तात्कालिक (गोचर) ग्रहस्थिति का प्रभाव। जन्मकालिक ग्रहस्थिति का प्रभाव मनुष्य की प्रकृति के रूप में परिणत हो जाता है और तात्कालिक ग्रह उन प्रकृतियों को विक्षुब्ध कर नूतनता प्रदान करते हैं। शरीर के अभ्यन्तर आत्मा, अहंकार, मन, बुद्धि, ज्ञान, सुख, कामना, दुःख, और उद्वेग नामक वृत्तियाँ विद्यमान हैं। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार "कालात्मा दिनकृन्मनस्तुहिनगुः सत्वं कुजो ज्ञो वचो। जीवो ज्ञानसुखे सितश्चमदनो दुःखं दिनेशात्मजः"।। इत्यादि वचन बृहज्जातक नामक ज्योतिष ग्रन्थ में मिलते हैं। यहाँ आत्मकारक सूर्य माने गये हैं। यही सूर्य ज्योतिष शास्त्र में द्वादशादित्य नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः आत्मा के १२ भेद ऋषियों ने सूर्य के अनुसंधान से पाया है और उन्हीं भेदों के आधार पर ब्रह्माण्ड के वेष्टन व्योममण्डल को समान १२ भागों में बाँटकर १२ राशियां कल्पित की हैं। इस विधि से चन्द्रमा मन का द्योतक है। आत्मा (पुरुष) के अतिरिक्त २४ गुणों पर उसका साम्राज्य है। इसलिये लौकिक समस्त चैतन्यों पर मन का बड़ा ही प्रभाव लक्षित होता है। इसी प्रकार समस्त ग्रहों का प्रभाव समझना चाहिए। राशियों के गुण धर्म ग्रहों के गुणधर्म से संवलित होकर ब्रह्माण्ड में असंख्य सृष्टि उत्पन्न करते आ रहे हैं।

श्री नेहरू जी की कुण्डली में आत्मा का स्थिरकारक सूर्य वृश्चिक राशि में विद्यमान है। वृश्चिक राशि का गुण चिन्तन है। अतः उनकी आत्मा सदा चिन्तन में तत्पर थी। ग्रहों की स्थिति के अनुसार आत्मा का कारक चन्द्रमा हुआ है और वह चन्द्रमा कर्कट राशि में विद्यमान है। कर्कट का गुण माया और मोह है। अतः संसार की माया और मोह में उनकी आत्मा सदा चिन्तित रही है। यह बात आत्म-कारक से स्पष्ट है। मनः कारक स्थिर रूप में चन्द्रमा है और जन्मकाल में वह चन्द्रमा आत्म-कारक हो गया है। अतः उनके मन और आत्मा में भेद नहीं था, यह बात उनके जीवन से ही स्पष्ट है। इसीलिये उनके जीवन

में सचाई, ईमानदारी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती थी। चन्द्रमा कर्क राशि का है और चन्द्रमा यह अपनी राशि है, साथ ही चन्द्रमा लग्नवर्ती है। अतः इसका फल जातक में स्पष्ट है।

"विधुर्गोकुलीराजगः सत्वपुःस्थो धनाढ्यक्षलावण्यमानन्दपूर्णम्" इति (च० चि०)

उक्त बचन के आधार पर राज्य, पद, सुन्दर शरीरवान और विशिष्ट वैभवश होने का योग प्राप्त है और यह योग वास्तव में उक्त कुण्डली में घटित हो रहा है।

४—कुण्डली में सर्वापेक्षा चन्द्रमा के बलवान होने के कारण कृष्णावतार की झ इस कुण्डली में दिखाई देती है। किन्तु जितना सफल होना चाहिए उतनी सफलता देखी गई इसका कारण यह है कि भगवान कृष्ण की कुण्डली मे ५ ग्रह उच्च के थे। पर कोई भी ग्रह उच्चस्थ नहीं है। अतः मनुष्यों में श्रेष्ठ गुण होने पर भी परमात शक्ति (दैवी शक्ति) प्रबल न होने के कारण यदा कदा विशेष असफलताएँ भी हुईं हैं।

५—व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न परिणामों की ओर ध्यान देने पर निष्कर्ष इस प्रक निकलता है। कुण्डली में लग्नादि १२ भाव होते हैं। प्रथम से देह का, द्वितीय से ध कुटुम्ब, तृतीय से बन्धु, चतुर्थ से मित्र, माता आदि, पञ्चम से पुत्र, विद्या, षष्ठ से शत्रु त मातृपक्ष (ननिहाल) सप्तम से स्त्री, अष्टम से आयु, नवम से भाग्य, दशम से, कर्म, व्यापा एकादश से लाभ, और द्वादश से हानि का विचार होता है। यहाँ लग्नेश बलवान होने के कार स्वस्थ और सुन्दर शरीर होने का योग है। द्वितीय स्थान में पापग्रह होने के कारण कौ म्बिक सुख (स्त्री पुत्र आदि का) यथार्थ नहीं होना चाहिए क्योंकि 'लाभं तृतीयं रन्ध्रञ्चश स्थानंव्ययस्तथा। एषां योगेन यो भावस्तंन्नशंप्राप्नुयाद्ध्रुवम्॥' उक्त वचन के अनुस कौटुम्बिक सुख का परिणाम नेष्ट है। भ्रातृ स्थान में मंगल बैठा है। 'जातं यातः कु हन्ति सहजस्थो भवेद्यदि' इत्यादि वचनानुसार भ्रातृ अभाव का योग पड़ा है। चतुर्थ स्थ का स्वामी बलवान है अतः मित्र आदि का सुख उत्तम है। सन्तान स्थान का स्वामी क्षेत्रीय है। सन्तान कारक गुरु अनिष्ट स्थान में बैठा है। दारेश से पञ्चम धनुर्धर योग है। उक्त योगों के आधार पर पुत्र योग का अभाव है। किन्तु कन्या का सुख उत्तम स्त्री स्थान का स्वामी शत्रु स्थान में होने के कारण विकल है। अतः स्त्री सुख उत्तम है। आयु स्थान का पति आयु स्थान को देख रहा है अतः दीर्घायु सूचक है। भा और कर्मेश परस्पर केन्द्र संबन्ध कर रहे हैं और कारक भी है, अतः उत्तम राजयोग पड़ा द्वादश स्थान का राहु आकाशमार्ग की यात्रा विशेष कराने वाला हैं।

विशिष्ट योगों का विचार करने पर मालव्य और शंख योगों के अतिरिक्त कई योग उत्तम तथा अधम विद्यमान हैं। चन्द्रमा से द्वितीय स्थान में शनि होने से सुनफा न राजयोग पड़ा है। द्वितीय और द्वादश में शनि राहु के विद्यमान होने के कारण बन्धन भी पड़ा है। अतः जीवन का अधिकतम भाग कारागार (जेल) में व्यतीत होना चाहि सारांश यह है कि व्यक्तिगत जीवन उतना सुखमय नहीं होना चाहिए जितना कि सामा जीवन उत्कृष्ट दिखलाई पड़ता है। इसका कारण विभिन्न भावों की ग्रह स्थिति और उ परिणाम है। जिससे कि ये फल श्री नेहरू जी की कुण्डली में विशेष संघटित हुए है।

महादशा के विचार से, राहु की महादशा में केतु की अन्तर्दशा ३ जून सन् ६३ से आरम्भ होकर २१ जून १९६४ तक थी। राहु और केतु षष्ठ और द्वादश में विद्यमान हैं। 'षष्ठेशस्यदशाविलापकरणी मृत्युस्तदंशोपगे' इत्यादि। अतः यह दशा मारक दशा थी। जीवन के अन्तिम भाग में जो मारक दशा आती है वह आयु रहते हुए भी मारक हो जाती हैं। शंखयोग• विद्यमान होने के कारण आयु का सामान्य योग ८१ वर्ष का है किन्तु इस मारक दशा के कारण ही आयु का पूर्ण योग प्राप्त नहीं हो सका है। केन्द्र में केवल शुभग्रह विद्यमान है और बलवान भी हैं, अतः जीवन में आने वाली सभी विघ्न बाधाओं को पार करते हुए श्री नेहरू जी स्वातंत्र्यसंग्राम तथा देश को समुन्नत बनाने में सफल हुए हैं। प्रबल शत्रुहन्तायोग होने के कारण ही उनके समस्त शत्रु विनष्ट और पराजित होते गए है।

कुण्डली के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि नेहरू जी भगवान के विशेष अंश से अवतीर्ण हुए थे और युग पुरुषो में एक महापुरुष थे। ऐसे ग्रहयोग में सदा ऐतिहासिक युग पुरुष उत्पन्न होते आए हैं। आबालवृद्ध का जैसा अपार प्रेम तथा श्रद्धा उनके निधन के अवसर पर देखी गई। वैसी ही कभी श्री राम और श्री कृष्ण आदि में भी रही होगी। अन्त में अपने स्वर्गीय नेता के प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

माँटी का कर्णधार

महेन्द्रनाथ दुबे,
सह-सम्पादक "प्रज्ञा"
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
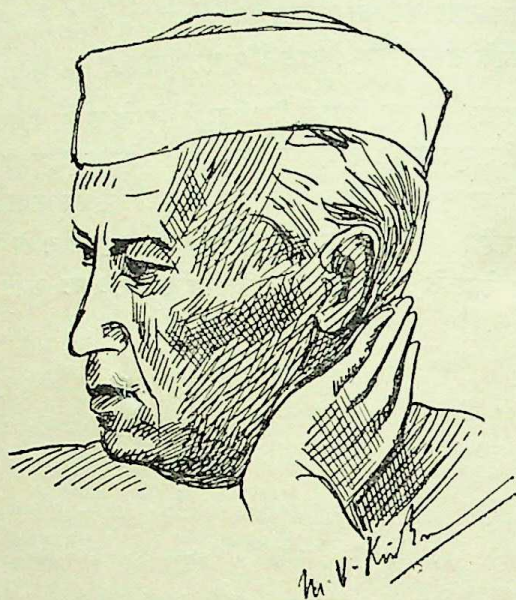
अधुनातम संस्कृति का आया बढ़ ओघ
पश्चिम के सागर का बौराया पानी सब
मर्यादा छोड़ चला बढ़ता दिगन्त को।
पूरब में पसर गया पश्चिम का पानी।
एक ज्वार आया बढ़ भरतों के देश में।
भरतों का देश—
'जिसने जगाया था वैदिकी ऋचा का मन्त्र अपनी प्रभा से,
जिसने दर्शाया था नर्तकी उषा का नृत्य अपनी कला से,
जिसने बहाया था सृष्टि का सतत स्रोत गंगा की धारा से,'
खा गया पछाड़ और आ गया अतल में पश्चिम के पानी के।
बन्धन पर बन्धन,
कसती गई धरा ;
गोरों के चरणों में श्यामा ने सिर पीटा ;

रेखाचित्र श्री एम० वी० कृष्णन् के सौजन्य से

कितनी विवशता थी।
जागी नव चेतना तो
जागा फिर ओज और चमकी कृपाण पुनः
श्यामा के कर में ;
भारत की लक्ष्मी, उस झांसी की रानी के ;
नाना ने समझाया—
'नीचे निरखते हो। यह तो स्वभाव नहीं
यह तो बस बन्धन है पश्चिम के पाश का
जिसने न छोड़ा है इतना भी रिक्त स्थान
जिसमें तुम देख सको कैसा आकाश है
कैसा प्रकाश है, भारत के भाल का।'
चमक उठे खंग फिर कुँवर के, जफर के
टूट गए बन्धन फिर दृढ़तर निर्मोक के
लेकिन दुर्दैव तुल्य–आपस की फूट
ने जीवन ही लिया लूट।
एक ज्वार आया फिर
प्यासे जन करते क्या—
और यह घोष नहीं रानी की घोषणा थी
रानी विक्टोरिया की।
मोह मुग्ध बन्धु अब तुष्ट हुआ इसमें ही
गले नाव भले, मगर मैं तो बड़ा हूँ अब, अपने ही बन्धु से।
नैया छटपटा उठी गहरे अतल में।
पीड़ा ने पंथ दिया
नैया को यत्न दिया
तिलक और गाँधी सा अनमोल रत्न दिया।
डोल गया इन्द्रासन, लंदन का सिंहासन
माँटी की नैया में गूँज उठा सोहर
माँटी ने आज जना माँटी की मोहर
माँटी का लाल बना जग की मशाल
गाँधी के आँगन में मोती का लाल।
बाल मुस्कान में गाँधी का पा दुलार
आ बैठा नैया पर माँटी का कर्णधार
माँटी की नैया पर माटी का कर्णधार।
उठ गई अनन्त में गाँधी की पतवार
सत्य औ अहिंसा की
नत हुई समग्र शक्ति

क्रूर कुटिल हिंसा की।
सब कुछ स्वच्छन्द,
हुआ भारत स्वतंत्र है।
"हाथ मजबूत करो अब तो जवाहर का
भार वहन कर सके अद्भुत पतवार का
गाँधी के स्वर्ग सुलभ अप्रतिम उपहार का
सत्य औ अहिंसा के व्यापक प्रसार का,"
भारत की जनता का उठता आह्वान है
शान्ति किरण बिखर रही, स्वर्णिम विहान है।
विश्व रंग मंच पर
झंझा का वेग है।
कोरिया से कांगों तक
मिश्र और हंगरी तक
नेफा लद्दाख तक
आँधी तूफानों का चलता कटु दौर है।
मानव के प्राणों का लगता न ठौर है।

"शान्ति दूत भारत का जग को वरदान है,"
कलहों से त्रस्त, पंचशील का महत्व मान,
शान्ति शील बना विश्व, करता कलगान है।
"भारत महान है।"

नेहरू महान है।
विश्व पारावर की भीषण इस झंझा का
शान्तिदूत नेहरू ही एक महायान है।
डोलता दिगन्त आज
बोलता न कंठ आज
सतत अश्रुधार का ही चलता प्रवाह है
विश्व छोड़ शान्तिदूत करता प्रयाण है।
विकल प्राण, प्राण है।
मलिन मुख निरखते सब
होंगे अब दर्शन कब ?
अहा हम न दे पाये कुछ भी उपहार।
आशावादी हैं हम।
आत्म की अमरता का,
प्यार की अमरता का
हमको अभिमान है।

भारत के जन-जन में नेहरू की जान है।"
हम कृतज्ञ भारतीय
नव युग के सुमनो का
मंजुल मधु-सिक्त हार
देते हैं स्मृति स्वरूप,
स्वीकृत हो है विशाल।
माँटी के क़र्णधार।

नेहरू जी और जन-मानस

जयनारायण राय
सह निदेशक, भौतिकी कक्ष, हिन्दी प्रकाशन समिति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

नेहरू जी इस युग के महान् व्यक्तियों में से थे। नोआखाली के काण्ड से लेकर मई, १९६४ तक नेहरू जी ने इतना कार्य किया कि सम्पूर्ण भारत नेहरूमय हो ग पार्लियामेण्ट की ईंट-ईंट से, दिल्ली की सड़कों से, प्रत्येक भारतवासी के मुँह से नेहरू की आ निकलती थी। विदेशों में भी नेहरू का असीम प्रभाव था। २७ मई को सहसा इस म विभूति के उठ जाने पर हमारे कानों को विश्वास न हुआ और जब विश्वास हुआ तो वेदना से कराह उठा। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। लगता था कि प्र व्यक्ति के हृदय और उनके बीच आत्मीयता का एक सूक्ष्म संबंध हो, किन्तु जब यह ब टूट गया तो ज्ञात हुआ कि हमारे परिवार से एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व गया। गाँधी जी के आशीर्वाद और लगन के परिणामस्वरूप प्राप्त नव स्वतंत्रता के स्व वायुमंडल में, पालन-पोषण का भारी उत्तरदायित्व नेहरू जी ने ही उठाया। अशि गरीबी, साम्प्रदायिकता और जातीयता आदि शत्रुओं से लड़ते हुए भी भ को उन्होंने उन महान् राष्ट्रों की श्रेणी में खड़ा किया जिनके नाम अंगुलियों पर गिन्ये सकते हैं। उनके प्रयासों से अन्तर्देशीय मामलों में भारत की आवाज़ मानवता और की आवाज़ समझी जाने लगी। उन्होंने देश में पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारम्भ कर को कुटीर और भारी उद्योगों से समृद्ध करने का प्रयत्न किया। देश भर में राष्ट्रीय प्र शालाओं की स्थापना कर विज्ञान की उन्नति के लिये प्राणपण से परिश्रम किया। ब के निकट ट्राम्बे में स्थित परमाणुविक ऊर्जा-केन्द्र इसका जीता जागता प्रमाण है। १७ तक देश के प्रधानमंत्री-पद पर रहकर उन्होंने देश को समुन्नत पथ की ओर अग्रसर कि

नहरू जी उच्च कोटि के विद्वान तथा राजनीतिज्ञ थे किन्तु जो उनमें सबसे बड़ा था वह था उनका देश-प्रेम। बापू सदैव कहते रहते थे कि देश-प्रेम में जवाहर के स दूसरा कोई नहीं। नेहरू जी के निधन के बाद राज गोपालाचारी ने निम्न शब्दों में व्यथा का उद्गार किया था, "नेहरू जी मुझसे १२ वर्ष छोटे थे किन्तु देश के लिये वे बारह सौ गुना अधिक थे…………।" प्रधान मंत्री की हैसियत से बहुत से लोग नेहरू की आलोचना भले करते रहें हों, उनकी वैदेशिक और आन्तरिक नीतियों से भले ही स न रहें हों किन्तु किसी भी व्यक्ति का उनसे व्यक्तिगत विरोध न था। उनके दर्शन के जनता दूर-दूर गांवों से दौड़ी आती थी। भले ही जनता जवाहर के शासन में पूरी स न थी, उनकी नीतियों की आलोचना करती थी, किन्तु वह देवोपम पुरुष जहाँ पहुँच था, चारो ओर से दर्शनार्थियों की भीड़ टूट पड़ती थी। दिसम्बर १९६१ में नेहरू जी विश्वविद्यालय में आए थे। दूसरी बार जनवरी ६२ के महीने में, वर्मा के प्रधान ऊनू भी थे। ऊनू को डिग्री प्रदान करने के अनन्तर जब वे चलने लगे तो सारी ज

उनकी कार की ओर दौड़ पड़ी। लोग उन्हें देखने के लिय इतने उत्सुक थे कि भीड़ को रोकना पुलिस की सामर्थ्य के बाहर हो गया। फिर दूसरे दिन विश्वविद्यालय के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज के प्रांगणा में ऊनू के भाषण के बाद जब नेहरू जी "भारत कला-भवन" देखने चले तो इतनी ही दूरी कार से पार करने में (लगभग २०० गज) आधे घंटें से अधिक समय लग गया। नेहरू जी की कार ज्यों ही दर्शकों के सामने निकलती थी, उनका हृदय विपुल उत्साह से भर उठता था।

बम्बई और कलकत्ता जैसे बड़े नगरों में जहाँ उच्च पदस्थ अनेक व्यक्ति इधर से उधर घूमा करते हैं और लोग उनकी ओर आँख उठकर देखते तक नहीं, विदेश और देश के अनेक शासक और नेता, राजा और मिल मालिक वहाँ इसी तरह से सड़कों से निकल जाते हैं और किसी को पता नहीं चलता किन्तु वैसे स्थानों पर भी, जहाँ केवल दुनियादारी का ही सिक्का चलता है, भारतीय जनता के हृदय-सम्राट नेहरू के पहुँचते ही जैसे सारा कारोबार बन्द हो जाता था और उनके दर्शन के लिये जनता टूट पड़ती थी। उनके प्रति जनता के अपूर्व प्यार का परिचय वे लोग अच्छी प्रकार पा चुके हैं जिन्होंने उनके शव-संस्कार में भाग लिया, या उनकी अस्थि कलश यात्रा में स्टेशनों पर या अपने स्थानीय नगरों में अस्थि-विसर्जन के समय मौजूद रहें हों। त्रिमूर्ति मार्ग से लेकर स्टेशन तक इतनी भीड़ थी कि शव का दर्शन करना तो असम्भव सा था। उस अवसर पर जनता का उपस्थित रहना अपने प्रिय प्रधानमंत्री के प्रति अपने प्यार का प्रदर्शन था। अपने विछुड़े हुए नेता के प्रति ये उनके हृदय के अन्तिम उद्गार थे। भला वे अपने प्यार को और किस भांति प्रगट कर सकते थे? कुछ लोग कहते हैं कि उनका इतना बड़ा सम्मान इस कारण हुआ कि वे सत्तारूढ़ थे। किन्तु क्या उन लोगों को पता नहीं कि दिल्ली से प्रयाग तक अस्थि कलश की यात्रा के समय, स्टेशनों पर अपरिमित संख्या में बच्चे, बूढे स्त्रियां तथा प्रत्येक वर्ग, जाति और उम्र के व्यक्तियों ने अपने असीम उत्साह से, अस्थि कलश के दर्शन के लिये प्रयत्न किया था? अनेक कष्टों को झेलते हुये लोगों ने केवल एक बार अस्थि कलश को, निहार भर लेना चाहा था। क्या ऐसा दृश्य इतिहास में बार-बार देखने को मिला है?

प्रायः विदेशियों को आश्चर्य होता था कि नेहरू जी का इतना प्रभाव भारतीय जन-मानस पर क्यों था। उन्होने इस तथ्य को कभी समझा नहीं कि इसका कारण उनका असीम देश-अनुराग और अपनी जनता से अपार प्रेम था। भारतीय जनता की सुख सुविधा के लिये उन्होंने अपना उत्सर्ग कर दिया। जीवन भर उन्होंने जनता को अपमानित करने वाले शासक और नेतृवर्ग को क्षमा नहीं किया। उनके इसी जन-प्रेम का कारण था कि जनता उन्हें अपने प्राणों के समान समझती थी।

किन्तु क्या नेहरू जी ने इस प्यार को, जनता के अपूर्व प्यार के महत्त्व को समझा था? हाँ, इसके महत्त्व को उन्होंने पूर्णरूपेण हृदयंगम कर लिया था। यह उनके जीवन की सबसे बड़ी निधि थी। सन् १९५४ में नयी दिल्ली में उन्होंने एकबार ऐसा ही व्यक्त किया था—

"मुझे भारत की जनता से इतना प्यार मिला है कि मैं उसका थोड़ा हिस्सा भी लौटा नहीं सकता क्योंकि प्यार जैसी चीज की कोई कीमत नहीं चुकाई जा सकती। बहुतों

को सराहा गया है, बहुतों को सम्मान मिला है किन्तु भारतीय जनता के हरवर्ग का मुझे इस कदर मिला है कि उसमें मैं डूब गया हूँ।"

नेहरू जी ने मन और प्राण दोनों से भारत को माना। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण इच्छ को, अपनी सम्पूर्ण शक्ति को और अपने शरीर को भारत के लिये "होम" कर दिया। उ अन्तिम इच्छा यही थी कि उनके शरीर का एक-एक कण भारत की पवित्र भूमि में मि उसका एक भाग बन जाए। उनका देश-प्रेम असाधारण था। वे अपने को भार परम्परा की एक कड़ी समझते थे। उन्होंने स्वयं कहा है, "मुझे इस पर गर्व है कि सब की भांति मैं भी भारत के प्राचीनतम इतिहास की कड़ी का एक हिस्सा हूँ।"

नेहरू जी भारत की संस्कृति और महिमा के महान गायक थे। उनका विचार कि कोई भी देश तभी उन्नति कर सकता है जब उसकी नीव अपनी संस्कृति और स परम्पराओं पर आधृत हो और उसका भवन वर्तमान विज्ञान और उद्योग से निर्मित उन्होंने सदैव हमें प्राचीन भारत की महानता से परिचित करा कर वर्तमान भारत को ब परिश्रम और लगन से महान बनाने की सीख दी। निम्नांकित उद्धरण से उनका सम जीवन हमारे सामने मुखर हो उठता है।

"मेरे रक्त में भारत था और उसमें ऐसी अनेक बातें थी जिनसे मैं पूर्ण प्रभा था। किन्तु फिर भी मैं उसके निकट एक आलोचक की भांति आया जो भारत के वर्त और भूत की कुछ बातों के लिए घृणा भर लाया था। कुछ अंशों तक यह कहा जा स है कि भारत की ओर मैं पश्चिम के कारण आकृष्ट हुआ और मेरा यह व्यवहार ठीक ही था जैसा कि एक सद्भावना युक्त विदेशी का हो सकता है। मैं भारत के दृष्टिकोण दिखावे को बदल कर उसे वर्तमान की नई पोशाक पहनाकर सम्मुख करना चाहता किन्तु फिर मेरे अर्न्तमन में प्रश्न उठा कि क्या मैं भारत को अच्छी तरह समझ गया यदि उन प्राचीन परम्पराओं को नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया होता तो क्या भारत जिस अ में हजारों वर्षों के बाद भी है, उसी अवस्था में रहता? अतएव, इसमें अवश्य वस्तु" है जिसके कारण इसका अब तक अस्तित्व है। वह कुछ क्या है?"

इसी "कुछ" को खोजने में व्यस्त नेहरू जी ने "भारत की खोज" की और इतना तन्मय हुए कि फिर उसमें एकाकार हो गए।

ऐसे युगपुरुष नेहरू जी को मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

———

हिन्दी की परिनिश्चित गणितीय शब्दावली

डॉ० व्रजमोहन
प्राचार्य, सेण्ट्रल हिन्दू कालेज
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

१—सामान्य बातें

पिछली दो दशाब्दियों से वैज्ञानिक शब्दावली ने विवाद का रूप धारण कर लिया है। तने बड़े देश में किसी भी महत्त्वपूर्ण समस्या के लिए यह एक सामान्य-सी बात है। कुछ कीर पंथियों का यह विचार है कि हमें किसी भी विदेशी भाषा से एक भी शब्द नहीं लेना ाहिए। केवल इतना ही नहीं, जो शब्द हमारी भाषा में घुल-मिल गए हैं, उन्हें भी ष्कासित कर देना चाहिए। ऐसे व्यक्ति तो 'लालटेन' के स्थान पर 'हस्तकाच-दीपिका' थवा 'प्रकाश-मंदिर' कहेंगे। ऐसे कुछ लोगों ने 'रेलवे-स्टेशन' का प्रर्याय 'भापगाड़ी-विराम-थल' बनाया है। इस विषय में इन पंक्तियों के लेखक को जो सबसे हास्यास्पद अनुवाद दखाई पड़ा, वह रेलवे सिगनल का था—

अग्नि-रथ-पथ-गमनागमने-मार्ग-प्रदर्शक-लौह-ताम्रपीठिका

इस प्रकार की मनोवृत्ति तो दृष्टि की संकीर्णता की द्योतक है। जिस प्रकार हम स्वस्थ मनुष्य उसे कहते हैं जो पर्याप्त भोजन पचा सके, उसी प्रकार हम स्वस्थ भाषा उसे कहेंगे जो अधिक से अधिक विदेशी शब्दों को आत्मसात कर सके। यदि हम अंग्रेजी भाषा से सारे जर्मन, ग्रीक और लैटिन शब्द निकाल बाहर करें तो उक्त भाषा में क्या रह जायगा। आज हमारे देश का बच्चा-बच्चा समझता है कि इंजन, रेडियो और स्टेशन किसे कहते हैं। यदि हम ऐसे शब्दों का भी अनुवाद करने लगें तो उक्त नए अनुवादों का देश में प्रचलन करना एक असाध्य कार्य होगा और ऐसे शब्द हमारे युवक विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर भार बन जाँयगे। इस प्रकार की योजना न आवश्यक है, न वांछनीय, न व्यावहारिक।

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि हमें एक भी वैज्ञानिक अथवा पारिभाषिक शब्द बनाने की आवश्यकता नहीं है। इन लोगों के विचार में हमें ऐसे समस्त शब्द अंग्रेजी भाषा से ले लेने चाहिए। हम यह मानते हैं कि ऐसी योजना में कुछ व्यावहारिक सुविधा अवश्य है। हमारे देश के जितने व्यक्ति और संस्थाएँ इस काम में लगी हुई हैं सबकी शक्ति इधर से मुक्त करके अधिक रचनात्मक कार्यों में लगाई जा सकती है; किन्तु समस्या के समस्त पक्षों पर विचार करके क्या हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उक्त योजना वांछनीय है। यदि हम थोड़ी देर के लिए देश के अशिक्षित लोगों का विचार छोड़ भी दें तो भी देश के अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों के लिए देशी शब्दों को याद करना सरल होगा या विदेशी शब्दों को, यह एक विचारणीय प्रश्न है। परीक्षण के लिए एक छोटे बच्चे को,

एक धोबी को और एक कहार को ले लीजिए और तब उनको निम्नलिखित तीन शब्दों और उनके हिन्दी पर्यायों को याद करने के लिए कहिए :

केमिस्ट्री — रसायन
क्वाड्रीलैटरल — चतुर्भुज
पर्पेण्डिकुलर — लम्ब

तब अगले दिन स्वयं इस बात की जाँच कर लीजिए कि उन्हें अंग्रेजी शब्द याद हैं या उनके स्वदेशी पर्याय। उपर्युक्त विचारधारा के समर्थक यह उत्तर दे किसी न किसी प्रकार हमारे विद्यार्थी सैकड़ों अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द याद कर हैं। यदि हम हिन्दी में कोई नई शब्दावली बनायेंगे तो हमारे छात्रों को उसे नए याद करना पड़ेगा और इतना परिश्रम व्यर्थ जायगा; किन्तु ये लोग इस बात को भूल हैं कि यह समस्या तो केवल वर्तमान पीढ़ी की ही है। अगली पीढ़ी के विद्यार्थी तो स ही हिन्दी के शब्द याद करेंगे। उन्हें तो अंग्रेंजी शब्दावली याद करने की आवश्यक नहीं रहेगी।

किन्तु उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के अतिरिक्त एक मध्यमार्ग भी है। जो हमारी भाषा में घुल-मिल गए हैं उन्हें निकाल देने की कोई आवश्यकता नहीं, चाहे वे स्व हों, चाहे विदेशी। हमें रेडियो, स्टेशन और फाउण्टेनपेन जैसे शब्दों का अनुवाद कर कोई आवश्कता नहीं है। इन ज्ञात और बहुप्रचलित शब्दों के स्थान पर नए शब्द निर्माण करना कोई बुद्धिमानी नहीं होगी। किन्तु जो अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द हमा में प्रचलित नहीं हुए हैं और जिनका अनुवाद सरलता से हो सकता है उनके स्वदेशी तो हमें बनाने ही चाहिए। हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि देश भर के लिए सार्वत्रिक शब्दावली तैयार हो जाय जो समस्त भारतीय भाषाओं में समान रूप से चल यदि नए शब्द संस्कृत मूल से निकाले जाँय तो पूरी आशा है कि वे सारे देश को स्व होंगे।

२—हिन्दी शब्दावली का इतिहास

जहाँ तक हमें पता है किसी भी भारतीय भाषा में वैज्ञानिक साहित्य के उत्पाद पहला प्रयास सन् १८८८ में बड़ौदा में हुआ था। गायक्वाड़ महाराजा सयाजीराव हेतु ५०,००० रुपए का दान किया था। कला भवन बड़ौदा के प्रोफ़ेसर गज्जर दिशा में स्तुत्य कार्य किया और कई वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित कीं; किन्तु जैसा कि योजना के वार्षिक प्रतिवेदन में स्वयं लिखा है, वैज्ञानिक शब्दावली के अभाव के योजना आगे नहीं बढ़ सकी। उन्होंने भारतीय भाषाओं की एक वैज्ञानिक शब्दावली करने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल नहीं हो पाए।

वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण का अगला प्रयास कलकत्ते की बंगीय साहित्य ने किया। उक्त संस्था ने रसायन, भूगोल और खगोलिकी की वैज्ञानिक शब्दा तैयार कीं, किन्तु तत्पश्चात् कुछ कठिनाइयों के कारण योजना को छोड़ देना पड़ा।

हिन्दी में इस प्रकार का पहला प्रयास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने किया सन् १८९८ में सभा ने एक वैज्ञानिक शब्दावली समिति की स्थापना की। समिति

सुधाकर द्विवेदी का सहयोग भी प्राप्त हुआ। आप इससे पहले भी हिन्दी में गणित कई पुस्तकें लिख चुके थे। आपने इस देश के सैकड़ों प्राचीन वैज्ञानिक शब्द इकट्ठे रक्खे थे और आवश्यकतानुसार कुछ नए पर्यायों का निर्माण भी किया था। 5 वर्ष के परिश्रम के पश्चात् समिति ने एक वैज्ञानिक शब्दावली प्रकाशित की समें गणित, दर्शन, भौतिकी, अर्थशास्त्र, भूगोल और ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों का ावेश था। शब्दावली का सम्पादन स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया था। सन् ३० में उक्त शब्दावली को दुहराने के हेतु सभा ने एक दूसरी समिति की स्थापना की। त समिति के अधिकांश सदस्य काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक थे। समिति ने १९३१ में उक्त शब्दावली को परिवर्तित और संशोधित रूप में प्रकाशित किया। यह दावली वैज्ञानिक लेखकों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है और उसके पर्याय आज भी धिकांश लेखकों को मान्य हैं।

आइए, हम तनिक उन सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करें जिन पर उन दिनों पारिभाषिक दों का निर्माण हुआ करता था। बहुत दिनों तक लेखकों की यह प्रवृत्ति रही कि अंग्रेजी रिभाषिक शब्दों को तोड़-मरोड़ कर हिन्दुस्तानी रूप दे देना और उन्हीं से काम चलाना। लेखकों ने "आक्सीजन" के लिए "अक्सजन" और 'ओषजन' का प्रयोग किया था। प्रकार के शब्दों में एक दोष तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ता है कि ऐसे शब्द अधिकतर र्थहीन होते हैं। अतः ये वैज्ञानिक जगत् का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाते। एक बात र भी है, ऐसे शब्दों से अन्य शब्दों की व्युत्पत्ति प्रायः सम्भव नहीं। ऐसे शब्दों से क्साइड, आक्सिडाइज, आक्सीजनेशन जैसे शब्दों के पर्याय नहीं बनाए जा सकते।

कुछ अन्य लेखकों ने उक्त प्रक्रिया में थोड़ा-सा हेर-फेर किया है। उन्होंने अंग्रेजी ब्दों के आधार पर ऐसे हिन्दी शब्द बनाए जिनसे उनका ध्वनि साम्य भी हो और जिनको स्कृत धातुओं के आधार पर कुछ अर्थ भी दिए जा सकें। हम यहाँ कुछ उदाहरण ते हैं।

cable	—	कईबल (अर्थात् जिसमें कई बल हों)
battery	—	बलकरी
circuit	—	सर्कित
graph	—	ग्राह
ammonia	—	आम
spiral	—	सर्पिल
nitrogen	—	नेत्रजन

किन्तु कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रही। यदि हम circuit का पर्याय 'सर्कित' ान लें तो circuitous का अनुवाद किस प्रकार करेंगे। यदि हम ammonia के लिए 'आम' का प्रयोग करें तो ammonium chloride को क्या कहेंगे।

सन् १९४४ में भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, ने इन छह वैज्ञानिक विषयों की शब्दावलियों को तैयार करने का काम हाथ में लिया—गणित, भौतिकी, रसायन, ज्योतिष, वानस्पतिकी और प्राणिकी। उक्त शब्दावली को पाँच भागों में प्रकाशित करने का विचार

था; परन्तु दो भागों के प्रकाशन के पश्चात् आर्थिक कठिनाइयों के कारण योजना को त्याग देना पड़ा ।

परिषद् की शब्दावली में यह प्रयास किया गया था कि आधारिक शब्दों के साथ-साथ व्युत्पन्न शब्दों के पर्याय भी दिए जाँय । हम यहाँ जैविकी (Biology) के एक शब्द परिवार का उदाहरण देते हैं—

back	—	पृष्ठ, पीठ
backbone	—	मेरुदण्ड, पृष्ठस्थि
back coupling	—	पुनरनुयोग
back electromotive force	—	उत्क्रम विद्युत वाह्य बल
background	—	पृष्ठभूमि
back lash (screw)	—	पिच्छट
back pressure	—	प्रतिदाव
back titration	—	पृष्ठ द्रव योजन

उक्त शब्दावली की एक विशेषता यह भी थी कि इसमें जैविकीय विज्ञानों के द्विपद वर्गीकरण का भी अनुवाद किया गया था । एक उदाहरण यह है—

acephalo-brachia	—	बाहु मस्तक हीन
acephalo-cardia	—	मस्तक हृदय हीन
acephalo chiria	—	कर मस्तक हीन
acephalo gastria	—	मस्तकोदर हीन

इस संबंध में प्रयाग की विज्ञान परिषद् का कार्य भी उल्लेखनीय है । पिछले चालीस वर्षों में उक्त परिषद् ने हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर ३० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की हैं । इतना अवश्य है कि इनमें से अधिकांश पुस्तकें प्रारम्भिक स्तर की हैं । किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह ऐसा समय था जब संसार हिन्दी प्रकाशनों के प्रति सर्वथा उदासीन था । अतएव विज्ञान परिषद् का तत्संबंधी कार्य स्तुत्य है ।

इस संबंध में सरस्वती विहार, नई दिल्ली, के डॉ० रघुवीर का कार्य तो चिरस्मरणीय है । आपने लगभग बीस वर्ष तक वैज्ञानिक शब्दावली की समस्या पर अथक परिश्रम किया और एक बृहत् वैज्ञानिक कोश का निर्माण किया जिसमें ज्ञान-विज्ञान के ६०० क्षेत्रों के पारिभाषिक शब्दों का समावेश है । यह ईश्वर का प्रकोप है कि उसने ऐसे मेधावी कार्यकर्त्ता को साठ वर्ष की अवस्था में ही एक मोटर दुर्घटना द्वारा हम लोगों से छीन लिया । आपके लिए हिन्दी वैज्ञानिक जगत् जितने भी आँसू बहाए थोड़े ही हैं ।

यहाँ हम रघुवीर की शब्दावली के आधारिक सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं

(१) प्रत्येक शब्द का एक ही प्रमुख अर्थ होना चाहिए,

(२) शब्द अर्थहीन नहीं होने चाहिए,

(३) अंग्रेजी के सरल शब्दों का अनुवाद सरल शब्दों द्वारा ही होना चाहिए, न कि संयुक्त शब्दों अथवा पदों द्वारा ।

यह तीन सिद्धान्त तो प्रायः समस्त शब्दावलियों में समान रूप से निहित रहते हैं क्योंकि इनमें मतभेद की गुंजाइश नगण्य है। किन्तु कहीं-कहीं पर इनके भी अपवाद दिखाई पड़ते हैं, जैसा हम आगे देखेंगे। प्राचीन शब्द 'सम' के अलग-अलग दस अर्थ हैं। आज यह सम्भव नहीं कि हम उक्त शब्द को इन अर्थों में से नौ से पृथक् कर दें; किन्तु यह प्रयत्न करना चाहिए कि हमारी शब्दावली में इस प्रकार का अर्थ वैभिन्न यथासंभव कम से कम हो। तीसरे सिद्धान्त के अपवाद भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होते हैं। Barter का प्राचीन पर्याय है 'भाण्डप्रतिभाण्ड'। यह पद बड़ा भारी-भरकम है, किन्तु इसका प्रयोग बहुत-सी प्राचीन पुस्तकों में हुआ है। अब यह सम्भव नहीं है कि इसे सारे प्राचीन साहित्य से निकाल बाहर कर दिया जाय। Budget के लिए हमारा पर्याय 'आयव्ययक' है क्योंकि कदाचित् उक्त अर्थ के लिए इससे छोटा कोई अर्थ उपलब्ध नहीं। एक ऐसा ही शब्द stationery के लिए 'लेखन सामग्री' है।

(४) प्रत्येक सरल असंयुक्त शब्द का आकार परिमित रखना चाहिए। साधारणतया दो या तीन अक्षरों का हो, किन्तु चार से अधिक का कदापि न हो।

उक्त तीन या चार अक्षरों में उपसर्गों, प्रत्ययों और शब्दों के मुख्य भाग—सभी की गणना हो जानी चाहिए। एक उदाहरण है—technology का पर्याय—'प्रौद्योगिकी' (प्र-उद्योग-इकी)।

विषयों के नामों के लिए इकी प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। हम यहाँ कुछ अन्य उदाहरण देते हैं :

Physics — भौतिकी
Geology — भौमिकी
Astronomy — खगोलिकी
Zoology — प्राणिकी
Biology — जैविकी

कुछ आलोचकों ने डॉ० रघुवीर का उपहास करने के लिए कुछ बहुत ही भद्दे और जटिल पदों का निर्माण किया है। हमने कुछ उदाहरण तो इस लेख के आरम्भ में ही दिए हैं। कुछ अन्य उदाहरण यह हैं :

रूमाल — मुखमार्जन वस्त्र खण्ड
सन्लाइट सोप — सूर्य प्रकाश स्वच्छक

(५) उपसर्गों और प्रत्ययों का अनुवाद उपसर्गों और प्रत्ययों द्वारा ही किया गया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

उपसर्ग :

peri	परि	perimeter	— परिमाप
		periphery	— परिणाह
anti	प्रति	anticorruption	— प्रतिभ्रष्टाचार
		antifriction	— प्रतिघर्षण

con	सं	concurrence	—	संगम
		continuous	—	संतत

प्रत्यय :

ate	इय	sulphate	—	शुल्बीय
		phosphate	—	भास्वीय
ide	एय	sulphide	—	शुल्बेय
		phosphide	—	भास्वेय
ic	इक	sulphuric	—	शुल्बारिक
		phosphatic	—	भास्वीयिक

(७-९) समस्त शब्दों का अनुवाद उनके व्युत्पन्नों और परिवारों के साथ ही करना चाहिए। एक उदाहरण यह है :

hydrogen	—	उदजन
hydrogenate	—	उदजनन
hydrogenated	—	उदजनित
hydrogenator	—	उदजनक
hydrogenic	—	उदजनिक
hydrogenide	—	उदजनेय
hydrogenite	—	उदजनक (उदजन जनक का संक्षेप)
hydrogenous	—	उदजन्य

(१०) प्राचीन संस्कृत शब्दों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यथासम्भव आधुनिक भारतीय भाषाओं के शब्दों को भी अपनाना चाहिए। कुछ उदाहरण:

cancellation of a common factor	—	अपवर्तन (प्राचीन)
invention	—	उपज्ञा (पाणिनि से)
expression	—	व्यंजक (मराठी से)
alternative	—	वैकल्पिक (हिन्दी और बंगाली से)

(११) नए विचारों के लिए नए प्रत्ययों का निर्माण करना चाहिए, जैसे—

धातु के लिए आतु :

chromine	—	वर्णातु
thorium	—	ह्रसातु

वाति (gas) के लिए आति :

helium	—	सूर्याति
nitrogen	—	भूयाति

(१२) कर्णकटु ध्वनियों और जटिल व्यंजकों का बहिष्कार करना चाहिए।

सामान्यतया डॉ० रघुवीर ने इस सिद्धान्त का पालन किया है, किन्तु हमें उनके कोश में कहीं-कहीं इस नियम के भी अपवाद दिखाई पड़े हैं, जैसे—

biaxial — द्व्यक्ष
blower — ध्मात्र

इन शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण करना दुष्कर है। हमें कुछ लोगों ने बताया है कि संस्कृत साहित्य में एक प्राचीन शब्द 'उपध्मानीय' आता है। हमारे लिए इसका शुद्ध उच्चारण करना कठिन है।

इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० रघुवीर ने इस देश की महान् सेवा की है। उनकी शब्दावली पूर्णतः स्वीकार नहीं हुई है; किन्तु उनका कोश ज्ञान की कई शाखाओं के पारिभाषिक शब्दों के लिए कामधेनु सिद्ध हुआ है। उनके अर्द्धपारिभाषिक शब्दों में से तो कई ऐसे हैं जो देश भर में चालू हो चुके हैं। उदाहरणार्थ—

circular — परिपत्र
commission — आयोग
technique — प्रविधि
constitution — संविधान
act — अधिनियम

किन्तु डॉ० रघुवीर के कोश में शब्दों की निर्माण पद्धति के अतिरिक्त दो मूलभूत बातें और भी ऐसी थीं जिनके कारण वैज्ञानिक जगत् ने उसका ऐसा स्वागत नहीं किया जैसी उन्हें आशा थी। एक तो यह थी कि उन्होंने ऐसे अंग्रेजी और उर्दू शब्दों का भी अनुवाद किया जो देश में बहुप्रचलित हो चुके हैं, जैसे

इंच — प्रांगुल
रेडियो — वितन्तु
तरबूज़ — कालिन्द
शर्बत — मिष्टोद

जो शब्द अपढ़ जनता तक पहुँच चुके हों उन्हें हटाया नहीं जा सकता। हम जनता से यह आशा नहीं कर सकते कि कुर्सी और मेज़ जैसे प्रचलित शब्दों के लिए 'आसन्दी' और 'पटल' जैसे अप्रचलित शब्द स्वीकार कर ले, चाहे ऐसे शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्य से ही क्यों न लिए गए हों।

दूसरी बात यह है कि डॉ० रघुवीर ने नामों का सर्वथा बहिष्कार किया है। वैज्ञानिक शिष्टाचार के नाते आविष्कारक का नाम आविष्कार के साथ जोड़ा जाता है; किन्तु डॉ० रघुवीर ने ऐसे आविष्कारों के लिए भी वर्णनात्मक पर्यायों का निर्माण किया है, जैसे—

Charles' Law —ताप परिमा सिद्धान्त
Fraunhoffer lines —राम रेखा
Cauchy's theorem (Complex Analysis) —समाकल शून्यता प्रमेय

यह मनोवृत्ति हमारी संस्कृति को आघात पहुँचाती है। कदाचित् यह भी एक कारण था जो डॉ० रघुवीर की शब्दावली केन्द्रीय सरकार को मान्य नहीं हुई।

इस दिशा में सबसे पहला आधिकारिक प्रयास केन्द्रीय सरकार ने १९५० में किया, जब उसने वैज्ञानिक शब्दावली मण्डल की स्थापना की। उक्त मण्डल पिछले चौदह वर्ष से कार्य कर रहा है और देश के समस्त भागों के वैज्ञानिकों के सहयोग से उसने विभिन्न विषयों की शब्दावलियों पर चालीस से अधिक पुस्तिकाएँ प्रकाशित की हैं। पहले तो यह कार्य शिक्षा मंत्रालय के प्रत्यक्ष तत्त्वावधान में हो रहा था। पर यह आवश्यक समझा गया कि एक स्वतंत्र संस्था की स्थापना की जाय जो उक्त कार्य का दायित्त्व सम्हाले। इस हेतु केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की स्थापना की गई।

मंत्रालय न प्रत्येक विषय की शब्दावली के लिए एक समिति बनाई। इस प्रकार छब्बीस समितियों का प्रार्दुभाव हुआ। शब्द निर्माण का कार्य आगे बढ़ता गया, किन्तु विभिन्न समितियों के कार्य में संयोजन का अभाव था। कभी-कभी ऐसा होता था कि एक ही शब्द के लिए विभिन्न समितियाँ विभिन्न पर्याय बना देती थीं। अतः यह आवश्यक समझा गया कि एक आयोग की स्थापना की जाय जो विभिन्न समितियों के कार्य में समन्वय स्थापित करे। इस हेतु अक्टूबर १९६१ में डॉ० दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में 'वैज्ञानिक शब्दावली आयोग' की स्थापना हुई। आयोग ने १९६२ की गर्मियों में शिमले में एक शब्दावली संगोष्ठी की। उक्त प्रयोग को आशातीत सफलता मिली। संप्रति गणित, भौतिकी और रसायन के बी० एससी० तक के शब्द परिनिश्चित हो चुके हैं। उक्त समस्त शब्दों को एक बृहत् शब्दावली के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

जब वैज्ञानिक शब्दावली मण्डल की स्थापना हुई थी, उसका उद्देश्य था हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण करना; किन्तु २७ अप्रैल १९६० को राष्ट्रपति ने एक आज्ञा द्वारा उक्त उद्देश्य का विस्तार कर दिया। उक्त आदेश का मुख्य आशय यह था कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक समान शब्दावली का निर्माण किया जाय। अतः अब हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि पारिभाषिक शब्दों के लिए ऐसे पर्याय निश्चित करें जो देश की समस्त भाषाओं में ज्यों के त्यों प्रयुक्त हो जाँय।

३—संकेतन और अक्षरांकन

वैज्ञानिक शब्दावली के साथ ही साथ हमें वैज्ञानिक संकेतन और अक्षरांकन की समस्याओं पर भी विचार करना है। इस विषय पर भी देश में बड़ा मत वैभिन्य दिखाई दे रहा है। पिछले दस-बारह वर्षों से तो दोनों ओर से तर्क-वितर्क भी चल रहे थे। किन्तु हाल ही में हमें आशा की एक किरण यह दिखाई दी है कि कदाचित् दोनों प्रकार के विचारकों में समझौता हो जाय। केन्द्रीय सरकार ने यह निश्चय कर लिया है कि संकेतन तो हमें ज्यों का त्यों अंग्रेजी से ले लेना चाहिए क्योंकि वह अब प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय बन चुका है; किन्तु शब्दावली हमें अपनी ही बनानी चाहिए। शब्दावली के क्षेत्र में भी हमें ऐसे बहुत से शब्द लेने होंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँच चुके हैं। इतना अवश्य है कि जहाँ कहीं आवश्यकता हो हम उन्हें थोड़ा बहुत संशोधित करके भारतीय

कलेवर प्रदान कर सकते हैं। इस संबंध में हम यहाँ वैज्ञानिक आयोग के उस निश्चय का उद्धरण देते हैं जो उन्होंने १८ नवम्बर १९६१ को किया था :

(१) जो अंक, संकेत और चिह्न गणित और अन्य विज्ञानों में प्रयुक्त होते हैं उन्हें उनके वर्तमान अंग्रेजी रूप में ही लिखना चाहिए। जो रोमन और ग्रीक अक्षर गणितीय संक्रियाओं में प्रयुक्त होते हैं उन्हें भी उसी रोमन अथवा ग्रीक रूप में लिखना चाहिए।

(२) अंग्रेजी और ग्रीक के कुछ शब्द स्थिरांकों का काम देते हैं, जैसे π, e, g, γ। इन्हें हिन्दी में भी इसी रूप में लिखना चाहिए।

(३) ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय अक्षरों क, ख, ग, घ, का प्रयोग करना चाहिए; किन्तु त्रिकोणमितीय संबंधों और सूत्रों आदि में अंग्रेजी और ग्रीक वर्णों को ही प्रयुक्त करना चाहिए।

इस निश्चय से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम उच्च ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय वर्णों का प्रयोग कर सकते हैं; किन्तु यहाँ तुरन्त एक कठिनाई आन पड़ती है। मान लीजिए कि हम निर्देशांक ज्यामिति (Coordinate Geometry) का कोई प्रारम्भिक साध्य प्रतिपादित कर रहे हैं और रेखाचित्र खींच कर उसमें नागरी अक्षरों का प्रयोग करते हैं। मान लीजिए कि हमें निम्नलिखित सूत्र देना है :—

$$PQ^2=(x_1-x_2)^2+(y_1-y_2)^2.$$
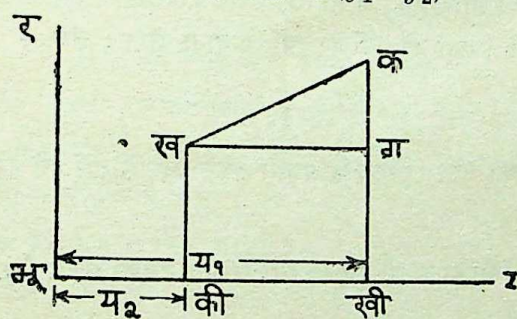
उपर्युक्त निश्चय के अनुसार हमें यह सूत्र तो रोमन वर्णों में ही देना होगा; किन्तु चित्र में अक्षर दिए गए हैं नागरी के क, ख, ग,··· । अब प्रश्न यह है कि आकृति के अक्षरों और सूत्र के संकेतों में किस प्रकार सामञ्जस्य बिठाया जायगा। स्पष्ट है कि कम से कम वैश्लेषिक ज्यामिति (Analytical Geometry) में तो हमें रोमन और ग्रीक वर्णों का ही प्रयोग करना पड़ेगा। इतना ही नहीं, ठोस मापिकी (Solid Mensuration) जैसे विषय में भी जो हम माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ाते हैं, हमें इस प्रकार के सूत्रों का प्रयोग करना पड़ता है :

$$\text{गोले का आयतन}=\tfrac{4}{3}\pi r^3$$

अतः यहाँ भी हमें रोमन और ग्रीक वर्णों का ही प्रयोग करना होगा। वज्रानुपात ज्यामिति (Cross-Ratio Geometry) में भी इस प्रकार के सूत्र बराबर आते रहते ह।

$$\frac{(x_1-x_2)\ (x_3-x_4)}{(x_2-x_3)\ (x_4-x_1)}=-1$$

2

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि उच्च ज्यामिति में हम भारतीय लिपियों के वर्णों का प्रयोग नहीं कर सकते। कदाचित् शुद्ध ज्यामिति (Pure Geometry) की कुछ पुस्तकों में यह सम्भव हो। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सुविधा इसी में होगी कि हम उच्च ज्यामिति के समस्त विषयों में रोमन और ग्रीक वर्णों का ही प्रयोग करें।

हम यहाँ उपरिलिखित तथ्यों का सारांश देते हैं :

(क) स्कूल अंकगणित में हमें अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग करना होगा जिन्हें अब लोग भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप कहने लगे हैं।

(ख) बीजगणित में हमें जिस दिन से विद्यार्थी उक्त विषय का आरम्भ करता है, उसी दिन से अंग्रेजी अक्षरों $a, b, c, \ldots x, y, z$ का प्रयोग करना होगा।

(ग) स्कूल की ज्यामिति में हम भारतीय अक्षरों का प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम त्रिभुजों को क ख ग और चतुर्भुजों को क ख ग घ से निरूपित कर सकते हैं।

(घ) त्रिकोणमिति में हमें त्रिकोणमितीय अनुपातों को उनके वर्तमान अंग्रेजी रूप में ही रखना होगा जैसे—

$$\sin A, \cos B, \tan C, \ldots\ldots\ldots$$

(ङ) कलन(Calculus) में हमें अवकलन (Differentiation) और समाकलन (Integration) के चिह्नों को ज्यों का त्यों अपनाना होगा : जैसे—

$$\frac{dy}{dx}, \int f(x)\, dx$$

(च) भौतिकी और रसायन के समस्त संकेत ज्यों के त्यों बने रहेंगे।

उदाहरणार्थ—

Silver के लिए पर्याय तो रजत रहेगा; किन्तु उसका संकेत Ag होगा जो argentum का संकेत है।

भारतीय भाषाओं की वैज्ञानिक पुस्तकों में water के लिए 'जल' का प्रयोग होगा किन्तु उसका संकेत H_2O रहेगा।

अतः रसायन के समस्त समीकरण अंग्रेजी रूप में ही दिए जायेंगे।

हम यहाँ प्रारम्भिक कलन के एक प्रश्न का हल देते हैं।

Find, from first principles, the differential co-efficient of $\sin x$.

We have

$$\frac{d}{dx}\sin x = \underset{h\to 0}{\text{Lt}}\ \frac{\sin(x+h)-\sin x}{h}, \text{ by definition}$$

$$= \underset{h\to 0}{\text{Lt}}\ \frac{h}{2}\cos\left(x+\frac{h}{2}\right)\sin\frac{h}{2}$$

$$=\underset{h\to 0}{\text{Lt}} \left\{ \cos\left(x+\frac{h}{2}\right)\frac{\sin\frac{h}{2}}{\frac{h}{2}} \right\}$$

$$\text{But } \underset{h\to 0}{\text{Lt}} \frac{\sin\frac{h}{2}}{\frac{h}{2}} = \underset{h\to 0}{\text{Lt}} \frac{\sin h}{h} = 1$$

$$\therefore \quad \frac{dy}{dx} = \underset{h\to 0}{\text{Lt}} \cos\left(x+\frac{h}{2}\right) = \cos x, \quad \text{i.e. } \frac{d}{dx}(\sin x) = \cos x.$$

हिन्दी में यह प्रश्न इस प्रकार लिखा जायगा :

आदि सिद्धान्तों से $\sin x$ का अवकल गुणांक निकालो।

इस प्रश्न के हल में केवल निम्नलिखित तीन पदों का ही हिन्दी अनुवाद किया जायगा—

We have — हमें प्राप्त है
by definition — परिभाषा से
but — किन्तु

शेष सारा हल ज्यों का त्यों बना रहेगा।

(४) जो शब्द अंग्रेजी से ले लेने हैं

(१) अंग्रेजी के कई प्रकार के बहुत से ऐसे शब्द हैं जिन्हें हम ज्यों का त्यों अपना सकते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण तो वह है जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कहा जाता है। शब्दावली आयोग ने ऐसे शब्दों का वर्गीकरण किया है :—

(क) तत्त्वों और संयोगों के नाम जैसे—
ऑक्सीजन, हीलियम, कार्बन-डाई-आक्साइड

(ख) नाप तौल के मात्रक, जैसे—
अर्ग, डाइन, कैलरी, एम्पियर, ओह्म, फैरेडे, पाउण्डल, सेण्टीमीटर, किलोग्राम

(ग) वानस्पतिकी, प्राणिकी और भौमिकी जैसे विज्ञानों की द्विपद नामावली।

(२) देश में बहुत से ऐसे शब्द प्रचलित हो गए हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय पद प्राप्त हैं। ऐसे शब्दों को भी हमें अपनाना ही होगा, जैसे—रेडियो, पेट्रोल, रडार, स्टेशन, रेल, इंजन, मोटर कार

(३) हमारे लिए नाम संबंधी शब्दों को भी अपनाना आवश्यक है, जैसे—

Raman Effect — रमन प्रभाव
Gibb's Phenomenon — गिब की परिवृत्ति
Newton's Theorem — न्यूटन का प्रमेय
Taylor's Series — टेलर की श्रेणी

विभक्ति वाले पदों में से हम विभक्ति को हटाकर उन्हें कुछ छोटा रूप दे सकते हैं। हम Newton's Theorem, को "न्यूटन प्रमेय," और Taylor's Series को "टेलर श्रेणी" कह सकते हैं।

यह उदाहरण है नामों से उत्पन्न पदों का। इसके अतिरिक्त कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे भी होते हैं जो नामों द्वारा उत्पन्न हुए हैं और स्वयं नाम बन गए हैं, जैसे :—

Laplacian — लैप्लासियन
Jacobian — जैकोबियन
Wronskian — रॉंस्कियन
Polonium — पॉलोनियम
Europium — यूरोपियम

ऐसे शब्दों को भी हमें आत्मसात कर लेना है। इतना अवश्य है कि यह सब नागरी लिपि में लिखे जाँयगे।

(४) कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनके अर्थ प्रयोग से बिल्कुल बदल गए हैं। इनके लिए भारतीय भाषाओं में ऐसे पर्याय स्थिर करना बहुत कठिन है जिनसे इनके पूरे-पूरे अर्थ निकल सकें। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं।

अंग्रेजी शब्द field के तीन अर्थ हैं। इसका साधारण अर्थ तो 'खेत' है ही। इसका एक अर्द्धपारिभाषिक अर्थ है जो field of force जैसे पद में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ हम field के लिए 'क्षेत्र' का प्रयोग करेंगे। अतएव field of force का पर्याय "बल क्षेत्र" होगा। किन्तु उच्च गणित की एक शाखा 'समुदाय सिद्धान्त' (Group Theory) है। उक्त विषय में field का एक उच्च पारिभाषिक अर्थ होता है जिसका द्योतक न तो "खेत" है, न "क्षेत्र"। उक्त अर्थ समझाने के लिए एक लम्बी चौड़ी परिभाषा देनी पड़ेगी। अतएव उस अर्थ में हम field के लिए "फील्ड" पर्याय ही निश्चित करेंगे।

अंग्रेजी शब्द normal के भी तीन अर्थ हैं। ज्यामितीय अर्थ में तो इसका अनुवाद है "अभिलम्ब"। जब हम normal form of equation जैसे पद का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय ऐसे समीकरण से होता है जो किसी मानक अथवा प्रतिमान के अनुरूप हो। उक्त अर्थ न "साधारण" से व्यक्त होता है न "असाधारण" से। वह तो दोनों के बीच की स्थिति है। अतएव उक्त अर्थ के लिए एक नया शब्द "प्रसामान्य" अथवा "प्रसम" बनाया गया है। किन्तु normal का उपर्युक्त दोनों अर्थों के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ भी है जो सांख्यिकी के पद normal distribution में दिखाई पड़ता है। उक्त अर्थ की व्याख्या करने के लिए कई वाक्यों का प्रयोग करना पड़ेगा। अतएव उक्त अर्थ के लिए हम normal को "नॉर्मल" ही कहेंगे।

गणित का एक शब्द vector भी इसी प्रकार का है। इसका साधारण अर्थ तो ऐसी राशि है जिसमें दिशा भी विद्यमान हो। इस संकल्पना का द्योतक शब्द है "सदिश"। अतएव उक्त अर्थ के लिए यह शब्द बिल्कुल उपयुक्त रहेगा। किन्तु यदि हम vector space का अनुवाद करना चाहें तो उक्त शब्द से काम नहीं चल सकता। इस अर्थ में

दिशा का कोई प्रश्न नहीं है। इसका अर्थ तो एक व्याख्यात्मक परिभाषा द्वारा ही दिया जा सकता है। अतः हम उक्त अर्थ के लिए "वेक्टर" शब्द ज्यों का त्यों अपनाए लेते हैं। इस प्रकार हमें vector field को हिन्दी में "वेक्टर फील्ड" ही लिखना होगा।

(४) कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण शब्द ऐसे होते हैं जो खगोलिकीय पिण्डों (astronomical bodies), ठोसों, उपकरणों, वक्रों अथवा विषयों को द्योतित करते हैं। ऐसे शब्दों के लिए हमें जहाँ कहीं भी कोई प्राचीन शब्द दिखाई पड़ा है, हमने उसे स्वीकार कर लिया है। खगोलिकीय पिण्डों के लिए हमें जब कोई प्राचीन शब्द नहीं मिला तो हमने अंग्रेजी शब्द को अपना लिया है। जहाँ कहीं प्राचीन शब्द उपलब्ध है भी, हमने विकल्प रूप से उसका संगत अंग्रेजी शब्द भी दे दिया है। जैसे :—

acubens (canceri) — अकूबेन्स (कर्क)
delta (—andromeda) — डेल्टा (--चतुर्थ देवयानी)
kiffa borealis (librae) — किफ्फा बोरियैलिस (—द्वितीय तुला)
porrima (verginis) — पोरिमा (तृतीय कन्या)
shelyak — लि० (=लिप्यन्तरण)
sualocin — लि०

वक्रों और ठोसों के लिए जब कभी हमें कोई प्राचीन शब्द नहीं मिला तो हमने यथा-साध्य एक नए उपपुक्त शब्द का निर्माण किया है। किन्तु जब कभी हमें यह भान हुआ है कि नया शब्द उक्त संकल्पना का ठीक-ठीक अर्थ नहीं देता तो हमने विकल्प रूप में अंग्रेजी शब्द दे दिया है। जैसे—

helix — कुण्डलिनी
spiral — सर्पिल
parabola — परवलय, लि०
cone — शंकु, लि०
cylinder — बेलन, लि०
sphere — गोला,

सिलिण्डर के लिए प्राचीन शब्द "बेलन" है जो संस्कृत "वेल्लन" से निकला है। इस शब्द को 'सिलिण्डर' के लिए प्रयुक्त करने में एक कठिनाई है। मान लीजिए कि हम ऐसे ठोस का वर्णन कर रहें हैं जो बहुत कुछ हमारे रसोईघर वाले बेलन के ही आकार का है। उसके बीच का भाग सिलिण्डराकार है और दानों छोरों के भाग शंक्वाकार (conical) हैं, तो हमें इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करना पड़ेगा—

"एक बलन के बीच का भाग बेलनाकार और सिरों के भाग शंक्वाकार हैं।" अतएव स्पष्ट है कि हम "सिलिण्डर" के लिए समस्त स्थानों पर "बेलन" का प्रयोग नहीं कर सकते।

उपकरणों के विषय में हमने यह नीति अपनाई है कि यदि किसी उपकरण का नाम देश में प्रचलित हो गया है तो हमने उसका अंग्रेज़ी नाम और हिन्दी पर्याय दोनों दे दिए हैं, जैसे—

thermometer — लि०, तापमापी
barometer — लि०, वायुदाबमापी
abacus — लि०, गिन्तारा

अन्य प्रकार के उपकरणों के विषय में हमने यह नीति निर्धारित की है कि यदि किसी उपकरण का कोई सार्थक नाम है जो उपकरणों के किसी वर्ग को द्योतित करता है तो हमने उसका अनुवाद कर दिया है। किन्तु विशेषित उपकरणों के नाम हमने अंग्रेजी से ज्यों के त्यों ले लिए हैं, जैसे—

slide rule — लि०
T-Square — लि०
gyrostat — घूर्णाक्षस्थायी
magic lantern — चित्रप्रक्षेपी लालटेन
theodolite — लि०

ऐसे उपकरणों के विषय में, जिनके नाम वर्णनात्मक हों, हमने दोनों सिद्धान्तों का समन्वय कर दिया है, जैसे—

diving well — विमज्जन कोष्ठ, लि०
manometer — दाबान्तरमापी, लि०
campass — दिक्सूचक, लि०

विषयों के नामों का हमने सर्वत्र अनुवाद किया है। किन्तु हम यह चाहते हैं कि हमारे छात्र विभिन्न विषयों के अंग्रेजी नामों से भी परिचित रहें; ताकि यदि उन्हें कभी उक्त विषयों पर अंग्रेजी में दिए गए व्याख्यानों को सुनने का अवसर मिले तो वे कम से कम शीर्षकों का अर्थ अवश्य समझ लें। अतएव विकल्प रूप में हमने विषयों के अंग्रेजी नाम भी दे दिए हैं, जैसे—

Differential Calculus — अवकलन गणित, लि०
Commutative Algebra— क्रमविनिमय बीजगणित, लि०
Trigonometry — त्रिकोणमिति, लि०

किन्तु यहाँ एक अनुबंध लगा दिया गया है। वह यह कि भारतीय भाषाओं में पुस्तकें लिखने में सदैव विषयों के भारतीय नामों का ही प्रयोग किया जाय।

(५) जो शब्द नए बनाने हैं

नियमतः हमने संकल्पनात्मक शब्दों का अनुवाद किया है या यों कहिए कि जो शब्द केवल संकेतात्मक ही नहीं है वरन् जिनके कुछ अर्थ भी होते हैं, उन्हें हमने अनूदित किया है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं—

convergence — अभिसरण
divergence — अपसरण
objective — वस्तुनिष्ठ

subjective	—	व्यक्तिनिष्ठ
gyration	—	परिभ्रमण
revolution	—	परिक्रमण
rotation	—	घूर्णन
spinning	—	चक्रण

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही विचार के लिए भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न पारिभाषिक पर्याय दे देते हैं। यदि हम अपनी भाषाओं में इनमें से प्रत्येक के लिए एक विभिन्न पर्याय दें तो इससे लाभ कुछ नहीं होगा। उल्टे हमारी शब्दावली का आकार बढ़ जायगा। अतः हमने ऐसे शब्दों के लिए एक ही पर्याय निश्चित किया, जैसे—

point of accumulation	—	cluster point
	—	limiting point
	=	गुच्छ बिन्दु
ideal line	—	line at infinity
	=	अनन्तस्थ रेखा
retardation	—	deceleration
	=	मन्दन
quadric equation	—	quadratic equation
	=	द्विघात समीकरण
anti-clockwise	—	counter-clockwise
	=	वामावर्त
non-algebraic number	—	transcendental number
	=	अबीजीय संख्या

इसके विपरीत कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे भी हैं जिनके विभिन्न संदर्भों में भिन-भिन्न पर्याय दिए जाते हैं, जैसे—

1.	congruent triangles	—	सर्वांगसम त्रिभुज
	congruent numbers	—	संशेषी संख्यायें
	congruent transformation	—	संवादी रूपान्तर
2.	fixed (in value)	—	निश्चित, नियत
	fixed (in position)	—	स्थिर
3.	period (periodic time)	—	आवर्तन काल
	duration	—	अवधि
	time	—	समय
	group (of digits)	—	आवर्तक
	(of a function)	—	आवर्तक

4. balance — १. शेष
   २. तुला
   ३. संतुलित होना
5. central section — केन्द्रीय परिच्छेद
   central conic — सकेन्द्र शांकव
6. range — १. परास (projection)
   २. परिसर (statistics)
   ३. माला (points)

कुछ प्राचीन शब्द आधुनिक आवश्यकताओं के लिए अनुपयुक्त हो गए हैं। अतः उनके स्थान पर नए शब्दों का निर्माण किया गया है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं :

(१) "क्रिया" शब्द प्राचीन समय से action और operation दोनों के लिए प्रयुक्त होता आ रहा है। अब यह आवश्यक हो गया है कि इन दोनों शब्दों के लिए दो विभिन्न पर्याय निर्धारित किए जाँय। चूँकि "क्रिया और प्रतिक्रिया" बहुत ही प्रचलित पद हैं, यह सम्भव नहीं है कि क्रिया को action के अर्थ से अलग कर दिया जाय। अतः operation के लिए एक नए शब्द "संक्रिया" का निर्माण किया गया है।

(२) सैकड़ों वर्ष से "सम कोण', right angle के अर्थ में प्रयुक्त होता आ रहा है किन्तु गणित की कुछ प्राचीन पुस्तकों के अवलोकन से पता चलता है कि "सम" अथवा "सं" दस विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। यह तथ्य हम निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं।

1. equal

समभुजीय	equilateral
सम अतिपर्वलय	equilateral Hyperbola
समकौणिक	equiangular
समता	equality

2. regular

सम बहुभुज	equilateral and equiangular polygon
सम चतुष्फलक	regular tetrahedron
सम बहुफलक	regular polyhedron

3. of even surface

समतल	plane, plane surface
समतली	coplanar
समतल भूमि	even ground

4. uniform (constant)

सम त्वरण	uniform acceleration
सम दाब	uniform pressure

5. uniform (of uniform material)

सम छड़	uniform rod
सम रज्जुका	uniform catenary

6. uniform (of the same form)

सम अभिसृति	uniform convergence
समरूपता	uniformity

7. pertaining to 1 :

संरैखिक	colinear
संवृत्तीय	concyclic

8.

सम संख्या	even number
विषम संख्या	odd number

9. alike

सम समान्तर बल	like parallel forces

10. right

सम कोण	right angle
सम शंकु	right cone
सम सूचीस्तम्भ	right pyramid

यह आवश्यक था कि "सम" शब्द को अर्थों की इस भूल-भूलैया से बाहर निकाला जाय। अतः "लम्बकोण" शब्द का निर्माण किया गया जो right angle के लिए अधिक अभिव्यंजक है। किन्तु चूँकि "सम कोण" शब्द प्राचीन गणितीय पुस्तकों में सैकड़ों बार प्रयुक्त हो चुका है, अतः इससे सर्वथा पीछा छुड़ा लेना असम्भव है। इसलिए विकल्प रूप में इसको भी दे दिया गया है।

(३) "गणना" शब्द प्राचीन पुस्तकों में counting और calculation दोनों के लिए प्रयुक्त होता आ रहा है। किन्तु calculation में केवल गिनने की संक्रिया ही नहीं की जाती। इसमें जोड़ना, घटाना, गुणा करना आदि अनेक क्रियाओं का समावेश होता है। अतएव calculation की संकल्पना के लिए एक नया शब्द 'परिकलन' बनाया गया है। यह शब्द अधिक उपयुक्त है क्योंकि हमने calculus का पर्याय "कलन" निश्चित किया है।

(६) शब्द निर्माण की विधियाँ

नए शब्दों के निर्माण के लिए राष्ट्रपति ने अपने १८ नवम्बर सन् १९६१ के आदेश में निम्नलिखित दो आधारित सिद्धान्त निश्चित किए थे—

(१) पर्यायों के निर्धारण में शब्दों की सरलता और बोधगम्यता और अर्थों की यथार्थता पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। शुद्धिवाद के नाम पर कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(२) यह प्रयास करना चाहिए कि यथासाध्य समस्त भारतीय भाषाओं में एक से पर्याय प्रयुक्त हों। इस हेतु ऐसे शब्द निर्धारित करने चाहिए जो—

(क) अधिक से अधिक प्रादेशिक भाषाओं से प्रयुक्त होते हों,

(ख) संस्कृत धातुओं से निकले हों।

हमने इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर नए शब्दों का निर्माण किया है। अर्थों की यथार्थता के संबंध में हम यहाँ दो तीन उदाहरण देते हैं :

अवकलन समीकरणों के संबंध में एक पद आता है particular integral जो बिल्कुल गलत है। वस्तुतः इसके स्थान पर होना चाहिए particular solution. अतएव हमने इसका अनुवाद 'विशिष्ट समाकल' नहीं किया है, वरन् 'विशिष्ट साधन' किया है, यद्यपि हमने integral का पर्याय 'समाकल' निर्धारित किया है।

खगोलिकी का एक पद है equation of time जिसमें equation शब्द का प्रयोग गलत है। वास्तव में इसके स्थान पर होना चाहिए था equaliser of time. Equation का पर्याय समीकरण है, किन्तु हमने उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर equation of time के लिए निर्धारित किया है "समय समीकार।"

इसी प्रकार का एक गलत पद है modulus of elasticity, जो वास्तव में होना चाहिए coefficient of restitution। चूँकि restitution का पर्याय 'प्रत्यवस्थान' है, अतः हमने उक्त पद के लिए 'प्रत्यवस्थान गुणाँक' निर्धारित किया है।

कभी-कभी हमारे सम्मुख ऐसे प्रचलित शब्द भी आ पड़ते हैं जो उन अर्थों को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करते जिनके लिए वे प्रयुक्त होते हैं। ऐसी अवस्था में हमने नए शब्दों का निर्माण करने में कोई संकोच नहीं किया है। Nerve के लिए प्रचलित शब्द 'स्नायु' है, किन्तु हमने इसके स्थान पर 'तन्त्रिका' निश्चित किया है जो अधिक बोधगम्य है और उक्त अर्थ के लिए अधिक उपयुक्त भी। इसी प्रकार हमने heat के लिए 'ताप' शब्द को छोड़कर 'ऊष्मा' निर्धारित किया और 'ताप' को temperature का पर्याय माना है।

जो शब्द हमने प्रादेशिक भाषाओं से लिए हैं उनके हम यहाँ केवल दो एक उदाहरण देंगे। Bracket के लिए बंगाली शब्द 'बंधनी' है और हिन्दी शब्द 'कोष्ठक'। और दोनों शब्द बहुप्रचलित हैं। हमने दोनों को अपना लिया है। Acknowledgement के लिए मराठी में 'पावती' प्रचलित है और net (जैसे net profit) के लिए कन्नड़ में 'निवल'। हमने इन दोनों को स्वीकार कर लिया है।

बहुत से शब्द अपने परिवारों के साथ-साथ चलते हैं। हमने ऐसे परिवारों पर एक साथ विचार किया है ताकि हमारी शब्दावली में उसी प्रकार अर्थों के सूक्ष्मान्तर व्यक्त हो जाँय जैसे बहु विकसित अंग्रेजी शब्दावली में। हम यहाँ ऐसे परिवारों के पाँच उदाहरण देते हैं: दो उच्च पारिभाषिक, एक अर्द्ध पारिभाषिक और दो अपारिभाषिक:—

1. converse — विलोम
   inverse — प्रतिलोम
   reciprocal — व्युत्क्रम
   reverse — उत्क्रम

2\. bound — परिबंध
boundary — परिसीमा
circumference — परिधि
limit — सीमा
perimeter — परिमाप
periphery — परिरेखा
contour — कण्टूर

3\. appliance — साधित्र
apparatus — उपकरण
device — युक्ति
equipment — उपस्कर
implement — औज़ार
instrument — यंत्र
machine — मशीन, यंत्र
machinery — मशीनरी, यंत्रावली
mechanism — (१) यांत्रिकता (२) कार्यविधि
plant — संयंत्र
tool — औज़ार

4\. blue-print — ब्लूप्रिंट
chart — चार्ट
diagram — आरेख
drawing — रेखाचित्र
figure — आकृति, चित्र
flow-sheet — प्रक्रमचित्र
graph — ग्राफ, लेखाचित्र, आलेख
map — मानचित्र, नक्शा
outline — रूपरेखा
photo — फ़ोटो
plan — मापचित्र
sketch — रेखाकृति, रेखाचित्र
trace, tracing — अनुरेख, अनुरेखन

5\. code — कोड, संकेतलिपि
notation — संकेतन
pointer — संकेतक
sign — चिह्न
signal — संकेत, सिग्नल

symbol — संकेत, प्रतीक
symbolism — प्रतीकवाद
token — प्रतीक

नए शब्दों के निर्माण के लिए हमने तीन विधियों का प्रयोग किया है।

(क) प्रत्यय विधि—हमने कुछ मौलिक शब्दों में मापी, आत्मक, आभ जैसे प्रत्यय लगाकर नए शब्द बनाए हैं, उदारणार्थ—

thermometer — तापमापी
manometer — दाबान्तरमापी
barometer — वायुदाबमापी
experimental — प्रयोगात्मक
harmonical — हरात्मक
numerical — संख्यात्मक
spheroid — गोलाभ
cuboid — घनाभ
prismoid — प्रिज़्माभ

(ख) उपसर्ग विधि—कुछ शब्दों में उपसर्ग लगाए गए हैं, जैसे सं, प्रति, अर्द्ध।

उदाहरणार्थ—

concurrent — संगामी
concyclic — संवृत्तीय
conjugate — संयुग्मी
antiparallel — प्रतिसमान्तर
anti-derivative — प्रतिअवकलज
antilogarithm — प्रतिलघुगणक
hemisphere — अर्द्धगोला
semicircle — अर्द्धवृत्त
semi-major axis — अर्द्धदीर्घाक्ष

(ग) संयोजन विधि—कुछ शब्द धर्मी, दर्शी, क्रम जैसे शब्दांश जोड़कर बनाए गए हैं। उदाहरणार्थ—

radio-active — रेडिय-धर्मी
transparent — पारदर्शी
pay scale — वेतनक्रम
self-corresponding points — स्वसंगत बिन्दु
homographic axis — व्रजानुपाती अक्ष

परमाणु रचना की खोज

डॉ० नन्दलाल सिंह
अध्यक्ष, स्पेक्ट्रोस्कोपी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही रसायनशास्त्रियों को आभास हो गया था कि परमाणु को समांशी ठोस गोली के सदृश मानना ठीक नहीं। गोली का रूपक देकर पदार्थ-रचना सम्बन्धी अनेक समस्याएँ हल की गई थीं, परन्तु यह भी धारणा बँध गई थी कि परमाणु समांशी ठोस गोली के समान कदापि नहीं माना जा सकता। ऐसा भ्रम उन्हें कई कारणों से उत्पन्न हुआ और उन्हीं कारणों को समझने की चेष्टा में नई-नई उपलब्धियाँ हुईं जिनसे अनेक धारणाओं का स्पष्टीकरण हुआ और परमाणु रचना सम्बन्धी विचारों का विकास हो सका।

यदि परमाणु समांशी ठोस गोली है तो किन्हीं दो गोलियों को बाँधकर रखने के लिए कोई साधन होना आवश्यक है। यदि गोलियों में हुक हो तो दोनों को जोड़ा जा सकता है; अन्यथा गोलियाँ जुड़ेंगी कैसे? अणु के भीतर परमाणु बिना किसी ऐसे लगाव के किस प्रकार जुटे रह सकते हैं? रसायनशास्त्री इस लगाव को रासायनिक बन्ध (chemical bond) कहते हैं। रासायनिक क्रियाओं से पता चला कि विभिन्न तत्त्वों की संयोजकता और संयोजन शक्ति भिन्न होती है जो उन्हीं के परमाणुओं के रासायनिक बन्ध और बन्धन-शक्ति पर निर्भर होती है। किसी तत्त्व की संयोजकता (valency) से हमें विदित होता है कि उसका परमाणु हाइड्रोजन अथवा उसके समतुल्य तत्त्व के कितने परमाणुओं को अपने साथ संगठित कर सकता है। हम देखते हैं कि जल के अणु H_2O में आक्सीजन का एक परमाणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं के साथ जुटा रहता है। अतः आक्सीजन की संयोजकता २ होती है। मिथेन के अणु CH_4 में कार्बन के साथ हाइड्रोजन के चार परमाणु बँधे रहते हैं। अतः कार्बन की संयोजकता ४ होती है। कार्बन-डाई-आक्साइड में कार्बन के साथ आक्सीजन के दो ही परमाणु संगठित पाए जाते हैं क्योंकि आक्सीजन की संयोजकता २ है और कार्बन की ४। अमोनियम NH_3 में नाइट्रोजन के साथ हाइड्रोजन के ३ परमाणु पाए जाते हैं, अतः नाइट्रोजन की संयोजकता ३ होती है। इसी प्रकार अनेक रासायनिक यौगिकों के अध्ययन से पता लगता है कि विभिन्न तत्त्वों की संयोजकता तथा उनकी संयोजन शक्ति भिन्न होती है और उनकी संयोजकता परमाणु सारिणी के वर्ग-विभाजन के अनुकूल क्रमबद्ध पाई जाती है।

आवर्त सारिणी के किसी ऊर्ध्व स्तम्भ में एक वर्ग के तत्त्वों की संयोजकता समान पाई जाती है। शून्य समुदाय (zero group) के तत्त्व जैसे हीलियम, निआन, आर्गन, क्रिप्टान, ज़ेनान की संयोजकता शून्य होती है। इन साधु गैसों का संयोजन किसी अन्य तत्त्व से नहीं होता। प्रथम स्तम्भ के तत्त्वों की संयोजकता १, द्वितीय स्तम्भवालों की २, तृतीय स्तम्भ

वालों की ३, और चतुर्थ स्तम्भवालों की प्रायः ४ होती है। सामान्यतः परमाणुओं का संगठन पारस्परिक आकर्षण से होता है और यह आकर्षण बल वैद्युतिक पाया जाता है। अतः एक धनात्मक परमाणु अपनी ओर एक ऋणात्मक परमाणु को ही खींच सकता है। साधारण रासायनिक यौगिक धातु तत्त्व और अधातु तत्त्वों के संगठन से बनते हैं। प्रथम तीन वर्गों के तत्त्व धातु तत्त्व होते हैं और इनकी संयोजकता धनात्मक होती है। ५वें, ६ठें, और ७वें समुदाय के तत्त्व अधातु तत्त्व हैं इनकी संयोजकता ऋणात्मक होती है। फ्लोरीन, क्लोरिन, ब्रोमीन, आयोडीन आदि ७वें स्तम्भ के तत्त्वों की ऋणात्मक संयोजकता हाइड्रोजन की अपेक्षा १ होती है। ६ठें स्तम्भवालों की २ और ५वें समुदायवालों की उसी हिसाब से ३ पाई जाती है। तत्त्वों की संयोजकता (valency) और परमाणुओं के बन्धन (bond) परमाणु की रचना पर निर्भर करते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर होगा।

इस तरह के अणु रासायनिक क्रिया से एक अथवा अधिक अणुओं में बदल जाते हैं। लकड़ी के भीतर सेलुलोस नामी बड़ा अणु पाया जाता है जिसके भीतर कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के परमाणु होते हैं। जलते समय हवा से आक्सीजन मिलता है और सेलुलोस कार्बन-डाई-आक्साइड और जलवाष्प में बदल जाता है। अणु के परिवर्तन में वही परमाणु अपनी बन्धन-शक्ति के अनुसार अन्य परमाणुओं के साथ नियमानुकूल जुड़कर दूसरे अणु बनाता है। कुछ बन्धन अन्य की अपेक्षा दृढ़ पाए जाते हैं। बन्धन जितना ही सुदृढ़ होता है यौगिक उतना ही स्थायी बनता है। ढीले बन्धन से अस्थायी यौगिक बनते हैं। अस्थायी यौगिक सरलता से टूट सकते हैं और विघटन क्रिया से शक्ति, ताप अथवा विद्युत रूप में निकलती है। किन्तु अणु की परिवर्तन क्रिया में कभी तो शक्ति निकलती है और कभी बाहरी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह रासायनिक क्रिया के प्रारम्भिक और अन्तिम अणुओं की दृढ़ता पर निर्भर है। इसीलिए कुछ रासायनिक क्रियाओं में बाहरी ताप अथवा विद्युत् शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और कुछ क्रियाओं में ताप अथवा विद्युत शक्ति बाहर निकलती है।

हम कई प्रकार की शक्तियों का उपयोग अपने जीवन में करते हैं। इन सब शक्तियों का प्रारंभिक श्रोत सूर्य है। वनस्पतियाँ सूर्य के प्रकाश को ग्रहण करती हैं और प्रकाश के प्रभाव से उनमें कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के यौगिक बनते हैं। कार्बन परमाणु और हाइड्रोजन परमाणु के बीच बन्धन ढीला होता है। इस अस्थायी बन्धन के टूटने से शक्ति उपलब्ध होती है। ऐसा ही बन्धन गैसोलीन, चीनी, लकड़ी आदि के अणुओं में पाया जाता है। इनके जलते समय इस अस्थायी बन्धन के टूटने से शक्ति मिलती है और अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ बन्धन कार्बन और आक्सीजन के बीच बनता है जिसमें शक्ति कम पाई जाती है। आक्सीजन अणु में दो समान परमाणु आक्सीजन के होते हैं। उनके बीच बन्धन ढीला रहता है। उनके टूटने से अधिक शक्ति निकलती है और सुदृढ़ अणु हाइड्रोजन और आक्सीजन के सुसंगठन से बनता है जिसमें बाहरी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। रासायनिक क्रिया के प्रारम्भिक और अन्तिम अणुओं की बन्धन-शक्ति के अन्तर के बराबर ही शक्ति उपलब्ध होती है। यंत्रों के चलाने में और ताप पैदा करने में इसी शक्ति का उपयोग किया जाता है।

टी० एन० टी० ऐसे विस्फोटकों की प्रबल शक्ति इसी नियम के अनुसार विघटित होती है। विस्फोट के समय टी० एन० टी० का बड़ा अणु छोटे अणुओं, जैसे कार्बन-डाई आक्साइड, पानी, नाइट्रोजन आदि में बदल जाता है। इन छोटे स्थायी अणुओं में बन्धन-शक्ति बड़े स्थायी टी० एन० टी० के अणु के परमाणुओं की बन्धन-शक्ति से कम होती है। इन्हीं बन्धनों की शक्ति के अन्तर के बराबर शक्ति निकलती है जो स्थानीय गैसों को उत्तप्त करती है और उनमें एकाएक आयतनिक प्रसार होता है। इसी एकाएक प्रसरण से टी० एन० टी० का धड़ाका छूटता है।

आप पूछ सकते हैं कि परमाणुओं की बन्धन-शक्ति कैसे उत्पन्न होती है और उनके सतह पर बन्ध किस प्रकार का होता है ? यह गोली के हुक के समान सतह पर तो निकला हुआ नहीं हो सकता। यदि यह सम्भव भी हो तो निःसन्देह कुछ परमाणु नर की प्रकृति के कर्मठ(active)और दूसरे मादा के रूप में कर्मपात्र(passive) होने चाहिए। अणु में परमाणुओं का बन्धन पारस्परिक होता है। जल के अणु के विषय में यह कहना कि आक्सीजन का परमाणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं को पकड़े रहता है उतना ही यथार्थ है जितना यह बताना कि हाइड्रोजन के दो परमाणु मिलकर एक आक्सीजन के परमाणु को पकड़े रहते हैं। अणु में एकपक्षीय खिंचाव नहीं मिलता। परमाणुओं के बीच का बन्ध उनके बीच किसी चीज़ के पारस्परिक हेर-फेर से उत्पन्न होता है। एक से कोई न कोई चीज निकलकर दूसरे में जाती है और दोनों के बीच इसी चीज़ के आदान-प्रदान से बन्धन-शक्ति उत्पन्न होती है।

अब प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी चीज़ है जिसका आदान-प्रदान परमाणुओं के बीच होता है ? वर्षों तक इसका कुछ भी पता न चल सका। रसायनशास्त्री बन्धन के विचार से ही सन्तुष्ट रहे, उसके मूल कारण पर ध्यान ही नहीं दिए। वास्तव में, इस रहस्य का पता रसायन क्रियाओं से न चल सका; इसकी सूझ परमाणु के वैद्युतिक अध्ययन से मिली। प्रश्न हल होते ही परमाणु बन्ध का महत्त्व बहुत बढ़ गया कारण कि परमाणु-रचना के अतिरिक्त अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन इसी के द्वारा सम्भव हो सका।

परमाणु की सतह पर इलेक्ट्रान

सैकड़ों वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिकों को मालूम हो गया था कि जब अम्बर (amber) का छड़ कपड़े अथवा रोएँ के साथ रगड़ा जाता है तो छड़ वैद्युतिक हो जाता है और इसमें नन्हें तिनकों को, कागज़ के टुकड़ों को खींचने की शक्ति आ जाती है। यही गुण काँच तथा अन्य कई वस्तुओं में भी पाया जाता है। जब इन वस्तुओं को कपड़ा, रेशम अथवा रोएँ से रगड़ा जाता है तो रगड़ने पर इनमें से कुछ धनात्मक और कुछ ऋणात्मक विद्युत से आवेष्ठित पाए जाते हैं। धनात्मक और ऋणात्मक वस्तुओं का वर्गीकरण केवल इस बात से किया गया कि रगड़ने पर वे आवेष्ठित अम्बर द्वारा आकर्षित होते हैं अथवा विकर्षित होते हैं। आवेष्ठित अम्बर को यों ही ऋणात्मक मान लिया गया था। यूनानी भाषा में अम्बर को इलेक्ट्रान कहते हैं। दो वस्तुओं को परस्पर रगड़ने से जो विद्युत पैदा होती है उसे घर्षण-विद्युत अथवा स्थिर-विद्युत कहते हैं। यह विद्युत धारा-

विद्युत से भिन्न होती है। धारा-विद्युत का पता गेलवनी और वोल्टा १८वीं शताब्दी में लगा चुके थे। आज हम सभी विद्युत-धारा से परिचित हैं। यह विद्युत बैटरी में सरल रासायनिक क्रिया से अथवा डायनमों में चुम्बकीय उत्पादन से उत्पन्न होती है और इसकी धारा किसी सुचालक तार में प्रवाहित होती है। १९वीं शताब्दी में दोनों प्रकार की विद्युत की समानता की खोज की गई। इसी उद्देश्य से किए हुए प्रयोगों द्वारा प्रकृति के मूल कण इलेक्ट्रान का पता लगा और उसे ढूँढ निकालना सम्भव हुआ। फिर उनके गुणों का अध्ययन करना सुगम हुआ।

साधारण प्रयोग में काँच की एक नली होती है। इसका दोनों सिरा बन्द रहता है। हर एक सिरे पर प्लैटिनम का एक टुकड़ा जड़ा होता है चित्र १। इन टुकड़ों के भीतरी सिरे पर एल्यूमीनियम की एक पट्टी जड़ी होती है और बाहरी सिरे इण्डक्शन क्वायल अथवा ट्रान्सफार्मर से जोड़ दिए जाते हैं। रेक्टिफायर लगाकर धारा को एकदेशीय (डी० सी०) बना लिया जाता है। नली के बगल की छोटी नलिका वायुपम्प से जोड़ दी जाती है। विद्युत चलाने पर देखते हैं कि भीतर नली में कोई क्रिया नहीं होती। नली में हवा साधारण दाब पर रहती है जो विद्युत प्रवाह में अवरोध डालती है और विद्युत विसर्जन नहीं हो पाता। जब पम्प चलाकर हवा निकालने लगते हैं तो दाब घटने पर अल्यूमीनियम की पट्टियों पर एक चमक दिखाई पड़ती है। फिर भीतर से कुछ चुरचुराहट सुनाई पड़ती है और दो-तीन वक्ररेखा के समान स्फुलिंग धनात्मक सिरे से ऋणात्मक की ओर जाने लगते हैं। दाब और घटाने पर धनात्मक सिरे की चमक फैलकर पूरी नली को ऋणात्मक सिरे तक भर लेती है चित्र २। जैसे-जैसे हवा का दाब घटता है वैसे-वैसे भीतरी प्रकाश में चित्ताकर्षक परिवर्तन होता है। एक अवस्था ऐसी आती है जब प्रकाशस्तम्भ सिकुड़ता हुआ फिर धनात्मक सिरे पर सीमित हो जाता है। नली अन्धकारमय हो जाती है। जब दाब घटकर लगभग $१०^{-४}$ मिलीमीटर हो जाता है तो ऋणात्मक सिरे से, जिसे कैथोड कहते हैं, एक अदृश्य किरणपुंज निकलती है जो दूसरी ओर नली की दीवाल पर पड़कर उसे दीप्तिमान बनाती है चित्र ३। दीवाल की प्रतिदीप्ति का रंग काँच पर निर्भर करता है जो भिन्न काँच के लिए भिन्न रंग का देखा जाता है। इन अदृश्य किरणों को कैथोड किरण कहते हैं। कैथोड की ओर से ऐनोड की ओर कणिकाएँ जाती हुई मालूम पड़ती हैं। यदि काँच की एक पट्टी पर जिंक सल्फाइड पोतकर इनके मार्ग में रक्खा जाता है तो पट्टी की सारी सतह प्रकाशमान हो जाती है। जिंक सल्फाइड के प्रत्येक कण में अलग-अलग चमक निकलती है जैसे उन पर क्षण-क्षण बाद कुछ अदृश्य कणों का आघात पड़ रहा हो। दमकते जिंक सल्फाइड के कण एक ही विस्तार के दिखाई पड़ते हैं। जिससे विदित होता है कि आघाती पुंज में अनेक समान अदृश्य कण सम्मिलित हैं।

यह अदृश्य कणपुंज ऋण-विद्युत से आविष्ट पाया जाता है। नली के समीप एक चुम्बक लाकर उन सबको सीधे मार्ग से विचलित किया जा सकता है। कणपुंज को रेखाकृत बनाकर काँच की पट्टी पर छोटा प्रकाश विन्दु बना लिया जाता है। चुम्बक लाने पर इसी विन्दुवत् प्रकाश का विचलन देखा जाता है। यह प्रकाश विन्दु दाहिने बाँएँ चुम्बकीय क्षेत्र के अनुसार विचलित होता है जिससे विदित हो जाता है कि कण ऋण-विद्युत से आविष्ट हैं।
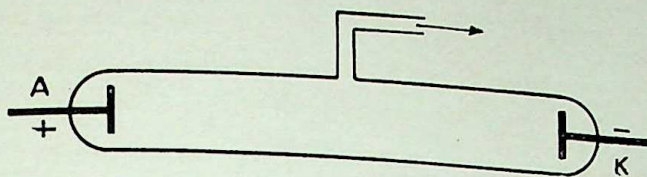
चित्र १
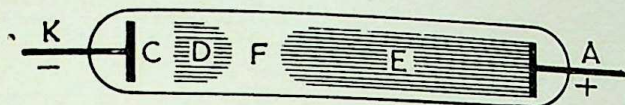
चित्र २
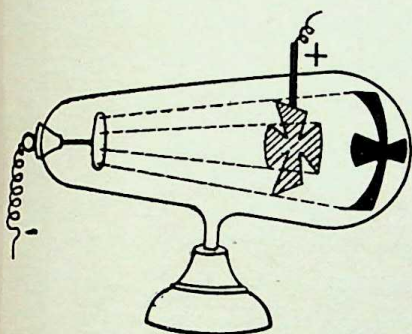
चित्र ३
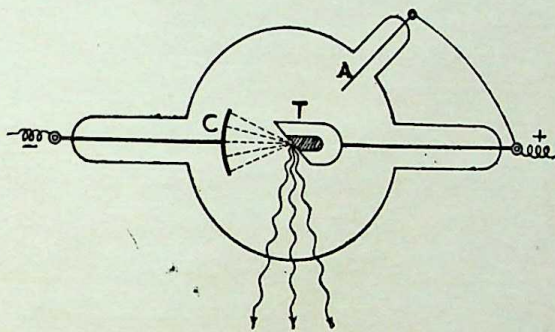
चित्र ४ अ
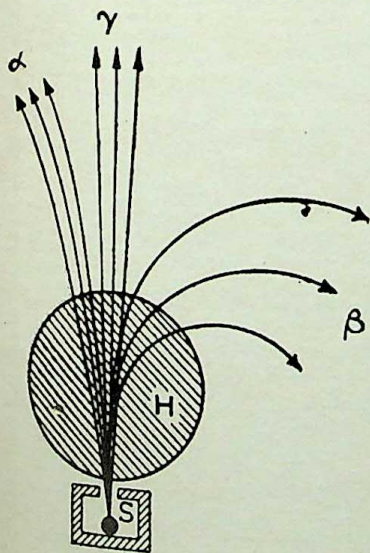
चित्र ५
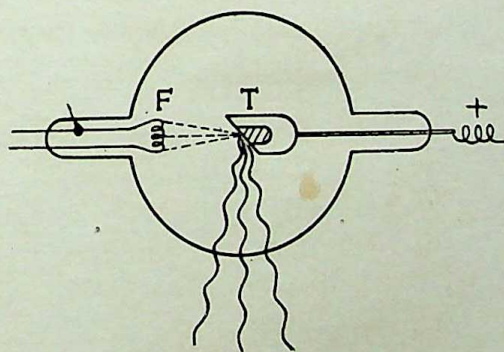
चित्र ४ ब

सर जे०जे० टामसन ने ऐसे ही प्रयोगों के आधार पर निर्णय किया कि अदृश्य किरण-पुंज में अनगिनत ऋणात्मक इकाई कण सम्मिलित हैं। उन्होंने इस इकाई कण के ऋणात्मक आवेश को मालूम किया फिर इसकी तौल भी मालूम की। आश्चर्य की बात है कि अदृश्य कण तौला जा सका; किन्तु इसमें कोई गूढ़ता नहीं। आप समझ सकते हैं कि वज़नी वस्तुओं की अपेक्षा हल्की चीजों को उनके मार्ग से विचलित करना आसान होता है। यदि किसी प्रकार अनेक गेंद एक सीधी कतार में उड़ा दी जाँय तो इनमें से एक-एक गेंद को साधारण बल से सरलतापूर्वक जिधर चाहें उधर मार्ग से हटा सकते हैं और मालूम किया जा सकता है कि कितना बल किस ओर लगाना है कि गेंद निश्चित दूरी तक हट जाय; किन्तु यदि कई ट्रकें (trucks) एक कतार में जा रही हों तो संभव नहीं कि हिसाब लगाकर बल का अनुमान किया जाय और उसे वांछित दिशा में लगाकर किसी एक चलती ट्रक को सड़क से इधर-उधर निश्चित विन्दु तक विचलित किया जा सके। जे० जे० टामसन ने पता लगाया कि इस नन्हें कण को कितने चुम्बकीय बल से विचलित किया जा सकता है। फिर उतना ही चुम्बकीय बल लगाकर और उसका हटाव शून्य नली के भीतर नापकर इलेक्ट्रान का भार मालूम किया। तौलने पर मालूम हुआ कि इनसे कम भार का कोई अन्य कण ही मालूम नहीं। इसके पहले हाइड्रोजन परमाणु का भार सबसे कम पाया गया था, किन्तु इन कणों का भार अब हाइड्रोजन परमाणु के भार का $\frac{१}{१८५०}$ मिला। इस प्रकार हमें द्रव्य की न्यूनतम इकाई मिली जो हाइड्रोजन-परमाणु के १८५० वें भार के बराबर होती है।

हाइड्रोजन परमाणु पर कोई विद्युत आवेश नहीं पाया जाता; किन्तु इस कण पर ऋण-विद्युत का न्यूनतम मान पाया गया। टामसन ने सिद्ध किया कि यही आवेशमान विद्युत की इकाई है। इस नए कण का नाम इलेक्ट्रान रक्खा गया। उन्होंने यह भी दिखाया कि इलेक्ट्रानों का प्रवाह ही विद्युत-धारा है। इलेक्ट्रान ही स्थिर विद्युत हैं और जब वे चलते हैं तो विद्युत-धारा बनती है।

नली में चाहे जो गैस भरी हो, इसके सिरों पर चाहे जिस धातु की पट्टियाँ लगी हों; एक सी तौल और एक ही ऋण-विद्युत मान से आवेष्ठित इलेक्ट्रान निकलते हैं। इस प्रकार सर्वव्यापी इलेक्ट्रान का अस्तित्व सिद्ध हुआ। उसके गुणों का अध्ययन किया गया और फिर उसका उपयोग किया गया।

किन्तु जब नली में विद्युत विसर्जन नहीं होता तो ये इलेक्ट्रान कहाँ रहते हैं? जब बैटरी के तार खुले रहते हैं तो इलेक्ट्रान कहाँ रहते हैं? जब बिजलीघर में डायनमों बन्द रहता है तो इलेक्ट्रान कहाँ छिपे रहते हैं? जिज्ञासु की इन शंकाओं का समाधान उसी परमाणु-रचना के ज्ञान से हो सकता है। इलेक्ट्रान कहीं न कहीं अवश्य होंगे। स्विच दबाते ही एकाएक तो उत्पन्न हो सकते नहीं फिर वे कहाँ रहते हैं?

इलेक्ट्रान का निवास स्थान द्रव्य है। इलेक्ट्रान पदार्थों में रहते हैं और उपयुक्त क्रिया से प्रकट हो जाते हैं। अम्बर रोएँ पर रगड़ने से सतह ऋण विद्युन्मय हो जाता है। ऋणात्मक होने का मतलब है कि अम्बर की सतह पर इलेक्ट्रान आ गए हैं। एक तार लगा कर इनको हम सतह से हटा सकते हैं और उनका आवेश तथा भार मालूम कर सकते हैं। हम देखते हैं कि ये वही इलेक्ट्रान हैं जो शून्य नली में विद्युत विसर्जन से उत्पन्न होते हैं।

वही हैं जो स्विच दबाते ही विद्युतधारा के रूप में बत्ती जलाते हैं। अम्बर पर के इलेक्ट्रान रोएँ से आते हैं। परीक्षा करने से मालूम हुआ कि जितनी मात्रा में अम्बर ऋणात्मक हुआ है उतनी ही मात्रा में रोआँ धनात्मक हो गया है। तब तो हम बड़ी सरलता से बहुत से पदार्थों में से इलेक्ट्रान निकाल सकते हैं। मोटी रोएँदार दरी पर तेज़ी से टहलते समय इलेक्ट्रान दरी से निकलकर हमारे बदन में आते हैं। टहलने के तुरन्त बाद ही हम ज़मीन पर रक्खी लोहे की कुर्सी को उँगली से छूएँ तो हमारी उँगली से हल्की चिनगारी (spark) निकलती है। शरीर के भीतर एकत्रित इलेक्ट्रान कुर्सी से होकर पृथ्वी में समा जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमें कभी-कभी हल्का झटका भी लगता है।

विभिन्न क्रियाओं द्वारा इलेक्ट्रान सभी पदार्थों में से निकाले जा सकते हैं, चाहे पदार्थ कितना ही कोमल और कठोर क्यों न हो? रोआँ, दरी, ताँबा, सोना, दूध, दही सभी से, यहाँ तक कि पानी से भी, इलेक्ट्रान निकाले जा सकते हैं। शून्य नली के भीतर किसी धातु के तार को गरमकर इलेक्ट्रान प्रकट किए जा सकते हैं। रेडियो सेट के शून्य वाल्व के भीतर इलेक्ट्रान उसके तार को गरम कर उत्पन्न किए जाते हैं। पदार्थों की सतह पर भी कुछ इलेक्ट्रान विद्यमान रहते हैं जिनको घर्षण द्वारा सहज ही निकाल सकते हैं। परमाणुओं के संयोजन से अणु और अणुओं के संगठन से पदार्थ की रचना होती है।

सामान्यतः सारे पदार्थ आवेशहीन पाए जाते हैं। इसी प्रकार उनके परमाणु भी आवेशरहित होते हैं। उनकी सतह से जब कुछ इलेक्ट्रान निकाले जाते हैं तो पदार्थ और उसके भीतरी परमाणु धनात्मक हो जाते हैं और जिस वस्तु में से इलेक्ट्रान एकत्रित होते हैं वह ऋणात्मक हो जाती है। इससे विदित होता है कि साधारण अथवा उदासीन अवस्था में परमाणु की रचना किसी धनात्मक पिण्ड और इन ऋणात्मक इलेक्ट्रानों के मेल से होती है। परमाणु कदापि समांशी ठोस गोली के सदृश नहीं हैं। उनके भीतर अवश्य विशिष्ट रूप की कारीगरी है। कम से कम इतना तो मानना पड़ेगा कि उनके ऊपरी सतह की रचना ऐसी है जो उनके संयोजन में सहायक होती है और अणु बन पाते हैं।

ऊपर अनुमान किया गया है कि परमाणु में हुक नहीं हो सकता, बल्कि संयोजन के समय दो परमाणुओं के बीच किसी चीज़ का हेर-फेर होता है। इसी हेर-फेर से उनके बीच बन्ध पैदा होता है। आदान-प्रदान दो परमाणु के बीच इलेक्ट्रान का होता है। रासायनिक बन्ध (chemical bond) एक जोड़ी इलेक्ट्रान से उत्पन्न होता है। जोड़ी बनाने के लिए एक इलेक्ट्रान परमाणु से और दूसरा इलेक्ट्रान दूसरे परमाणुओं से आता है। इसी बन्धन में पड़कर दोनों परमाणु जुटे रहते हैं। जितने एकबन्धी (monovalent) परमाणु हैं, जैसे हाइड्रोजन अथवा सोडियम के परमाणु, उनमें ऊपरी सतह पर एक इलेक्ट्रान तैयार पाया जाता है जिसका हेर-फेर दूसरे व्युत्क्रम क्रियाशील परमाणु के एक इलेक्ट्रान से हो सकता है; मानों दोनों इलेक्ट्रान के पारस्परिक विनिमय से दोनों परमाणुओं के बीच पारस्परिक बन्धन-सूत्र बन जाता है।

जितने द्विबन्धी (divalent) परमाणु हैं उनमें दो ऊपरी इलेक्ट्रान आदान-प्रदान के लिए प्रस्तुत पाए जाते हैं। ऐसे परमाणु के दोनों इलेक्ट्रानों को अन्य व्युत्क्रम क्रियावान

द्विबन्धी परमाणु अपने दोनों इलेक्ट्रानों से बदल लेते हैं। यदि द्विबन्धी परमाणु का संयोजन एक एकबन्ध वाले परमाणु से सम्भव है तो क्रिया में ऐसे दो परमाणु भाग लेते हैं क्योंकि प्रत्येक से एक ही इलेक्ट्रान ऊपरी सतह पर उपलब्ध हैं। अतः इन दोनों परमाणु के दो इलेक्ट्रान द्विबन्धी के एक ही परमाणु के दो इलेक्ट्रानों से बदले जाते हैं। यही व्यवस्था जल के अणु (H_2O) में पाई जाती है। त्रिबन्धी परमाण् में भी यही नियम लागू होता है।

जल में किसी स्थायी अणु का बन्धन तोड़ने की सामर्थ्य पाई जाती है। जल के प्रभाव से अणु का एक परमाणु एक इलेक्ट्रान छोड़कर धनात्मक हो जाता है और दूसरा परमाणु उसी इलेक्ट्रान को ग्रहण कर ऋणात्मक हो जाता है। साधारण नमक के रवे $NaCl$ अणु से बनते हैं। इसका उपयोग हम जीवन भर करते हैं और जानते हैं कि $NaCl$ आवेशरहित अणु है। पानी में घुलने पर सोडियम परमाणु से एक इलेक्ट्रान निकलता है और यह Na^+ हो जाता है। क्लोरीन का परमाणु Cl उसी इलेक्ट्रान को लेकर Cl^- हो जाता है। जब हम इस नमक के घोल में बिजली चलाते हैं तो धनात्मक Na^+ ऋणद्वार पर ऋणात्मक आवेश लेकर आवेशरहित Na परमाणु बन जाता है और वहीं सोडियम तत्त्व पाया जाता है। कितने Na के परमाणु बने और उनके लिए कितने इलेक्ट्रान ऋणद्वार से लिए गए इन सब का हिसाब किया जा सकता है। किसी निश्चित बड़ी संख्या में Na परमाणु को बनाने के लिए नियमित विद्युत-धारा की आवश्यकता पड़ती है, इसको एक फैराडे विद्युत कहते हैं। तूतिया के घोल से उतनी ही संख्या में Cu परमाणु प्राप्त करने के लिए 2 फैराडे विद्युत की आवश्यकता पड़ती है; अर्थात् एक उदासीन Cu परमाणु की रचना में Na परमाणु की अपेक्षा दूनी संख्या में इलेक्ट्रानों की जरूरत पड़ती है। इसका मतलब है कि तूतिया के घोल में Cu^{++} बनता है और नमक के घोल में Na^+ होता है। Cu परमाणु द्विबन्धी होता है और Na एकबन्धी। इन दो परमाणुओं के ऐसे बन्ध इसी क्रिया में नहीं वरन् उन सभी रासायनिक परिवर्तनों में पाए जाते हैं जिनमें Cu और Na के परमाणु भाग लेते हैं।

इसी प्रकार अल्यूमीनियम के परमाणु को उदासीन अवस्था में किसी उपयुक्त घोल से प्राप्त करने के लिए तीन इलेक्ट्रानों की आवश्यकता पड़ती है। अतः घोल में इस परमाणु का रूप Al^{+++} होता है। Na^+, Cu^{++} और Cl^- क्रमानुसार उदासीन परमाणु Na, Cu और Cl की आयनिक अवस्थाएँ हैं। इनको 'आयन' कहते हैं। 'आयन' यूनानी शब्द है जिसका अर्थ अस्थिर होता है। इन आवेष्ठित परमाणुओं को आयन इसी कारण कहते हैं कि वे विद्युत-क्षेत्र में स्थिर नहीं रह सकते। धनात्मक आयन ऋणात्मक आवेश की खोज में ऋणद्वार की ओर और ऋणात्मक आयन इसी भावना से धनद्वार की ओर जाते हैं। देखिए, अब परमाणु समांशी ठोस गोली नहीं रह गया। हमारे सामने अब उदासीन परमाणु का ऐसा ढाँचा उपस्थित है जिसके ऊपर ऋणात्मक इलेक्ट्रान हैं जो सरलता से अलग किए जा सकते हैं। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक परमाणु की रचना के सम्बन्ध में इतनी ही जानकारी हमें थी। किन्तु अन्तिम ५० वर्षों में ऐसे अनुसंधान हुए जिनसे परमाणु-रचना का रहस्य स्पष्ट होने लगा और हम परमाणु-रचना को निश्चित रूप से समझ

सके। इस तरह स्पष्ट जानकारी होने से ही परमाणु-शक्ति का पता लगा और परमाणु बम का निर्माण सम्भव हो सका।

परमाणु के भीतर से निकलने वाली किरणें

इलेक्ट्रान का पता शून्य नली के भीतर लगा जिसके सिरों पर तार जड़े हुए होते हैं और उन तारों के सिरे पर नली के भीतर धातु की पट्टियाँ जड़ी होती हैं। इन्हीं तारों को इण्डक्सन क्वायल अथवा ट्रान्सफार्मर के सिरों को जोड़कर विद्युत प्रवाह कराया जाता है। धातु के तार को काँच में जड़ना कठिन होता है। सर्व प्रथम जर्मनी में हाइनरिश गाइज़लर नामक एक मिस्त्री तार को काँच में जड़ने में सफल हुए। उनकी रीति से संमुद्रण ऐसा बना कि नली हवा रहित होने पर हवा भीतर न प्रविष्ट हो सकी। उन्हीं के नाम पर ऐसी नली आज भी गाइज़लर की नली कही जाती है। इसी नली के भीतर सर जे० जे० टामसन ने इलेक्ट्रान की खोज की और उसके भार तथा आवेश का मान मालूम किया। इलेक्ट्रान समूह देखा नहीं गया, किन्तु उसके द्वारा जिंक सल्फाइड के पर्दे पर प्रतिदीप्ति (fluorescence) उत्पन्न हुई। उस प्रतिदीप्त पर्दे पर एक एक इलेक्ट्रान का आघात देखा गया क्योंकि प्रकाश स्फुरण प्रत्येक इलेक्ट्रान के आघात के कारण जिंक सल्फाइड के कण से होता है।

गाइज़लर की नलियों में विद्युत विसर्जन बड़ा ही सुन्दर होता है। प्रयोगशाला में विद्यार्थियों के मनोरंजन के लिए और उन्हें जाग्रत सचेष्ट (चैतन्य) रखने के लिए भौतिक-विज्ञान के प्रोफेसर कई प्रकार के गाइज़लर ट्यूब रखते हैं। उन्हें १९ वीं शताब्दी के अन्त तक इस नली की पूरी जानकारी हो चुकी थी; किन्तु १८९५ ई० तक वे इलेक्ट्रान समूह अथवा कैथोड किरणों का प्रभाव नली के भीतर ही देखते रहे। इनका निकास कैथोड (ऋणद्वार) से होता है इसलिए उनका ध्यान ऐनोड पर, काँच की दीवाल पर अथवा नली के भीतर रखे हुए किसी पर्दे पर ही सीमित रहा। सन् १८९५ ई० में बिल्हेल्म काइज़र रांग्टजन, एक जर्मन प्रोफेसर, ने देखा कि कोई चीज़ ऐनोड से निकलकर नली की दीवार पार कर बाहर जाती है। उन्होंने नली को काले कागज़ से बिल्कुल ढँक दिया था। समीप में जिंक सल्फाइड का पर्दा बाहर रक्खा हुआ था। उन्होंने देखा कि नली में विद्युत विसर्जन से पर्दा दीप्तिमान हो जाता है। पर्दे पर दीप्ति ऐनोड के समीप अधिक थी और दूर पर कम थी। अतः उन्होंने अनुमान किया कि कोई अधिक प्रभावशाली किरण ऐनोड से निकलकर काँच तथा काले कागज़ को पार कर जिंक सल्फाइड के पर्दे पर प्रभाव डाल रही है। रांग्टजन ने इनको एक्स-किरण कहा; कारण कि उन रहस्यमयी किरणों के गुण प्रकाश-किरण के समान थे, किन्तु वे प्रकाश की किरणें नहीं थीं। उनकी प्राकृतिक रूपरेखा का पता नहीं था। एक्स का उपयोग प्रायः अज्ञात राशि के लिए बीजगणित में किया जाता है। वे कैथोड किरणों से भिन्न थीं क्योंकि इलेक्ट्रान समूह काँच की दीवाल भेद नहीं सकता।

आज हमें एक्स-किरणों की भी जानकारी हो गई है। हमें मालूम हो गया है कि एक्स-किरणें प्रकाश-किरणों के ही समान होती हैं, किन्तु उनसे बहुत छोटी तरंगदैर्ध्य की होती है और इनकी भेदन-शक्ति अधिक होती है। जैसे साधारण प्रकाश-तरग का समूह होता है वैसे ही एक्स-किरणों की भी तरंगे होती हैं। अन्तर इतना है कि एक्स-किरण की

तरंगे प्रकाश-किरण की तरंगों से बहुत छोटी होती हैं। इनकी लम्बाई गाइज़लर नली में विसर्जित विद्युत-धारा के विभव पर निर्भर होती है। एक्स-किरण के अनन्य गुणों को यहाँ दुहराना कोई विशेष लाभकर नहीं। अब यह वैज्ञानिकों के मनोरंजन की ही किरण नहीं है इससे शरीर के भीतरी रोगों की जाँच हो रही है और कई रोगों का उपचार भी किया जा रहा है। एक्स किरण की नलियाँ विभिन्न आकार की बनाई जा रही हैं (चित्र ४)। दन्त-चिकित्सा के लिए मुँह के भीतर ले जाने की छोटी नली और कैंसर की चिकित्सा के लिए बड़ी से बड़ी एक्स नली बड़े अस्पतालों में काम आ रही है।

किन्तु इस कहानी के सिलसिले में यह बताना आवश्यक है कि परमाणु के भीतर से एक्स-किरण कैसे निकलती है? प्रयोग से स्पष्ट है कि इनका निकास ऐनोड की धातु से कैथोड किरणों अर्थात् इलेक्ट्रानों के आघात से होता है। धातु के परमाणुओं की बनावट कैसी है कि संवेगसहित इलेक्ट्रानों के टकराने से उन्हीं परमाणुओं में से अनोखी एक्स-किरणें निकलने लगती हैं? वैज्ञानिक इसी उधेड़-बुन में पड़े थे कि इससे भी गूढ़ अनुसन्धान रेडियोधर्मिता का हुआ।

परमाणु के भीतर से शक्ति का विकिरण

एक्स-किरण का पता प्रो० रांग्टजन ने जिंक सल्फाइड के पर्दे की दीप्ति देखकर लगाया था। क्या अन्य भी ऐसे पदार्थ हैं जिनपर एक्स-किरण से दीप्ति उत्पन्न होती है? प्रो० हेनरी बिक्वेरेल पदार्थों की परीक्षा में संलग्न थे। वास्तव में, यह कार्य उनके पिता ने प्रारम्भ किया था और उसी को वे पूरा कर रहे थे।

कुछ ऐसे भी पदार्थ होते हैं जिन्हें यदि कुछ समय तक प्रकाश में रखकर अंधेरे कमरे में लाया जाय तो उनमें दीप्ति पाई जाती है। इस प्रस्फुरण के लिए सूर्य की किरणें प्रभावशाली पाई गई। उनमें भी अदृश्य नीलोत्तर अल्ट्रावायलेट किरणें अधिक काम की सिद्ध हुईं। परद आर्क यदि क्वार्ट्ज का बना हो तो वह और भी उपयोगी पाया जाता है। बहुत से खनिज इन किरणों को ग्रहण कर कुछ समय तक भासमान रहते हैं। प्रो० बिक्वेरेल ने सोचा कि सूर्य के प्रकाश को ग्रहण कर जो खनिज भासमान हो जाते हैं उनसे शायद कुछ अदृश्य किरणें निकलती हों। उनमें भी शायद वैसी ही अधिक भेदनशील कुछ किरणें निकलती हों जैसी किरणों का पता अभी रांग्टजन ने लगाया है। इसी विचार से उन्होंने टेबुल के ऊपर एक फोटो-प्लेट काले कागज़ से भलीभाँति ढँक कर रक्खा। उसके ऊपर तश्तरी में कुछ खनिज रख दिया। फोटो-प्लेट और तश्तरीसहित टेबुल को थोड़े समय के लिए उन्होंने सूर्य के प्रकाश में रक्खा। सूर्य की किरणों के प्रभाव से यदि खनिज़ के भीतर से दृष्टिगोचर किरणों के साथ अदृश्य किरणें निकलती हैं तो काले कागज़ को पार कर फोटो-प्लेट पर अपना प्रभाव अवश्य डालेंगी। उन्होंने यही प्रयोग खनिज को लेकर किया। विचारशील वैज्ञानिक को सफलता मिली। उन्होंने देखा कि सबमें तो नहीं, किन्तु कुछ खनिजों द्वारा प्लेट पर विशेष प्रभाव पड़ा है। धोने पर ऐसे ख़निजों के साथ की फोटो-प्लेट काली पड़ गई थी।

प्रयोग यहीं समाप्त नहीं हुआ। पेरिस में सन् १८९६ के जाड़े में सभी दिन धूप बराबर नहीं निकली। एक दिन आकाश बादलों से घिरा ही रहा। प्रो० बिक्वेरेल ने प्रयोग

की तैयारी में काले कागज़ से प्लेट लपेट कर उसके ऊपर खनिज भरी तश्तरी टेबुल की दराज़ में रख छोड़ा था ताकि ज्योंही धूप निकले प्रयोग प्रारम्भ कर दिया जाय। सूर्यदेव कई दिनों तक दिखलाई ही न पड़े। अतः उन्होंने उसी प्लेट को एक अन्य प्रयोग में लगाया। प्लेट धोने पर इस दूसरे प्रयोग का तो कोई फल उस पर उन्हें नहीं दिखाई पड़ा; किन्तु प्लेट बुरी तरह काली पड़ गई थी। ऐसा मालूम पड़ा कि प्लेट पूर्व प्रयोग के अनुसार ही धूप में रक्खी दीप्तिमान खनिज के नीचे ही पड़ी थी। इसका निष्कर्ष निकला कि चाहे खनिज पर सूर्य की किरणें पड़ें अथवा न पड़ें उन खनिजों में से कुछ अदृश्य और भेदनशील किरणें निकलती ही रहती हैं। अब तो इस साधारण प्रयोग का महत्त्व और बढ़ा और ऐसे खनिजों की खोज होने लगी। पता लगा कि ऐसी विशेषता उन्हीं खनिजों में पाई जाती है जिसमें यूरेनियम धातु है। जितनी ही अधिक मात्रा में यूरेनियम खनिज के भीतर होती है उतना ही अधिक प्रभाव फोटो-प्लेट पर इन अदृश्य किरणों का पाया जाता है। प्रो० बिक्वेरेल ने ऐसे खनिजों को 'रेडियोधर्मी' कहा क्योंकि उन सबसे ऐसी विचित्र अदृश्य शक्तियों का विकिरण सदा होता रहता है।

प्रो० बिक्वेरेल के सहवर्गी प्रो० पियरी क्यूरी अपनी धर्मपत्नी 'मेरी' के साथ इस रहस्योदघाटन में अधिक दिलचस्पी लेने लगे। प्रो० बिक्वेरेल के आदेश से 'मेरी क्यूरी' ने इन भेदनशील अदृश्य किरणों की जानकारी के लिए अधिक से अधिक संख्या में ऐसे खनिजों की परीक्षा की। इसी सिलसिले में मेरी क्यूरी को यूरेनियम के अतिरिक्त एक दूसरा तत्त्व मिला जिसमें से भी ऐसी शक्तियाँ विकीर्ण होती पाई गई। यह तत्त्व थोरियम था। दम्पति क्यूरी ने पता लगाया कि फोटो-प्लेट का काला होना खनिज में यूरेनियम अथवा थोरियम की मात्रा पर निर्भर होता है, किन्तु उन्हें एक काला खनिज (pitch blende) ऐसा मिला जिसमें केवल यूरेनियम था। इस खनिज में किरणों की तीव्रता यूरेनियम की मात्रा के अनुपात से बहुत अधिक थी। अब पति-पत्नी को एक तीसरे रेडियोधर्मी तत्त्व का संदेह हुआ। उन्होंने अनुमान किया कि इस खनिज में तीसरे तत्त्व की मात्रा बहुत कम होनी चाहिए और उसे निःसन्देह बहुत ही प्रबल रेडियोधर्मी होना चाहिए।

दम्पति क्यूरी की जीवन कहानी आज हम सबको मालूम है। अखबारों में, पुस्तकों में, सिनेमा में हमने पढ़ा, सुना और देखा है। सुखमय जीवन से विमुख हो, वे दोनों किस प्रकार इस तत्त्व की खोज में वर्षों संलग्न रहे। कितनी-कितनी कठिनाईयों का सामना करते रहे। असफलताओं को फटकारते वे अन्त में अपनी तपस्या से रेडियम तत्त्व का पता लगा पाए और अपना यशःशरीर युग-युगान्तर के लिए छोड़ गए, आज यह सारे संसार को विदित है।

रेडियम और रेडियम धर्मिता को भौतिकविज्ञानशास्त्री १९वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित सिद्धान्तों के अनुकूल समझने में असमर्थ रहे। हेनरी एडम्स लिखते हैं कि स्मिथ-सोनियम संस्था के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एस० पी० लांग्ले सन् १९०० ई० की पेरिस प्रदर्शिनी में रेडियम और रेडियमधर्मिता सम्बन्धी प्रयोगों को देखकर चकित रह गए। इन तत्त्वों को बाहर से कोई शक्ति दी नहीं जा रही है फिर वे कहाँ से और कैसे इतनी शक्ति विकीर्ण कर रहे हैं? क्या 'शक्ति अविनाशिता' का सिद्धान्त असत्य है? यदि सत्य है तो इन किरणों का विकिरण कहाँ से हो रहा है?

स्पष्ट है कि इनका उद्गम यूरेनियम, थोरियम, रेडियम के परमाणु ही हो सकते हैं। यदि यह सत्य है तो इन परमाणुओं की बनावट में कुछ विचित्रता होगी। निःसंदेह परमाणु समांशी ठोस गोलियाँ नहीं हो सकते। उनके भीतर कुछ ऐसी रचना होगी जिसमें से ऐसी किरणों का विकिरण बिना ढाँचा टूटे होता रहता है।

परमाणु के भीतर से निकलने वाली कणिकाएँ

रेडियम और रेडियमधर्मिता का अध्ययन २०वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। रेडियम के रासायनिक गुणों तथा इसके यौगिकों का बहुत कुछ पता पियरी और मेरी क्यूरी ने लगाया। इसी महान् कार्य के उपलक्ष्य में उन्हें सन् १९०३ ई० में नोबुल पुरस्कार दिया गया। परमाणु की कहानी के सिलसिले में हमें यहाँ केवल रेडियमधर्मिता का भौतिक दृष्टिकोण समझना है। इसी दृष्टि से किए गए अनेक वैज्ञानिकों के कार्य सराहनीय हैं, किन्तु अर्नेस्ट रदरफोर्ड की देन सर्वोपरि है। रदरफोर्ड के प्रारम्भिक अनुसन्धान मैनचेस्टर में और बाद के कैंब्रिज में हुए।

प्रारम्भिक निरीक्षण में देखा गया कि पूर्ण रूप से ढँकी हुई फोटो-प्लेट जब रेडियम के समीप रक्खी जाती है तो धोने पर वह काली पड़ जाती है। ऐसा विदित होता है कि फोटो-प्लेट प्रकाश के समक्ष उद्घाटित हो गई है। दूसरी विधि के अनुसार जब जिंक सल्फाइड पोती हुई काँच की पट्टी रेडियम के समीप लाई जाती है तो वह भासमान हो जाती है। इसी दूसरी रीति से आजकल घड़ियों में भासमान चक्र (डायल) बनाए जाते हैं। डायल पर चिह्न तथा अंक रेडियम पेंट से लिखे जाते हैं। इस पेंट में जिंक सल्फ़ाइड और तनिक सी मात्रा में रेडियम होता है। रेडियम के विकिरण से जिंक सल्फाइड सदा चमकता रहता है और अन्धेरे में भी धड़ी देखी जा सकती है। रेडियम विकिरण के अध्ययन में फोटो-प्लेट और जिंक सल्फाइड-लिप्त काँच की पट्टी—इन्हीं दो सरल साधनों का उपयोग किया गया है।

चित्र (५) में प्रारम्भिक प्रयोग की विधि दिखाई गई है। रेडियम शीशे (lead) की गहरी कटोरी में रख दिया जाता है ताकि रेडियम की हानिकारक किरणें केवल ऊपर की ओर निकल सकें। वास्तव में, शीशे के बड़े चौकोर सिल (slab) के भीतर बारीक छिद्र बनाकर रेडियम तनिक सी मात्रा में सुराख की पेंदी पर रख दिया जाता है। विकीर्ण-पुंज एकाभिमुखी सीधी रेखा मार्ग से ऊपर निकलती है। फोटो-प्लेट को छिद्र के ऊपर विभिन्न स्थानों पर रखकर भासमान विन्दु का अध्ययन कर किरण-पुंज के गुणों का पता लगाया जाता है। जिंक सल्फाइड की पट्टी अधिक सरल और सुगम होती है। पट्टी को दूर हटाने पर भासमान विन्दु के आकार में कोई विशेष वृद्धि नहीं पाई जाती। विन्दु लगभग सुराख के बराबर का देखा जाता है! इससे विदित होता है कि पुंज की किरणें समानान्तर सीधी रेखा मार्ग से चलती हैं। यदि किरण समूह के निकट कोई प्रबल चुम्बक लाया जाता है तो भासमान विन्दु जिंक सल्फाइड की पट्टी पर ज्यों का त्यों बना रहता है, किन्तु उसकी दीप्ति घट जाती है। इससे विदित होता है कि किरणें पूर्ववत् सीधे मार्ग से आ रही हैं, परन्तु उनकी तीव्रता घट गई है। तीव्रता क्यों कम हुई? यदि जिंक सल्फ़ाइड की पट्टी

को सुराख के इधर-उधर तनिक हटाएँ तो देखेंगे कि स्थायी भासमान विन्दु के अगल-बगल दो भासमान विन्दु और विद्यमान हैं। जब चुम्बक हटा लिया जाता है तो तीनों मिलकर फिर एक हो जाते हैं और दीप्ति पूर्ववत् हो जाती है। चुम्बकीय क्षेत्र लगाने पर तीन भासमान विन्दु दिखाई पड़ते हैं। स्पष्ट है कि रेडियम से तीन प्रकार की अगोचर किरणें निकल रही हैं। रदरफोर्ड ने इनका नाम अल्फा, बीटा और गामा रक्खा। चुम्बकीय क्षेत्र लगते ही किरणपुंज तीन भागों में विभाजित हो जाता है। अल्फा किरणें दाहिनी ओर और बीटा किरणें बांई ओर मुड़ गई हैं। तीसरे भाग, गामा किरणों पर क्षेत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः जिंक सल्फाइड की पट्टी पर तीन विन्दु दिखाई पड़ते हैं।

इन तीन प्रकार की किरणों के भेद का पता चुम्बकीय क्षेत्र में लगा। क्षेत्र में अल्फा किरणों के विचलन से पता लगता है कि इन किरणों में धनात्मक आवेश है। विचलन अधिक नहीं होता, कारण कि अल्फा किरणों में धनात्मक कण पाए जाते हैं। बीटा किरणों का विचलन विपरीत दिशा में होता है। इससे विदित होता है कि इन किरणों में ऋणात्मक आवेश पाया जाता है। इनका विचलन अल्फा की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, अर्थात् बीटा किरणों के कण बहुत हल्के होते हैं। परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि बीटा किरण के कारण गाइज़लर नली के इलेक्ट्रान ही हैं। उनमें और आवेष्टित अम्बर के इलेक्ट्रानों में कोई अन्तर नहीं। रेडियम से यह किरणें निरन्तर विकीर्ण होती रहती हैं। इनपर बाहरी शक्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बाहरी प्रकाश, ताप अथवा विद्युत-शक्ति से विकिरण की मात्रा में कोई न्यूनता-अधिकता नहीं पाई जाती। रेडियम के भीतर से इन किरणों के उद्गम के साथ भीषण शक्ति क्षीण होती है। अल्फा कण का वेग बहुत अधिक और भार भी अधिक होता है। अतः उद्गारित अल्फा कण में बहुत अधिक शक्ति होती है। बीटा कण स्वयं इलेक्ट्रान ही होते हैं और बड़े वेग से निकलते हैं। इनका भार अल्फा कण की अपेक्षा बहुत कम होता है। इस कारण इनमें शक्ति अल्फा से कम पाई जाती है; फिर भी इस शक्ति की मात्रा अधिक ही होती है। इन सबके साथ एक्स-किरण और ताप शक्ति भी निकलती है।

यह विकिरण प्रक्रिया प्रत्येक क्षण, दिन-रात, वर्षों होती रहती हैं। इलेक्ट्रानों तथा अल्फा और गामा किरणों के निष्कासन के लिए कहीं न कहीं से शक्ति का लगना आवश्यक है। अल्फा कण और इलेक्ट्रान भी कहीं न कहीं से उत्पन्न होने चाहिए। इनकी उत्पत्ति रेडियम परमाणु के भीतर ही से सम्भव है, परमाणु की सतह से तो उत्पन्न नहीं हो सकते। परमाणुओं के सुसंगठन से बने हुए अणु से इतनी शक्ति का मिलना और ऐसे कणों का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं। इन शक्तियों के पूर्व हमें जो शक्तियाँ ज्ञात थीं वे अणु के भीतर परमाणुओं के बीच के पारस्परिक बन्धन के विनिमय से रासायनिक शक्तियों के रूप में निकलती हुई समझी गई थीं। इसी रासायनिक शक्ति से हमें ईंधनों द्वारा ताप-शक्ति मिलती है तथा बारूद का विस्फोट होता है। किन्तु रेडियमधर्मिता की घोर शक्ति के सामने इन रासायनिक शक्तियों की कोई तुलना नहीं। सूक्ष्मतर प्रयोगों के आधार पर हिसाब लगाने से पता चलता है कि १ आउंस रेडियम के सारे अल्फा कण, इलेक्ट्रान और एक्स-किरण निकालें तो उनके उद्गार के लिए उतने ताप-शक्ति की आवश्यकता होती है जितना ताप १० टन कोयला जलाने से उत्पन्न होता है। १० टन कोयला ३२०,००० आउंस के बराबर होता है;

अर्थात् १ आउंस रेडियम से ३२०,००० आउंस कोयले के बराबर शक्ति निकलती है। यह सब नाप-तौल और हिसाब-किताब २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ ही में किए गए और तभी से इस शक्ति को परमाणु शक्ति कहा जाने लगा। इन सब बातों का उल्लेख उस गलतफहमी को दूर करने के लिए आवश्यक है कि परमाणु शक्ति की जानकारी एकाएक प्राप्त हुई और इसके गुप्त रहस्य का उद्घाटन एकाएक हुआ। वैज्ञानिकों के लिए परमाणु शक्ति की कहानी बहुत पुरानी है।

ध्वनि विज्ञान की रूपरेखा

ललितकिशोर सिंह
सह निदेशक, हिन्दी प्रकाशन समिति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बहिर्जगत् का ज्ञान मूलतः ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। ज्ञानेन्द्रियों में आँख और कान मुख्य हैं। कान के ज्ञानतंतुओं के स्पन्दन को और इस स्पन्दन के बाह्य भौतिक कारण को सामान्यतः ध्वनि कहते हैं। जब हम कहते हैं कि ध्वनि सुनाई पड़ती है और ध्वनि कहीं से आ रही है, तो हमारा संकेत कानों की अनुभूति और बहिर्जगत् में उस अनुभूति का कारण, दोनों ही की ओर होता है। इसलिए भौतिक विज्ञान के विचार-क्षेत्र में ध्वनि की उत्पत्ति और संचार, संचार के माध्यम और ध्वनि-ग्रह यंत्र के रूप में कान की रचना, इन सारी बातों का समावेश है।

यह अनुभव सिद्ध है कि जिस वस्तु से ध्वनि निकलती है उसमें कम्पन होता है; और जब तक यह कम्पन होता रहता है तब तक ध्वनि निकलती रहती है। किसी बाजे के तार को छेड़ने से या किसी घंटी में ठोकर मारने से या मेज़ पर किसी भारी वस्तु को पटकने से यह बात प्रत्यक्ष होती है। ध्वनि और कम्पन के नित्य साहचर्य से यह परिणाम निकलता है कि द्रव्य-समष्टि का कम्पन ही ध्वनि का कारण है। कम्पन नियमित और अनियमित, दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। नियमित कम्पन का स्थूल रूप सामान्य लोलक के कम्पन में मिलता है। एक हलके धागे में लटकी हुई भारी गोली को स्थिर दशा से हिला दिया जाय तो वह स्थिर विन्दु के दोनों ओर डोलती रहेगी। एक निश्चित काल-क्षेप, जैसे एक सेकेण्ड में जितने पूरे कम्पन होते हैं उसे कम्पन की आवृत्ति (frequency) कहते हैं और स्थिर विन्दु से किसी एक ओर जितनी दूर तक अपसार होता है उसे कम्पन का आयाम (amplitude) कहते हैं। आवृत्ति और आयाम, इन्हीं दो लक्षणों से प्रत्येक कम्पन का रूप बँधा रहता है।

ध्वनि कुछ दूरी तय करके कानों तक पहुँचती है; अर्थात् ध्वनि का आकाश में संचार होता है, पर यह संचार कम्पित वस्तु से निकलते हुए किसी प्रकार के कणों का संचार नहीं है। ऐसा होने से रिक्त आकाश में भी ध्वनि का संचार होता। पर हौक्सबी (1705) के प्रयोग से यह सिद्ध हो गया है कि रिक्तता में अर्थात् द्रव्य के अभाव में ध्वनि का संचार नहीं होता। काँच की कुण्डी के भीतर बिजली की घंटी लटका कर और कुण्डी से वायु निकाल कर यह देखा गया कि बटन दबाने पर घंटी चलती हुई मालूम होती है, पर ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। तात्पर्य यह कि ध्वनि संचार के लिए द्रव्य का माध्यम चाहिए। व्यापक और नित्य व्यवहार का माध्यम तो वायु है, पर द्रव और ठोस में भी ध्वनि संचार होता है।

ध्वनि संचार की प्रक्रिया में माध्यम का कोई खण्ड अपने स्थान से टूट कर दूर नहीं हटता, बल्कि प्रत्येक कण या अणु अपने स्थान पर ही कम्पन करता है। ध्वनि की उत्पादक वस्तु अपने संसर्गी माध्यम को आन्दोलित करती है और आन्दोलन माध्यम में तरंग-संतान

के रूप में आगे बढ़ता है । इस प्रकार माध्यम वस्तु के कम्पन को बिना अधिक रूपान्तर के कानों तक पहुँचाता है । इसी क्रम से ध्वनि का बोध होता है ।

ध्वनि का संचार तात्कालिक नहीं होता । ध्वनि उद्गम से कानों तक पहुँचने में या किसी दूसरे स्थान तक पहुँचने में समय लेती है; या यों कह सकते हैं कि प्रत्येक माध्यम में ध्वनि-तरंग का विशेष वेग होता है । यह वेग माध्यम के घनत्व और प्रत्यास्थता पर निर्भर है। प्रत्यास्थता का अर्थ है किसी आरोपित बल से होने वाले विकार का वस्तु द्वारा अवरोध या प्रतिकार । इस वेग पर कम्पन की आवृत्ति और आयाम का कोई असर नहीं पड़ता । ध्वनि का वेग वायु में लगभग 300 मी०/सें०, जल में लगभग 1500 मी०/सें० और इस्पात में लगभग 5100 मी० / सें० होता है । तरंग दो प्रकार के होते हैं—पहला अनुप्रस्थ तरंग, जिसमें माध्यम के कण का कम्पन तरंग-दिशा का अभिलम्बी होता है; दूसरा अनुदैर्घ्य तरंग, जिसमें कम्पन तरंग की दिशा में ही होता है । ध्वनि का संचार अनुदैर्घ्य तरंग से ही होता है ।

ध्वनि-बोध कई प्रकार के होते हैं । कुछ ध्वनियाँ तो श्रुति मधुर होती हैं और कुछ कर्ण-कटु । श्रुति मधुर ध्वनियों को "नाद" कहते हैं और कर्ण पटु ध्वनियों को "शोर" या "राव"। तार के बाजों की आवाज, बाँसुरी की आवाज आदि तो नाद हैं और जूते की रगड़, गाड़ियों की खड़खड़ाहट, यहाँ तक कि साधारण बोल-चाल भी, राव के उदाहरण हैं । इस प्रकार नाद और राव का स्थूल भेद तो स्पष्ट और निर्विवाद है; पर दोनों के बीच कोई निश्चित सीमा नहीं खींची जा सकती । कोई नाद ऐसा नहीं है जिसमें राव का कुछ अंश न हो। वैसे ही, राव भी कभी-कभी नाद का रूप ले लेता है । पर नाद में एक चिकनापन का और राव में किरकिरापन और धक्के का अनुभव होता है । भौतिक दृष्टि से सामान्यतः यह कह सकते हैं कि नाद का कारण नियमित और लगातार कम्पन होता है और राव का कारण अनियमित और विच्छिन्न कम्पन ।

कानों के अनुभव के आधार पर नाद का परिचय तीन लक्षणों से मिलता है । एक तो, नाद का मोटापन-महीनपन या नीचापन-ऊंचापन । हार्मोनियम की पटरियों को एक के बाद एक दबाते हुए दाहिनी ओर बढ़ें तो स्वर ऊँचा होता चला जाता है । इसके विपरीत, बाईं ओर बढ़ने से स्वर नीचे गिरते जाता है । नाद के इस ऊँचेपन-नीचेपन को 'तारता' कहते है। भौतिक विचार में तारता का सम्बन्ध कम्पन की आवृति से है। आवृति जितनी अधिक होगी नाद की तारता भी उतनी ही अधिक होगी और स्वर उतना ही अधिक ऊँचा होगा । चक्के वाले साइरन से इसकी परीक्षा की जा सकती है । यह एक समतल चक्का होता है जिसमें अनेक छोटे-बड़े वृत्तों की परिधियों पर बराबर दूरी पर छेद बने होते हैं। जो परिधि जितनी बड़ी होती है उस पर छेदों की संख्या भी उतनी ही अधिक होती है। इस चक्के को समगति से घुमाते हैं । एक भाथी में लगी हुई नली के मुँह को छेद के सामने रखते हैं । भाथी के चालू करने पर, जब-जब नली का मुँह घूमते हुए चक्के के छेद के सामने आता है तब-तब वायु की एक फूँक या स्पन्द दूसरी ओर निकलता है । इकाई काल में जितने ऐसे समकालिक स्पन्द निकलते हैं उतनी ही आवृति की ध्वनि पैदा होती है । वृत्त जैसे-जैसे बड़ा होता है छेदों की संख्या भी बढ़ती जाती है; इसलिए नली का मुँह छोटी परिधि पर हो तो कम आवृत्ति की और बड़ी पर हो तो अधिक आवृत्ति की ध्वनि निकलेगी ।

कानों का अनुभव यह है कि नली जैसे-जैसे बड़ी परिधि पर जाती है, ध्वनि की तारता भी बढ़ती जाती है। चक्के की गति बढ़ाने से भी तारता बढ़ती है। इससे यह प्रकट होता है कि तारता का आवृत्ति से सीधा संबंध है।

नाद का दूसरा लक्षण है उसका ज़ोरदार या कमज़ोर होना। जो ध्वनि जितनी अधिक बली होती है वह उतनी अधिक दूरी तक सुनाई देती है। घोड़े की आवाज तारता में कम होने पर भी अधिक बली होती है। हार्मोनियम की एक ही पटरी को दबाकर भाथी जोर से चलावें तो स्वर अधिक बली निकलेगा और धीरे-धीरे चलावें तो स्वर धीमा या दुर्बल निकलेगा। इसे ध्वनि की बलिता या प्रबलता कहते हैं जो तारता से भिन्न है। पर तारता की तरह प्रबलता भी कानों की अनुभूति है। भौतिक दृष्टि से इसका संबंध नादक के कम्पन-आयाम से है। किसी कम्पित समष्टि की ऊर्जा उसकी आवृत्ति और उसके आयाम के वर्ग का अनुपाती होती है। नादक अपनी ऊर्जा का कुछ अंश माध्यम को देता है जिससे इसका आयाम कुछ घट जाता है। इस आंशिक ऊर्जा से ही ध्वनि की उत्पत्ति होती है। इसलिए भौतिक परिभाषा में नादक के ऊर्जा-दान की दर या माध्यम के ऊर्जा-लाभ की दर को ही ध्वनि की तीव्रता कहते हैं। माध्यम को जितनी ऊर्जा नादक से मिलती है उसका एक अंश वह कानों तक पहुँचाता है। इसी प्राप्त उर्जा या इसकी तीव्रता से कानों को ध्वनि की प्रबलता का बोध होता है। नादक से ऊर्जा का संचार सामान्यतः चारो ओर, मंडलाकार रूप में होता है। इससे यह समझा जा सकता है कि नादक के निकट ध्वनि की तीव्रता अधिक होगी और दूर जाने पर तीव्रता घटती जायगी। पर सभी जगह तीव्रता कम्पन-आयाम के वर्ग की अनुपाती ही होगी। कानों तक पहुँचती हुई ध्वनि की भौतिक तीव्रता ही प्रबलता के कर्ण-बोध का कारण है, पर इन दोनों का सीधा सम्बन्ध नहीं है। फेच्नर के अनुसार प्रबलता का कर्णबोध तीव्रता के लोगारिद्म का अनुपाती है। पर इस संबंध की भी ठीक-ठीक परीक्षा नहीं हो सकती; इसलिए कि कर्ण-बोध के सही माप का कोई साधन नहीं है।

ध्वनि का तीसरा लक्षण 'गुण' या वैशिष्ट है। कई बाजे साथ-साथ एक ही तारता पर बजते हों, फिर भी प्रत्येक बाजा उसकी ध्वनि से ही जाना जा सकता है। जीव-जन्तुओं और मनुष्यों की पहचान उनकी बोली से होती है। ऐसा जान पड़ता कि प्रत्येक ध्वनि का एक विशेष रूप, एक विशेष प्रकृति होती है जो उसे अन्य ध्वनियों से अलग कर देती है। इस प्रकृति विशेष को ही ध्वनि का गुण कहते हैं। इस गण-भेद का भी भौतिक आधार है। कम्पन के कई वर्ग होते हैं। एक कम्पन सबसे सरल, भीतर-बाहर से सम और सरल आवर्त गति के नियम से बँधा होता है। पेण्डुलम का कम्पन इसी वर्ग का है। दूसरा कम्पन सरल आवर्तगति के नियम से बँधा नहीं होता, पर प्रत्येक कम्पन की ज्यों-की-त्यों आवृत्ति होती है, और एक कम्पन का काल या परिकाल सदा समान रहता है। इसे समकालिक कम्पन कहते हैं। तीसरा कम्पन वैकालिक है जिसमें न तो कम्पन की आवृत्ति होती है और न कम्पन का परिकाल बराबर रहता है। यदि सरल आवर्तक कम्पन को समकालिक कम्पन का ही सरलतम रूप मान लें तो कम्पन के दो वर्ग होंगे— समकालिक और वैकालिक। किसी नादक का कम्पन सामान्यतः सरल आवर्तक न होकर समकालिक ही होता है। गणित में सबसे सरल समकालिक फंक्शन वृत्तीय फंक्शन होता है

जो साइन और कोसाइन के पदों में व्यक्त किया जाता है। इसलिए यह माना जा सकता है कि सरल आवर्तक कम्पन काल के साइन और कोसाइन फंक्शन में प्रकट किया जा सकता है। फोरियर प्रमेय से प्रत्येक समकालिक कम्पन काल के साइन और कोसाइन फंक्शनों की ऐसी श्रेणी से व्यक्त किया जा सकता है जिसकी आवृत्ति मौलिक या आदिम आवृत्ति के अपवर्त्य क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक नाद अनेक नादों का मिश्र है जिनकी आवृत्तियाँ मौलिक आवृत्ति की दूनी, तिगुनी, चौगुनी होती चली जाती हैं। मौलिक को छोड़, जिससे तारता निश्चित होती है, शेष नाद उपस्वर कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में यदि मौलिक को पहला आंशिक कहें तो उपस्वर क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे आंशिक होंगे। नाद में उपस्वरों का अस्तित्व केवल गणित का प्रमेय नहीं है, यह प्रयोग सिद्ध तथ्य है। इन्हीं उपस्वरों की तीव्रता के तारतम्य से गुण-भेद की उत्पत्ति होती है; अर्थात् किस नाद में किस उपस्वर की तीव्रता कितनी है, इसी पर एक नाद दूसरे से भिन्न हो जाता है। किसी उपस्वर की तीव्रता शून्य हो तो वह नाद में लुप्त होगा। यदि उपस्वरों की आवृत्ति का मौलिक आवृत्ति से अपवर्त्य का अर्थात् सरल गुणक का संबंध न हो तो ध्वनि वैकालिक हो जायगी और उसमें राव का आभास आने लगेगा। धातु के चदरे और डंडे या चमड़े के पर्दे से निकली हुई ध्वनि इसी वैकालिक वर्ग की होती है। तार और वायु के कम्पन से निकली हुई ध्वनि समकालिक होती है। शुद्ध नाद, जिसमें कोई उपस्वर न हों, प्रायः अलभ्य है। ट्यूनिंगफार्क लगभग शुद्ध नाद देता है, इसलिए कि उसका पहला उपस्वर बहुत ही अल्प तीव्रता का होता है।

संगीत का उपादान नाद है। नाद के ही उतार-चढ़ाव से संगीत की सृष्टि होती है। पर यह उतार-चढ़ाव लगातार न होकर सिड्ढियों के क्रम से होता है। इन सिड्ढियों को ही संगीत के स्वर कहते हैं। प्रत्येक स्वर एक विशेष तारता, इसलिए एक विशेष आवृत्ति का नाद होता है। पर एक स्वर और दूसरे स्वर का अंतर आवृत्तियों के अन्तर से नहीं, आवृत्तियों के अनुपात से व्यक्त किया जाता है। इस रीति से व्यक्त किए गए अंतर को "अंतराल" कहते हैं। तात्पर्य यह कि संगीत का आधार शुद्ध तारता नहीं, आपेक्षिक तारता है। प्रत्येक संगीत पद्धति में पहले दो सीमान्त तारताएँ मानी जाती हैं जिनमें दूसरी की आवृत्ति पहली की से दूनी होती है। इन दो सीमान्त स्वरों के बीच का अंतराल २ होता है। इन दो सीमान्त स्वरों के बीच सामान्यतः छः और स्वरों की स्थापना होती है जिनके पहले स्वर से अंतराल भिन्न-भिन्न होते हैं। पहले सीमान्त स्वर को स्वरित कहते हैं और दूसरे सीमान्त स्वर को पहले की ही आवृत्ति मानते हैं। भारतीय पद्धति में स्वरित लेकर सातो स्वरों की संज्ञाएँ तारता क्रम से षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद हैं। दूसरे उपरले सीमान्त स्वर को तार षड्ज कहते हैं। स्वरों के भारतीय संकेत क्रमशः स, री, ग, म, प, ध, नी, सं हैं और पाश्चात्य संकेत C, D, E, F, G, A, B, C′ हैं। इस स्वर समूह को संख्या के हिसाब से भारतीय पद्धति में सप्तक और पाश्चात्य पद्धति में "ओक्टेव" या अष्टक कहते हैं। स्वर-संस्थान की दृष्टि से इसे स्वर-ग्राम कहते हैं। बीच के स्वरों में से एक का भी अंतराल बदले तो ग्राम बदल जाता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के ग्राम हो सकते हैं। नीचे सबसे अधिक मान्य आवर्तक या वैज्ञानिक ग्राम, जिसे शुद्ध ग्राम भी कहते हैं, स्वरित से अन्तराल और पारस्परिक अंतराल के साथ, दिया जाता है :—

यहाँ तीन माप के पारस्परिक अंतराल दिखाई पड़ते हैं जिनमें से $\frac{9}{8}$ को गुरु स्वर (मेजर टोन), $\frac{10}{9}$ को लघु स्वर (माइनर टोन) और $\frac{16}{15}$ को अर्ध स्वर (सेमीटोन) कहते हैं। इन स्वरों के क्रम में या अन्तराल में अंतर पड़ने से ग्राम बदल जाता है।

यह संगीत के क्रिया-कलाप में अनुभव सिद्ध है कि किन्हीं दो स्वरों का साथ-साथ उच्चारण मधुर और किन्हीं दो का कटु होता है। मधुर अन्तराल को इष्ट और कटु अन्तराल को अनिष्ट कहते हैं। इष्ट अन्तराल के दोनों स्वर परस्पर संवादी और अनिष्ट अन्तराल के दोनों स्वर परस्पर विवादी माने जाते हैं। ऊपर के ग्राम में स–ग, स–म, स–प और स–ध अन्तराल तो इष्ट हैं और स–र, स–नी अंतराल अनिष्ट है। यह नियम है कि जो अंतराल जितने अधिक छोटे अंकों के अनुपात से व्यक्त होता है वह उतना अधिक इष्ट होता है। इस नियम से स की अपेक्षा इष्टता क्रम में सं, प, म, ग और ध का स्थान है।

दो स्वरों के संवाद-विवाद की भौतिक व्याख्या हेल्महोज ने की। विवाद का कारण उन्होंने दो स्वरों की संगति में 'डोल' का अस्तित्व बताया। किन्हीं दो स्वरों की आवृत्तियों में बहुत ही थोड़ा अन्तर हो तो दोनों के साथ-साथ उच्चारण में तारता का अन्तर तो पकड़ में नहीं आता पर संयुक्त स्वर की तीव्रता घटती-बढ़ती मालूम होती है, जैसे स्वर हिल रहा हो। संयुक्त स्वर के इस हिलने को ही डोल कहते हैं। आवृत्तियाँ सेकेण्ड में नापी जाँय तो उन आवृत्तियों में जितना अन्तर होगा प्रति सेकेण्ड उतने ही डोल होंगे। हेल्महोज के प्रयोग के अनुसार जिन दो स्वरों के बीच तैंतीस डोल हों वे परस्पर सबसे अधिक विवादी होते हैं। अब यह संख्या २३ मानी जाती है। व्यावहारिक तारता पर अर्ध स्वर (१६।१५) अंतराल पर सबसे अधिक विवाद पाया जाता है। डोलों की संख्या इससे घटने या बढ़ने पर विवाद घटता है पर ऐसे दो स्वरों में भी विवाद मिलता है जिनकी आवृत्तियों में बहुत अधिक अंतर है। वहाँ मौलिकों का डोल नहीं, उनके उपस्वरों का डोल विवाद का कारण है। यदि उपस्वरों के डोल से ही स्वरों में विवाद हो तो शुद्ध नादों में, जिनमें उपस्वर नहीं रहते, विवाद न होना चाहिए। पर कहीं-कहीं शुद्ध स्वरों में भी विवाद पाया जाता है जिनमें उपस्वर नहीं हैं। यहाँ विवाद का कारण यौगिक या परिणामी स्वरों का डोल है। जैसे विवाद का कारण उपस्वरों का डोल है वैसे ही संवाद का कारण उपस्वरों का मेल है। तार षड्ज सं के सभी उपस्वर स के उपस्वरों में मिलते हैं। स के जिन उपस्वरों का मेल नहीं है, वे विवादी डोल की सीमा के परे हैं। अनिष्ट डोल होता भी है तो बहुत ऊँचे उपस्वरों में जैसे १५वें और ८वें में जिनकी तीव्रता बहुत थोड़ी रहती है। स के तीसरे आंशिक और प के दूसरे आंशिक में मेल है; इसीलिए संवाद में तार षड्ज के बाद पंचम का ही स्थान है। स का चौथा आंशिक मध्यम के तीसरे आंशिक से मिलता है। इसलिए मध्यम का स्थान पंचम के बाद है। इससे यह तथ्य निकलता है कि नीचे के उप स्वरों में मेल तो संवाद का और डोल विवाद का कारण है।

संगीत के ही प्रसंग में ध्वनि वैज्ञानिक अनुशीलन का विषय माना जाने लगा। विशेषतः वाध्य-यंत्रों की रचना में ध्वनि के भौतिक पक्ष का ज्ञान आवश्यक हो गया। क्रमशः ध्वनि केवल चित्तवृत्ति न रहकर द्रव्य-समष्टि के कम्पन के रूप में मैकेनिक्स के विचार-क्षेत्र में आ गई जिससे इसका अधिकार बढ़ता गया। यह विज्ञान की प्रक्रिया है कि अनुशीलन के साथ ही साथ अनुशीलन के क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। इसका एक विशद् उदाहरण है। सामान्यतः यही माना जाता है कि जिसका प्रभाव आखों पर पड़े वही प्रकाश है। पर जब मैक्सवेल की कृति से यह प्रकट हुआ कि प्रकाश विद्युत-चुम्बकीय तरंग है तो बड़े-से-बड़े रेडियो तरंग से लेकर गामा-किरण तक एक बहुत ही लंबी श्रृंखला सामने आई। इस श्रृंखला की कुछ ही कड़ियाँ आंखों को प्रभावित करती हैं जिसे दृश्य प्रकाश या दृष्टि प्रकाश कह सकते हैं। पर सारी श्रृंखला की तात्त्विक प्रक्रति एक होने से प्रकाश के प्रकरण में ही इनका समावेश होता है। वैसे ही कम्पन के सहचार से ध्वनि का विस्तार कम-से-कम आवृत्ति से लेकर अधिक से अधिक आवृत्ति तक हो जाता है। कानों के सहचार से ध्वनि लगभग २० चक्र प्रति सेकेण्ड से लेकर २०,००० चक्र प्रति सेकेण्ड तक ही सीमित हो जाती है। यही कानों की क्षमता का विस्तार है जो ध्वनि की मौलिक परिभाषा निर्धारित करता है। पर सभी कम्पनों के, तत्त्व और क्रिया में, एक होने से २०,००० चक्र प्रति सेकेण्ड की आवृत्ति से अधिक आवृत्ति के कम्पनों का विचार भी ध्वनि के प्रकरण में ही होता है। ऐसे कम्पनों को 'परा ध्वनिक' कम्पन कहते हैं। परा ध्वनिक कम्पन के उत्पादन और ग्रहण के अनेक उपाय हैं जिनमें मुख्य हैं 'पीजो विद्युत' और चुम्बक संकोच। क्वार्ट्ज़ क्रिस्टल के ऐसे उपकरण तैयार हुए हैं जिनसे बहुत ही ऊँची आवृत्तियों के कम्पन पैदा होते हैं। परा ध्वनि के नियोग से द्रव और गैस के संबंध में अनेक नए तथ्यों का आविष्कार हुआ है। इसके व्यावहारिक उपयोग भी बहुतेरे हैं; जैसे बेक्टीरिया का नाश, ठोस के भीतरी विकार की परीक्षा, परस्पर न मिलने वाले द्रवों का मिलाना आदि।

पहले, ध्वनि के प्रसंग में नाद की ही विवेचना होती थी और राव की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। पर नगरों के शोर के इतने अनिष्ट परिणाम होते हैं कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए अब राव की व्यवस्थित परीक्षा होने लगी है और इस बाधा को दूर करने के उपाय निकाले जाने लगे हैं। वैसे ही बड़े-बड़े हॉलों या दालानों की समस्या है, जहाँ व्याख्यान, संगीत आदि के आयोजन होते हैं। दालान में गूंज अधिक हो तो संगीत-व्याख्यान सभी विकृत हो जाते हैं। इसलिए बड़े-बड़े दालानों की ध्वनि-सम्पत्ति की परीक्षा और सुधार, यह एक मुख्य विषय हो गया है।

यह देखा जाता है कि द्रव्य-कम्पन और विद्युत-कम्पन की सारी प्रक्रियाएँ एक सी हैं। एक ही नियम दोनों ही प्रकार के कम्पनों में लगते हैं और एक से ही परिणाम मिलते हैं। इसी से ध्वनि का रूपान्तर विद्युत-कम्पन में और विद्युत-कम्पन का रूपान्तर ध्वनि में होता है। इसी समता के आधार पर बहुतेरे विद्युत उपकरणों का निर्माण हुआ है जिनसे ध्वनि का उत्पादन, ग्रहण और प्रसार होता है। इसलिए ध्वनि के प्रसंग में ही विद्युत्-कम्पन की यथोचित विवेचना आवश्यक है।

———

GRAHAM GREENE AND THE LOST DIMENSION

Dr. A. P. O'BRIEN

Professor of English

Twenty-one years from the Nineteen Thirties to the Nineteen Fifties have been momentous in literary criticism and literature. They witnessed the existence of the *Scrutiny*, from its first issue in May, 1932, to the Valedictory address by F.R. Leavis in October, 1953. These years established, what may be called, the suzerainity of absolute literary criticism. A poem, for example, was taken on its own merit and its analysis was confined to literary organization alone, apart from any biographical, religious or philosophical bearing, that it may possess. T. S. Eliot in the essay on 'Dante' in *The Sacred Wood* made out a case for the study of philosophy in poetry where the philosophy was material to the existence of the poem. The novel too passed through the same controversial phases as poetry. F.R. Leavis analysed D. H. Lawrence's novels from the stand-point of literary criticism and found them good expressions of sensibility. *St. Mawr*, *Women in Love*, answered to the tests of dramatic poems. Eliot had his differences with Leavis. He found in Lawrence a lack of critical faculties and free thinking unconnected with any 'tradition or institution'. To this Leavis replied with one of his characteristic gibes : 'in purity of interest and sureness of self-knowledge he (D. H. Lawrence) seems to me to surpass Mr. Eliot'.[1]

Absolute literary criticism, in certain instances, yields positive results. Leavis had written in *The Great Tradition:* 'There can't be subtlety of organization without richer matter to organize……'.[2]

This implies an analysis of the organization and a thorough exploration of the subject matter. This means that

[1] *The Common Pursuit* by F. R. Leavis (1952) p. 235.

[2] *The Great Tradition* by F. R. Leavis (1948) p. 4.

even literary criticism may have to consider new fields of learning and experience (including metaphysical truths) if these are fundamental to the creation of particular authors. The English novelist, Graham Greene, can be evaluated, to an extent, ffom a purely literary standard. One can trace in him the stylistic influences of E. M. Forster or the recurrent themes of betrayal and expiation found in Joseph Conrad. Greene does yield to a purely artistic analysis and Kenneth Allott and Miriam Farris have done this largely in their book *The Art of Graham Greene* (Hamish Hamilton, 1951).

There is an aspect of Graham Greene which is fundamental to the understanding of the novelist, at least in his major works. That is the religious element in him. Greene believed that religion was a precious factor in the modern novel. He traced that in his essay on Francois Mauriac where he refers to Henry James :

'with the death of James the religious sense was lost to the English novel, and with the religious sense went the sense of the importance of the human act. It was as if the world of fiction had *lost a dimension*' (italics mine).[1]

Greene's novels restore that lost dimension. He began with experiments of the divided personality and the theme of betrayal in books like *The Man Within* (1929), *The Name of Action* (1930), and *Rumour at Nightfall* (1931). He studied the crime act in what he called Entertainments, such as, *Stamboul Train* (1932), *A Gun for Sale* (1936) and *The Confidential Agent* (1939). But he soon emerged as a great Catholic novelist in his major works : I have taken four outstanding novels as my data to prove this : *Brighton Rock* (1938), *The Power and the Glory* (1940), *The Heart of the Matter* (1948) and *The End of the Affair* (1951). These novels show Greene as an author who, as Francois Mauriac writes : 'broke like a burglar into the kingdom of nature and of Grace'.[2] Greene as a religious writer

[1] *The Lost Childhood* by Graham Greene (1951) p. 69.
[2] *Great Men* by Francois Mauriac (1952) p. 118.

has met with some disapproval at the hands of strict theologians; his novels nevertheless have about them a religious validity for they are not totally unfounded on doctrine.

Greene took the crime story for the exegesis of his mystical view of life. The modern thriller is well known in literature. E.W. Hornung wrote the famous Raffles stories, such as, *Raffles, A Thief in the Night, Mr. Justice Raffles* and *Stingaree*. Raffles was a cat burglar who broke into fashionable Mayfair homes. With James Hadley Chase, the crime story of violence became a self-sufficient form of art. Fast-moving, breath-taking action in the lives of gangsters was depicted in the montage technique of the cinema. *No Orchids for Miss Blandish* (Avon Publishing Co., Inc. New York, Reprint, 1951), for example, is a gruesome sex story. There is a murderous presiding genius, "Ma Grisson", an old, cruel and calculating terror. The white skinned Blandish girl is subject to all sorts of nightmarish terrors. A rival gangster, Riley, has his belly bared and cut with a knife. The whole story is nauseating, full of scenes of death and traumas, like Eddie Schultz being flogged on the windpipe with a truncheon. James Hadley Chase, like Raymond Chandler and Dashiel Hammett, sting us into the experience of a vicarious sensationalism.

When Graham Greene took up the crime story, he did not turn to writers like E. W. Hornung or James Hadley Chase who gives us in the words of George Orwell in *Critical Essays* 'a header into a cess pool'.[1] In that fine book of deeply perceptive essays, *The Lost Childhood*, Greene tells us that it is Marjorie Bowen who, in *The Viper of Milan* with its 'enormous brutality', gave him the form of his writing 'for better or worse'.[2] He found human nature 'not black and white but black and grey'.[3] This was the despairing and the shady side of life which he took up to illustrate 'perfect evil walking the world where perfect good can never walk again',.[4]

[1] *Critical Essays* by George Orwell (1946) p. 146.

[2] *The Lost Childhood* by Graham Greene, p. 15.

[3] *Ibid*. p. 16.

[4] *Ibid*. p. 17.

Greene concerned himself with the horror of life. He gives us murder, suicide, and every form of violence. To dark acts he adds the illumination derived from the institutional philosophy of Catholicism. In this he is in contrast to Elias Canetti who in *Auto da Fé* is concerned with 'the disintegration of culture and the degradation of man...not theological evil'.[1] Greene makes an exploration into God through theological evil. Pinkie in *Brighton Rock* is a youthful pervert. He kills ruthlessly and goes even to the point of urging his wife, Rose, to commit suicide. Nemesis comes fast upon him and he is burnt in the face with the vitriolic liquid he brought to destroy Rose in case she hesitated to take her own life. Over all the insensate deeds and crimes in the story there rises transcendingly the mercy of God. Pinkie dies apparently in sin. Still the good priest whispers to Rose in the confessional: "You can't conceive, my child, nor can I or anyone...the...appalling... strangeness of the mercy of God" (p. 331 *Brighton Rock*, William Heinemann, 1938/1950.) In *The Power and the Glory* a bad whisky priest flies from the arm of the law in the Mexican jungle. He has abjured religion and leads a bad life. Yet when the occasion comes he turns the wafer into the mystical body and blood of Christ. The whisky priest is finally caught and condemned to death. Before his execution he crouches on the floor with his drained brandy flask in his hand and prays brokenly :

"O God, I am sorry and beg pardon for all my sins...crucified... worthy of Thy dreadful punishments." (pp. 272-273 *The Power and the Glory*. William Heinemann. 1940/1949). The whisky priest becomes a martyr of the Church. In the sanctity of his irrevocable office as a priest and his death are visible the power and the glory of God.

The same mystical processes are seen in *The Heart of the Matter*. Scobbie commits suicide but Father Rank tells his wife : 'The Church knows all the rules. But it doesn't know

[1] *The Assessment of Twentieth-Century Literature* by J. Isaacs, (1951) p. 61.

what goes on in a single human heart...It may seem an odd thing to say—when a man's as wrong as he (Scobbie) was—but I think, from what I saw of him, that he really loved God.' (p. 297 *The Heart of the Matter*, The Reprint Society, London, 1948). Scobbie is saved by God's mercy. In the novel *The End of the Affair* Sarah prays for the safety of her lover and falls in love with God as she had done with Bendrix, her lover. The story reveals Sarah, the slut turning into Sarah the saint, for sainthood is given even to corrupt human nature : 'we have to be pushed around. We are inextricably bound to the plot, and wearily God forces us, here and there, according to his intention...' (p. 229, *The End of the Affair*, William Heinemann, 1951).

All these novels of Greene deal with some of the fundamental concepts of the Catholic faith. Man is given free will and he can elect for his own salvation or damnation. Our souls are sustained by "sanctifying grace" which comes from God. Greene, however, goes into paradoxes not easily understandable or decipherable. In *The Heart of the Matter*, for instance, he writes :

'only the man of good will carries always in his heart the capacity for damnation' (p. 60).

'Virtue, the good life, tempted him in the dark like a sin' (p. 199).

'How often, he thought, lack of faith helps one to seem more clearly than faith' (p. 224).

These contradictions do not easily reconcile themselves. The morbid compulsions which cause damnation, sin and lack of faith, Greene transfers for the promotion of salvation, virtue and abiding faith. The crime story in his hands thus becomes a salvation story in *excelsis*.

Mauriac perceives in Greene's *The Power and the Glory* the influence of Bernanos. The great French Catholic novelist, Mauriac, cannot readily understand the English Catholic novelist, Greene. Mauriac himself does not readily accept re-

ligion as a hereditary gift for in such cases we are 'inundated with light'.[1] He discovers religion for himself through base human motives such as despair and greed in *The Knot of Vipers* or hypocrisy in *A Woman of the Pharisees*. In reading Greene, he finds himself baulked—led to a "concealed door" and passing "through tangled branches".[2] Mauriac writes that Greene is moved by the 'hidden presence of God'—'that subterranean flowing of Grace'.[3] In *The Ministry of Fear* Greene gives us a shrinking idealist in Arthur Rowe who did the mercy-killing of his wife. There is this speech in character in *The End of the Affair*: 'How twisted we humans are and yet they say a God made us' (p. 6). Greene pursues his dialectics throughout his books, such as, 'It needed a God to die for the half-hearted and the corrupt' (pp. 123-124, *The Power and the Glory*). From these basic thoughts he studies the pursuit of God covert in *Brighton Rock* and *The Heart of the Matter* and overt in *The Power and the Glory* and *The End of the affair*. It is not merely a Hound of Heaven story of a God pursuing a fleeing soul, but the conquest by God of a challenging and defiant sinner who stands his ground. This is the slant which makes this theology so special—perhaps true, not for people normally situated in life, but those abnormally placed driven by sin and despair. Greene is concerned 'with the four last things—death, resurrection, immortality, and judgement'.[4] These drive Greene as nothing else besides, although Kenneth Allott and Miriam Farris write :

'A terror of life, a terror of what experience can do the individual, a terror at a predetermined corruption, is the motive force which drives Greene as a novelist.'[5]

Concession to this view would mean placing Greene in the genre of horror writers, such as, Dostovesky, or the sociologist, Lewis Mumford, which Greene surely is not.

---

[1] *God and Mammon* by Francois Mauriac, (1946), p. 16.
[2] *Great Men* by Francois Mauriac, (1952), p. 117.
[3] *I bid.* (1952), p. 119.
[4] *Saturday Review*, October 27, 1951, p. 11.
[5] *The Art of Graham Greene* by Kenneth Allott and Miriam Farris, p. 15.

Greene anneals by his art, not just 'realism and spiritua-lity' as Morton Dauwen Zabel writes in *Forms of Modern Fiction*,[1] but institutional Catholicism and a personal philosophy of God's mercy and sanctifying grace. This is the new variant he gives to religion and with it gets back, in a partially traditional and a partially individual way, the lost dimension in the form of the modern novel indulged in by purely 'emotional onanists'. Greene is a novelist who makes us recover through a process of *katharsis* some of 'our lost equanimity, our lost integrity and our lost innocence.'

———

[1] *Forms of Modern Fiction* Ed. by William Van O'Connor, (1948), p. 293.

ASSESSMENT OF POPULATION GROWTH

Dr. UMESH PRASAD

Deptt. of Economics

Population growth in India has high fertility and high mortality. Developments in medical and public health fields mean controlling of infections and parasitic diseases which are mainly responsible for keeping the mortality at a high level. Welfare states have not been slow to take advantage of such developments. It is almost certain that in countries where mortality is in a process of decline, a similar general statement cannot be made about natality. Unless decline in mortality is accompanied by a reduction in natality, the rate in population growth will be accelerated till an optimum with the means of livelihood is reached. In India the strain on the means is already great, and effort is being made to enlarge the means. If the effort does not wholly succeed, there has to be a decline in natality or a rise in mortality to restore equilibrium, even if the problem of raising the low standard of living of the masses is ignored for the time being. Assuming that under national planning the wiser and happier path of reduced births is adopted, the crucial point is the time by which such a reduction is likely to take place. If it is delayed, many extra babies will be born, which in turn would contribute to reproduction on reaching appropriate ages. It is true that a mouth is accompanied by two hands but the position regarding availability of work is already bad. It is evident that the sooner the growth is slowed, the better it would be. In the meantime growth should be known for planning.

It is generally realized that if a plan for economic and social development is to achieve its targets in respect of per capita national income and standard of living, it ought to have a reliable assessment of the dynamics of population growth. Demographers are undoubtedly better equipped than other social

scientists to perform this work. The imortant thing is that those who make population projections, as also those who make use of them, should constantly bear in mind the assumptions, the limitations and the possible margin of error in the projections.

Pit Falls in Population Forecasts and Projections

Demorgraphy begins with questions about size of population, i.e. number of persons at particular times who are located in prescribed area. Demography is generally limited to studies of human populations as influenced by demographic process: fertility, mortality and migration. Demographers are concerned with the demographic process and characteristics of such 'sub-population' as ethnic (concerning nations) or religious classes. Some demographers are also engaged in labour force investigations, i.e., studies of persons classified by type of economic activity, specially as regards relations between the labour force of an area and the size and structure of its total population. Demography as a living discipline changes its interests and operations with changing conditions and, as it does so, it shares interests and knowledge with other disciplines. The desideratrum of each discipline is the efficient development of a cluster of interrelated studies. This involves an equilibrium between concentration and dispersion, subject to constant redefinition through experimentation.

Statistical Technique

The demographer is interested in measuring population changes and relation among factors in population changes, such as the measurement of reproductivity as a joint function of fertility and mortality, relations between vital rates and the age and sex composition of population and the projection of observed trends into the future on the basis of various hypotheses.

Investigations on these topics have led to the gradual formation of a very considerable body of special statistical technique which is constantly being augmented, scrutinized and

revised. There have been important innovations in this field during the last decade. The development, evaluation and application of these techniques is central in the development of demography as a science.

Demographic Analysis

The mathematical treatment of a set of 'core relations' among demographic phenomena (which are both biological and social process) yields highly significant results. The construction of 'Life Tables' and more recently, the construction of 'Stable Populations' (showing the mutual implications of age-specific mortality rates, age specific fertility rates, age structures and rates of increase—usually for hypothetical one sex population) provide impressive examples of the value of mathematical models in the social sciences. *Population projections, treated as hypothetical constructions rather than as estimates of future conditions, have comparable value.*

The statistical treatment of demographic variables, apart from studies of related biological and social determinants and consequences, is sometimes referred to as 'pure or formal' demography. The distinction between this sub-field and other demographic studies does not necessarily imply any distinction in levels of scientific operation, but it concerns the relation of demography to other sciences. The construction of mathematical models to show possible interrelations among demographic and economic variables falls outside the limits, strictly defined, of pure demographic analysis.. Similarly, a study of conditions influencing fecundity or sterility, involving physiological techniques or a study of the influence of types of family organization or attitudes on fertility behaviour, involving sociological and psychological techniques, may be as rigorously scientific as any studies in pure demography. The distinctive character of 'pure demography, is, therefore, essentially a matter of abstraction in dealing with a particular class of phenomena.

This is necessarily a very restricted field. But there have been extremely important contributions to general demography through investigations along this line, and advances already

achieved are constantly being enlarged though new contributions. An understanding of this special field is, therefore, a necessary qualification for advanced work in the development of population studies, while a mastery of the field is essential for the 'formal demographer'.

Population forecasting is not simple matter, it would not be correct to think that the trouble lies with the technique of forecasting. Our real limitation consists in the basis on which we make assumptions regarding the future trends in fertility, mortality and migration. It is because we have no sure way of correctly predicting the future trends in fertility, mortality and migration that some of the projections turn out to be far removed from reality, and as Gannett has rightly said, "one or two of the predictions have by accident hit very near the truth......but all have been finally vide of the mark.[1]

Mr. Harold F. Dorn[2] is highly critical and charges the demographers at the bar of public opinion, for creating a false impression that their forecasts are scientific and accurate, and finds them guilty on nine counts, some of which are as follows:

1. Giving the impression that "projected populations" will be relatively inevitable and certain.
2. Assuming that observed fertility and mortality of a single year or of a short period of years is a reliable guide to future trends. Sometimes underestimating the effects of scientific developments on lowering mortality rates.
3. Believing that the demographic development of a theoretical stable population must inherently characterize current demographic developments in an actual unstable population. Assuming that because birth rates have declined for several generations, they must inevitably continue to decline.

---

[1] Gannett Henry, "Estimates of Future Population", Report of the National Consuration Commission, Vol. II, 1909, p. 7-9.

[2] Dorn Harold F.,"Pitfall in Population Forecast and Projectives" Journal of American statistical Association, Sept. 1950, pp. 311-313.

4. Giving undue weight to recent downward cyclic fluctuation in fertility while making long range population projections.

5. Forgetting that the voluntary control of fertility can cause the birth rate to rise as well as to fall.

6. Consistently overestimating the rate of decrease in the growth of the population in the U.S.

Prof. H.F. Dorn tries to assess the obvious limitations of forecasting population. States that if he were to assess the work of other social scientists, he would find that population forecasting is, at best, subject to the same degree of error as, say, business forecasting, weather forecasting, gallop polls, election forecasts and the like. The success or otherwise of these or any other types of forecasting depends on the assumptions on which a forecast is based and the extent to which these assumptions turn out to be realistic. Population projections are not exact predictions of future population size, nor should they be taken to indicate the probable sex and age structure of the population. They are, "strictly speaking, mere statements of what the size and sex and age composition of the population would be at given future dates if the fertility, mortality and migration were to follow certain specified trends."

Despite the limitations of the population projections, their utility is no longer disputed. A demographer has to make an assessment of the likely future trends in fertility, mortality and migration on the basis of the past trends, the present position and the likely developments in the future. Since the future must always remain uncertain it should not be surprising if the population projections too have a certain degree of uncertainty. And the longer the period for which a projection is made, the greater will be the possible margin of uncertainty. Why then single out population projections and subject them to the fury of criticism which is equally valid for all types of forecasting ?

THE ROLE OF STUDENTS' ASSOCIATIONS IN FREE INDIA

SHRI RAMAPATI SHUKLA

Teachers' Training College, B.H.U.

It is a well known fact that students of our country played a prominent part in the national struggle for independence. Their associations were centres of national propaganda and they helped the national leaders in waking the masses and organising their battles against the foreign rulers of this country. At times they suffered heavily on this account but their spirit remained undaunted and they never failed in their duty to their Motherland. Whenever there was a call to boycott the Government institutions or foreign articles the students were always in the forefront and they showed immense courage and responsibility. Their organising capicity was marvellous and the Government was embarrassed with their unity and strength as well as their disciplined way of doing things.

But now that the war for independence has been won and we are a free country occupying an honourable position among the nations of the world, our wartime tactics should give place to peace time activities. It is now time to consider how the students' organisations should plan their work in order that they may be as useful to the country as they have been in past when they struggled for the liberation of their country from the foreign yoke. They should consider seriously what their proper role should be in free India.

The country's sad plight during the British rule and after they quitted it is well known to the grown up students. The partition of the country into unnatural divisions, trying to break the essential unity of the country and the nation, which resulted in numerous political, economic and social problems, is well known to the students of our colleges and universities. They are not unaware of the colossal task of rehabilitation

of the refugees which has been a great stumbling block in our economic progress and the Kashmir problem which is causing a huge drain on our national finances and no less worries to our political leaders in national as well as international spheres. They are also aware of the many social evils which we have to fight before we can march on our path of economic development. Therefore the students have to find out how far they can help in solving the numerous problems confronting the country and her leaders. It should be the primary duty of students' associations in the country to give serious thought to their future line of action in the light of the changed circumstances and needs of the country.

It is obvious that in peace time all the organisations in a country should strive to make good the losses incurred in past years. All our resources should go to make the country stronger than before. We all know that our national economy has been disturbed and we have to do a lot of constructive work to rebuild it. Unfortunately ours has been a long war of Independence started a hundred years back and during this long period the country has been badly harassed and hopelessly famished by the conquerers. We have, therefore, to work hard to raise the country to the level of progress achieved by other nations of the world with whom we have to stand as equals in international affairs. The students' associations, therefore, have to plan some constructive work which they must do to raise the status of the country.

The most important constructive work awaiting the students to do is lying in the field of social service. Illiteracy, superstition, social inequality, marriage and dowry and host of other problems have to be solved before we can solve our economic problems of far reaching importance. Similarly in the field of health and hygiene students can do much to improve the condition of the people. There are problems of students themselves which their organisations should try to solve in order to raise their standard of education.

The students' associations—unions, parliaments, clubs leagues etc.—can do much to eradicate illiteracy prevalant among the masses. They can run night schools for the benefit of adults who do not find time to read in the day time. But during vacations they can go to villages to open schools for the poor village children and there they may not only teach the three R's but educate the people in the common rules of health and hygiene so that they may learn habits of cleanliness which is next to godliness. Villages are no less dirty than towns and it is specially due to the unhygienic habits of the people. If they only become more careful they can really live a better life. We know that villagers are generally very poor, but proverty does not stand in the way of cleanliness. We have enough water and sunshine freely available in our country. So it is not difficult to wash one's body and clothes daily. This will surely ensure sufficient immunity from a number of diseases. Even in towns there are *harijan bustees* and slums of labouring classes where illiterate people live in dirt and dark. Students would do well to visit these areas in their own towns and organise literacy and cleanliness weeks.

Our social life is no less influenced by superstitions. They abound among low caste people to such an extent that at times they face death rather than dare disturb a deity. Education will go a long way to liquidate these superstitions and people will learn the value of hygiene and medical aid.

Social inequality, better known in the form of untouchability and caste-rules, is another serious evil which has to be fought by our young men specially. They can remove these ills not by precept but by example. This will require a bold step on the part of students themselves. But their organisations can easily fight this evil of social inequality by mixing with the people more and more with a view to demonstrate the futility of regarding some as higher than others. The criterian of gradation should not be birth in a particular caste or family but the deed of the person concerned.

It is hardly necessary to dilate upon the problem of marriage which is engaging the attention of most of our social, economic and political leaders. Child marriage has been tried to be removed by legislation. But the law is only on the Statute Book and it has hardly affected child marriage. Education alone has succeeded in reducing child marriage among the upper classes but it is still rampant among the backward people. Similarly widow re-marriage and polygamy can be removed only by education. But there is one field where education has had an adverse effect. It is the system of dowry. Educated bridegrooms are more costly and their demands become exhorbitant at times. The lives of many girls have been ruined on account of this evil system of marriage dowry. Sometimes the boys suffer no less than the girls because they do not get really good companions for life as money becomes the most important factor in the choice of a bride. It should be the duty of our students' associations to rise to the occasion and carry on a crusade against this socio-economic evil of our society. Their struggle will be more effective as they are themselves a party to it and if they take a vow not to accept dowry and solemnise marriages in simple manner their parents will surely give way and the diehards will have to accept their defeat.

The problem of marriage is intimately related to the problem of population which is increasing by leaps and bounds. Late marriages among educated boys and girls is a better sign and the problem may be solved by the progress of education. But we must be cautious lest there may be a lopsided development of our population. The educated persons are practising family planning but undersirable population of poor and destitute people goes on multiplying without any check. Family planning is more needed among these people who do not realise the responsiblity of begetting children. Legislation is needed for those who are mentally defective and physically destitute and carry hereditary infectious diseases. But the student organisations can do successful propaganda work through education

and social service among these classes to check the unhealthy growth of population which the country cannot support.

Besides social work the students' organisations can do much work in the field of political education. But before making the people political minded they would do well to practise democracy in their own institutions. The students' organisations should be run democratically and the first lessons of democracy should be learnt in these institutions. Some schools and colleges provide facilities for self-government among the students. They should take advantage of such opportunities and learn how to run an efficient government. Undesirable scenes at the time of elections to students' organisations should be carefully avoided.

While trying to learn the lessons of democracy and self-government in students' organisations they should try to keep themselves at an arm's length from political parties in the country. No doubt some of the major political parties exploit the students at the time of general elections to the legislatures. But it will be wiser on the part of student bodies not to actively participate in these political fights. They may maintain mock parties among their unions and parliaments. But these parties should neither align themselves with the political parties of the country nor they should divide the student community into hostile camps. They should be formed only for the purpose of rehearsing the drama of life which will be later on played by the students when they will themselves enter legislatures. Thus their function should be political education and not creation of factions leading to disturbances and indiscipline among students.

Another field of activity for students' associations is organising welfare work for students. There are many poor students who would show better results in education if they were provided with better opportunities. Such students should be carefully marked out by their companions and either by approaching the educational authorities or by collecting funds themselves they should try to help them to receive the kind of

education they desire. Students' Unions can also help the educational authorities in awarding concessions and scholarships to poor and deserving students by pointing out to them the genuine cases in need of help. Very often such cases are left out and undeserving students reap the benefits. The students themselves are responsible for this kind of injustice done to their own brethren and it is high time they should come forward to fight this evil. Only the other day a Cabinet Minister rightly advised the students of a university not to go a begging for help from government. Instead they should try to sacrifice something themseleves and collect funds to help their needy brethren. Cutting short a cinema show or one day's meal will mean a tremendous sum in a university where hundreds and thousands of students are reading.

It is needless to add that parents and teachers of students are always anxious to help them and any constructive work planned by them will find ready favour with their elders. The students' organisations will not suffer for want of funds or encouragement in other ways if they only show their earnest desire to serve their country in some way or other without coming into clash with any other organisation. Free India has held high hopes of her sons and daughters and our studens' organisations should rise to the occasion and make it clear to the nation that her future is safe in their hands.

———

भारतीय कला के छः अंग (षडंग)

रामचन्द्र शुक्ल

प्राध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भारतवर्ष कला की दृष्टि से एक अत्यन्त समृद्धशाली देश माना जाता है। कलाओं का प्रादुर्भाव यहाँ अति प्राचीन काल से है। वेद, पुराण, शास्त्र तथा प्राचीन भारतीय साहित्य इसके साक्षी हैं और प्राचीन कला के असंख्य नमूने आज भी इस देश में मौजूद हैं। वेद, पुराण, शास्त्रों तथा प्राचीन साहित्य में कलाओं पर विस्तृत वर्णन मिलता है। विभिन्न प्रकार की कलाओं, उनकी क्रियाओं, उनके सिद्धान्तों का विस्तृत उल्लेख प्राचीन शास्त्रों में किया गया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं अथर्ववेद, स्थापत्य उपवेद, समरांगण सूत्रधार, मानसार, नीतिसार, विष्णु धर्म्मोत्तर पुराण, कामसूत्र, ललितविस्तर, कला विलास, शैव तंत्र, सिद्धान्तप्रदीप, चुल्लवग्ग, अभिलाषार्थ चिंतामणि, शिल्परत्न, मानसोल्लास, नाट्यशास्त्र, भागवत पुराण, निदान शास्त्र, इत्यादि तमाम ग्रंथ भरे पड़े हैं। लेकिन इनमें से कोई एक ग्रंथ ऐसा नहीं है, जो कला के दर्शन या सौन्दर्य पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करे। यही कारण है कि प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मैक्समुलर को आश्चर्य प्रगट करना पड़ा कि भारत ऐसे कलासमृद्ध देश ने कभी भी सौन्दर्य की विशद व्याख्या नहीं प्रस्तुत की। मक्समुलर के अनुसार प्रकृति में सौन्दर्य का विचार भारतीय मानस में था ही नहीं। वे जिसे देखते थे उसका वर्णन करते थे, उनकी कुछ बातों की तारीफ करते थे, उनकी प्रकृति से तुलना करते थे किन्तु सौन्दर्य क्या है इसपर सीधे-सीधे उन्होंने कभी विचार नहीं किया।

यह सही है कि भारतीय प्राचीन साहित्य, शास्त्र तथा पुराणों में सौन्दर्य पर एक ही स्थान पर विस्तृत विवेचन नहीं मिलता, लेकिन शायद ही कोई शास्त्र, पुराण ऐसा हो, जिसमें किसी न किसी रूप में कला की चर्चा न की गई हो। चित्रकला या मूर्तिकला की दृष्टि से सबसे विस्तृत कला का विवेचन 'विष्णु धर्म्मोत्तर पुराण' में हुआ है। डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी, स्टेला क्रैमरिश, क्षितिमोहन सेन, अभय कुमार गुह, गोविन्द कृष्ण पिल्लई इत्यादि कई विद्वानों ने इनके आधार पर भारतीय शिल्प शास्त्र पर विवेचन प्रस्तुत किया है। डा० अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने १९१४ में 'मार्डन रिव्यू' में एक लेख प्रकाशित कराया था जिसका शीर्षक था 'षडंग' या 'कला के छः अंग'।

यह लेख ११वीं सदी के शास्त्रकार यशोधर पंडित द्वारा वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की टीका में दिये गये एक श्लोक पर आधारित है—

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव-लावण्य-योजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम् ॥

लेख में डा० टैगोर ने इसी एक श्लोक को लेकर कला के छः प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। भारतीय चित्रकला में ये सिद्धान्त अति प्राचीन काल से प्रचलित और मान्य रहे हैं, पर इनका सर्वप्रथम उल्लेख हमें यशोधर पंडित की टीका में ही मिलता है। यशोधर पंडित ने भी साधारण टीका के साथ ही इन छः सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, पर डा० टैगोर ने अन्य प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन के आधार पर तथा अपने अनुभवों के आधार पर इन छः सिद्धान्तों को विस्तार से समझाया है। डा० टैगोर ने चीन में प्रचलित इसी प्रकार के छः कला के सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। चीन में कला के छः सिद्धान्त पांचवी सदी में ही काफी प्रचलित थे। चूँकि चीन के ये सिद्धान्त भारतीय कला के छः सिद्धान्तों से बहुत कुछ मेल खाते हैं इसलिये डा० टैगोर ने यह अनुमान ठीक ही लगाया है, कि उससे पहले से ही भारत में यह सिद्धान्त प्रचलित थे। जिन लोगों ने लगभग दो हज़ार वर्ष पुरानी भारतीय चित्रकला अजन्ता का अध्ययन किया है, उन्हें यह ज्ञात होने में देर नहीं लगती कि इन्हीं सिद्धान्तों पर अजन्ता की सारी कला निर्मित है। सारी गुप्त-कालीन मूर्तिकला इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है। सभी प्राचीन शास्त्रों में जहाँ कहीं 'शिल्प' या 'कला' की चर्चा है, इन सिद्धान्तों के अनुरूप ही है। मैंने अपनी पुस्तक 'नवीन भारतीय चित्रकला शिक्षण पद्धति' के अन्त में कला के इन छः सिद्धान्तों पर अलग से विचार प्रस्तुत किया है। मेरे विचार से ये सिद्धान्त कला या चित्रकला के सिद्धान्त नहीं हैं, बल्कि चित्र के छः अंग हैं। चित्र का भी श्लोक के अनुसार तथा परम्परा के अनुसार अर्थ मानव आकृति ही है। मानव आकृति बनाने में इन छः सिद्धान्तों को ध्यान में रक्खा जाता था। ये ही छः सिद्धान्त किसी भी चीज़ की आकृति बनाने में उपयोगी हो सकते हैं और इसीलिये डा० टैगोर ने इन्हें चित्रकला के छः सिद्धान्त मान लिये।

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार चित्र के छः अंग हैं। रूप के छः भेद (यहाँ रूप और चित्र पर्याय- वाची शब्द हैं)

१. प्रमाण ज्ञान
२. भाव बोध
३. लावण्य बोध
४. योजना
५. सादृश्य
६. वर्णिकाभंग

अर्थात् किसी भी वस्तु का रूप चित्रित करने के लिये हमें इन छः दृष्टियों से उन्हें पहिचानना पड़ता है।

१. वस्तु का आकार कैसा है?
२. वस्तु कैसा भाव उत्पन्न करती है?
३. वस्तु के रूप का अपना विशेष गुण (सौन्दर्य) क्या है?
४. वस्तु की सृष्टि का सूक्ष्म क्रम (योजना) क्या है?
५. वस्तु किन दूसरी वस्तुओं से मिलती जुलती है?

६. वस्तु का रंग कैसा है ?

डा० अवनीन्द्रनाथ टैगोर चित्रकला के छः भेद इस प्रकार मानते हैं—

१. रूप

रूप दो प्रकार के हो सकते हैं, आँख से दिखाई पड़ने वाले तथा कल्पना से मन में बनने वाले।

२. प्रमाणानि

३. भाव

४. लावण्य योजनम्

५. सादृश्यं

६. वर्णिकाभंग

डा० टैगोर ने रूप को अंग्रेजी में 'फॉर्म' का पर्यायवाची मान लिया है जबकि अंग्रेजी में 'फॉर्म' का अर्थ होता है 'आकार'। रूप और आकार एक ही चीज़ नहीं है। दोनों में अन्तर है। रूप किसी वस्तु का प्रतिविम्ब मात्र है, जो आंख से ही देखा जा सकता है। किन्तु आकार वस्तु का वह रूप है जो हम अपनी अन्य इन्द्रियों से भी पहिचानते हैं, जैसे स्पर्श के द्वारा, ध्वनि के द्वारा, गंध के द्वारा, चखकर इत्यादि। हम पृथ्वी से चाँद का केवल एक धुंधला रूप मात्र देखते हैं जो एक चमकता वृत्त सा दिखाई पड़ता है, पर वस्तुतः यह चाँद का असली रूप या आकार नहीं है। चाँद का असली रूप या आकार हम उसी समय जान सकते या अनुभव कर सकते हैं जब उसके पास जाकर उसे अपनी हर इन्द्रियों से पहिचानें। वास्तव में किसी वस्तु का प्रमाण (नापजोख) ही उसके आकार का ज्ञान हमें करा सकता है। इसलिये प्रमाण को ही आकार ज्ञान माना जा सकता है, रूप को नहीं, जैसा डा० टैगोर ने माना है।

डा० टैगोर ने लावण्य और योजना को अलग-अलग अंग न मानकर एक ही मान लिया है जब कि दोनों दो अलग-अलग गुण हैं और कला के कार्य में आवश्यक हैं।

'चित्र सूत्रम' के अनुसार रूप का अर्थ है विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का चरित्रगत रूप या श्रेणी; जैसे हंस पुरुष, भद्र पुरुष, मालव्य पुरुष, रुचक पुरुष, शशक पुरुष इत्यादि। इसी प्रकार आकृति की नौ मुद्रायें (रूप और आकार) बताई गई हैं। चार प्रकार के चित्र बताये गये हैं; जैसे सत्य चित्र, वेणिक चित्र, नागर चित्र या मिश्रित चित्र। यह सभी रूप के अन्तर्गत आते हैं।

प्रमाण का अर्थ होता था मानव आकृति की बनावट या नाप जोख; जैसे पूर्ण मानव आकृति में सिर कितना बड़ा हो, हाथ कितने लम्बे हों, पैर कितने लम्बे हों और इसी प्रकार शरीर के सभी अंगों का नापजोख बताया गया है।

भाव से तात्पर्य होता था नौ रसों की अभिव्यक्ति जैसे श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त। लावण्य का अर्थ है सुकुमारता, मधुरता, सुन्दरता, कमनीयता इत्यादि। आकृति में लावण्य उत्पन्न करने के लिये चित्रकार उसमें कुछ जोड़ या घटाकर परिष्कार के द्वारा और भी आकर्षक बनाता था। कलाकार प्रकृति में जहाँ कहीं

सुन्दरता देखता था, उसका पुट वह मानव आकृति में भी दे देता था, जैसे खंजन के आकार की आंख बना देना, कमल के पंखुड़ियों की तरह आँख बनाना इत्यादि। इसे सादृश्य भी कहा जा सकता है—एक वस्तु में दूसरी वस्तु का सौन्दर्य आरोपित करना।

वर्णिका भंग का तात्पर्य था चित्रों में उचित रंगों का संयोजन, रंग बनाने के सिद्धान्त, रंगों के संम्मिश्रण के सिद्धान्त, तूलिका की क्रिया इत्यादि।

प्राचीन भारतीय चित्रकला को समझने के लिये या उसका रसास्वादन करने के लिय 'षडंग' का ज्ञान होना आवश्यक है। 'षडंग' से भारतीय कला दर्शन पर सीधे-सीधे प्रकाश नहीं पड़ता, फिर भी यह तो मालूम ही होता है कि शास्त्रीय कला के लिये किन गुणों की आवश्यकता होती है। प्राचीन शास्त्रीय ढंग पर चित्र बनाने के लिये चित्रकारों को 'षडंग' से अवश्य परिचित होना चाहिये।

रूपभेदाः

चित्रकला का आनन्द हमें नेत्रों के द्वारा प्राप्त होता है। नेत्रों के द्वारा हम वस्तुओं को देखते हैं। प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग आकार, स्वरूप, बनावट तथा रंग होता है। मूल रूप से आँखों के द्वारा हम वस्तु का रूप और रंग ही देख पाते हैं। आँखों के द्वारा हम वस्तु का मूल आकार भी देखकर कल्पना कर लेते हैं, पर वास्तव में आकार हम केवल आँख के द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते। किसी वस्तु के आकार को जानने के लिये उसे हमें अपनी सभी इन्द्रियों से ग्रहण करना पड़ता है या कहिये समझना पड़ता है। मान लीजिये हम ताजमहल का आकार जानना चाहते हैं, तो केवल सामने से उसका फोटोग्राफ ले लेने मात्र से उसके आकार को हम नहीं समझ सकते। यदि हम चारों ओर से उसका फोटो लें तो भी हम उसके पूर्ण आकार से न परिचित हो सकेंगे, जब तक ताजमहल के भीतर जाकर उसके अन्दर का भी चित्र न खींच लें। इस प्रकार ताजमहल के पूरे आकार को जानने के लिए शायद सैकड़ों चित्र खीचने पड़ेंगे, फिर भी इनसे पूरी तरह ताजमहज की कल्पना नहीं की जा सकती, जब तक कि हम स्वयं ताजमहल को चारों तरफ से और भीतर भी जाकर अच्छी तरह न देख लें। यदि हम इस प्रकार ताजमहल का एक एक हिस्सा देख डालें, तो भी उसके आकार का चित्र बना पाना असंभव सा ही है। जब भी हम चित्र बनायेंगे वह एकांगी ही होगा। वह ताजमहल के आकार का एकांगी रूप ही प्रस्तुत करेगा पूरा आकार नहीं। इसलिये साधारणतया हम ताजमहल का एकांगी रूप ही चित्रित कर सकते हैं, पूर्ण आकार नहीं। आकार की कल्पना ही की जा सकती है, पर उसका चित्र बनाना असंभव सा ही है। यही कारण है कि जितने भी चित्र ताजमहल के बनाये गये हैं सब एक दूसरे से थोड़ा बहुत भिन्न ही मिलेंगे। चित्रकार या फोटोग्राफर किसी एक पक्ष से ही ताजमहल का चित्र उतार सकता है, पूरे ताजमहल का आकार वह कभी भी चित्रित नहीं कर सकता। ताजमहल का जो भी चित्र बनेगा अधूरा ही होगा। इसी प्रकार किसी भी वस्तु का पूर्ण आकार चित्रित कर पाना चित्रकार के लिये असंभव ही है। इधर उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी में चित्रकारों ने इसका प्रयास किया है कि वह अपने चित्रों में वस्तु का आकार भी चित्रित कर सकें और ऐसी चित्रकला को घनवादी कला (क्यूबिज्म) कहा

गया है। थोड़ी बहुत सफलता भी मिली है, पर आकार-चित्रण इतना सरल नही है। अब कुछ देशों में 'थ्री डाइमेंशनल सिनेमा' दिखाये जाने लगे हैं, जिनमें यह प्रयास रहता है कि वस्तुओं का आकार भी दिखाई पड़े, पर यह भी वस्तु का पूर्ण आकार नहीं दिखा पाता।

ऐसी हालत में चित्रकार वस्तु का केवल एकांगी रूप ही प्रस्तुत कर सकता है। आकार प्रस्तुत करना असंभव ही है। यदि हम वस्तु का एकांगी रूप ही प्रस्तुत कर सकते हैं, तो यह तो साफ है, कि यह रूप वस्तु का पूर्ण या असली रूप नहीं होगा। केवल एक पहिचान मात्र ही होगा या कहिये प्रतीक (सिम्बल) मात्र ही होगा। इसीलिये किसी वस्तु का यथार्थ चित्रण असंभव सा ही है और भारतवर्ष में यथार्थ चित्रण करने का कभी भी प्रयास नहीं हुआ। हम यदि अधिक से अधिक यथार्थ चित्रण करना चाहें, तो हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है, कि किसी वस्तु के आकार से हम पहले पूर्णरूप से परिचित हो लें। मन में उस पूर्ण आकार का एक बिम्ब ग्रहण कर लें और फिर उसी के आधार पर हम चित्र बनायें। कहने का तात्पर्य यह है, कि किसी वस्तु को सामने रखकर, एक पक्ष से उसका चित्र बनाना यथार्थ चित्रण नहीं हैं। हम अधिक से अधिक यथार्थ चित्रण तभी कर सकते हैं, जब वस्तु को देखने के वाद कल्पना के आधार पर, वस्तु का यथार्थ रूप या आकार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें; अर्थात् यथार्थ चित्रण करने के लिये प्रकृति निरीक्षण और कल्पना दोनों की आवश्यकता है। भारतीय चित्रकार दोनों को आवश्यक समझते आये हैं। 'षडंग' में रूपभेद का यही तात्पर्य है। इसीलिये डा० अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने रूप का अर्थ वताते हुए उसे दो प्रकार का माना है, आंख से दिखाई पड़ने वाला तथा मानसिक रूप या काल्पनिक रूप। अर्थात् दृष्टिगत रूप तथा काल्पनिक रूप। काल्पनिक रूप दृष्टिगत रूप से कहीं अधिक परिपूर्ण होता है। दृष्टिगत रूप एक पक्षीय रूप होता है और काल्पनिक रूप अनेक पक्षीय होता है। दृष्टिगत रूपों के आधार पर ही काल्पनिक रूप मन में स्थित होता है और भारतीय चित्रकार उसी रूप का चित्रण करने का प्रयास करते आये हैं।

दृष्टिगत रूप—

किसी वस्तु के आकार का चित्रण करने के लिए उसे हमें पहले अच्छी तरह से अपने नेत्रों से देखना पड़ता है। वस्तु के आकार का जो पक्ष चित्रकार को अच्छा लगता है, उसे वह सामने से जैसा देखता है वैसा ही चित्रित कर देता है, अर्थात् उसका प्रतिबिम्ब उतार देता है। यह प्रतिबिम्ब करीब-करीब वैसा ही होता है, जैसा हम वस्तु को दर्पण में देखते हैं। यही दृष्टिगत रूप है। उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य यथार्थवादी चित्रकार तथा इम्प्रेशिनस्टों ने भी अपने चित्रों में दृष्टिगत एकांगी रूप का ही चित्रण किया है। ऐसे चित्रकार अपने चित्रों में कल्पना को कोई स्थान नहीं देते और उससे दूर ही रहना चाहते हैं। इतना ही नहीं वे चित्र में संवेदना को भी महत्व नहीं देते।

कल्पनागत रूप—

कल्पनागत रूप वस्तु का वह रूप या आकार है जो प्रकृति निरीक्षण के बाद या वस्तु निरीक्षण के बाद कलाकार के मन में बनता है। इसमें कलाकार अपनी सारी इन्द्रियों, मन

मस्तिष्क तथा शरीर से वस्तु का आत्म-अनुभव प्रस्तुत करता है। इसमें दृष्टि, कल्पना तथा संवेदना, तीनों के द्वारा जो रूप मन में स्थिर होता है, उसी का चित्रण कलाकार उपस्थित करता है, इस प्रकार यह रूप वस्तु के यथार्थ रूप के और भी नजदीक पहुंच जाता है। इसी को आकार की परिकल्पना या आधुनिक भाषा में। क्रियात्मक बिम्ब (डिनेमिक इमेज) कहते हैं।

षडंग के अनुसार रूपभेद का अर्थ है विभिन्न प्रकार के रूपों को अलग अलग कर पहिचानना, रूपों की समता और विषमता को पहिचानना, दो विभिन्न वस्तुओं के रूपों में कहाँ समता है कहाँ विषमता है समझना। संसार में प्रत्येक वस्तु का अलग अलग रूप तथा आकार है। कुछ वस्तुओं का आकार बिलकुल एक सा होता है, पर रूप भिन्न-भिन्न होता है। चाँद या सूरज दोनों गोलाकार हैं, पर अलग प्रकार की चमक के कारण, बनावट के कारण, प्रभाव के कारण, रंग के कारण उनका रूप एक दूसरे से भिन्न है। इसी प्रकार आदमियों का आकार तो बहुत कुछ एक सा होता है, पर रूप भिन्न होते हैं–कोई लम्बा होता है, कोई मोटा, कोई दुबला। इसी प्रकार उसके अंग प्रत्यंगों का रूप दूसरों से बहुत भिन्न होता है। इस विभिन्नता को पहिचान कर ही विभिन्न रूपों का चित्र बनाया जा सकता है।

रूपों की विभिन्नता कई कारणों से प्रतिलक्षित होती है। षडंग के अनुसार यह कारण है वस्तुओं का विभिन्न प्रमाण, भाव, लावण्य, योजना, सादृश्य तथा वर्ण। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' के 'चित्र सूत्रम्' प्रकरण में चित्रकला के जो सिद्धान्त बताये गये हैं, वे इन छः श्रेणियों के अन्तर्गत ही आते हैं। अन्य प्राचीन शास्त्रों, पुराणों और साहित्यों में इन्हीं के अन्तर्गत कला के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है।

महाभारत में भी रूपभेद की कल्पना की गई है। शान्तिपर्व में मोक्ष धर्म अध्याय १८४ में ३३ तथा ३४ श्लोक में रूप के निम्नोक्त भेद बताये गये हैं—

प्रमाणगत रूप	१. ह्रस्व—	छोटा या ठिगना
	२. दीर्घ—	लम्बा–पतला
	३. स्थूल—	थुलथुल, मोटा, मुलायम
	४. चतुराश्र—	चौकोर
	५. अनुवृत्य—	गोलाकार
वर्णगत रूप	६. शुक्ल—	स्वच्छ, धवल
	७. कृष्ण—	काला
	८. रक्त—	लाल
	९. पीत—	पीला
	१०. नीलारुण—	बैगनी रंग
चरित्रगत या प्रकृतिगत	११. कठिन—	कड़ा
	१२. चिक्कन—	चमकदार, फिसलदार, चिकना
	१३. स्लक्न—	पतला, क्षीण, नाजुक, छोटा

रूप	१४. पिच्छिल—	पतला, नुकीला, छटकने वाला या रोयेंदार, मयूरपंख की तरह
	१५. मृदु—	मुलायम, नाजुक
	१६. दारुण—	सख्त लकड़ी की तरह, पथरीला, भयानक

यहाँ वस्तुओं के प्रमाणगत, रंग संबन्धी तथा चरित्रगत या प्रकृतिगत रूप का उल्लेख है। और भी प्रकार के प्रकृतिगत रूप हो सकते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि रूपभेद करते समय हमें वस्तु की प्रकृति को हमेशा ध्यान में रखना चाहिये।

डा० टैगोर ने दो प्रकार के रूप बताये हैं। एक है दृष्टिगत रूप और दूसरा आत्म-चेतनागत रूप। वस्तुओं को दृष्टिगत रूप से ही पूरी तरह नहीं पहिचाना जा सकता। आँख से देखकर हम केवल एकपक्षीय ज्ञान ही हासिल कर सकते हैं। वस्तु को मन की आंख से भी देखने और पहिचानने की आवश्यकता है। आँख से देखकर हम वस्तु का केवल बाहरी रूप और वह भी केवल एकपक्षीय रूप जान सकते हैं। आत्मा या आन्तरिक गुणों के द्वारा प्रत्येक वस्तु का अलग अलग रूप होता है और जब तक हम इन्हें भी न पहिचानें, हम वस्तु के पूर्ण रूप से अनभिज्ञ ही रहेंगे।

डा० टैगोर ने इसे समझाने के लिये एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। मान लीजिये कहीं पर तीन स्त्रियां हैं--एक पानी भर रही है, दूसरी बाल संवार रही है और तीसरी गोद में बच्चा खिला रही है। दृष्टिगत रूप से ये तीनों स्त्रियों के ही रूप हैं, पर यदि पूछा जाय इनमें से नौकरानी कौन है. बेटी कौन है या माँ कौन है, तो यही कहा जायगा, कि जो पानी भर रही है वह नौकरानी है, जो बाल संवार रही है वह बेटी है और जो बच्चा खिला रही है वह मां है। पर यह जरूरी नहीं कि हमारा जवाब सही ही हो, क्योंकि पानी बेटी या मां भी भर सकती है, बच्चा, बेटी या नौकरानी भी खिला सकती है, बाल मां या नौकरानी भी सवार सकती है। फिर यह जरूरी नहीं कि ये तीनों मां, बेटी या नौकरानी ही हों। वे पड़ोसिनें भी हो सकती हैं, बहनें हो सकती हैं या रिश्तेदार भी हो सकती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि एक स्थान पर तीन स्त्रियों को देखकर या उन्हें कोई विशेष कार्य करते देख-कर, यह जान सकना बड़ा कठिन है, कि कौन नौकरानी है, कौन बेटी है या कौन मां है, जब तक हम उन्हें और अच्छी तरह से न जानते तथा पहिचानते हों। अर्थात् वस्तु के दिखाई पड़ने वाले गुणों के अलावा और भी आन्तरिक या छिपे हुये गुण होते हैं, जिन्हें पूरी तरह जाने बिना हम उसके सही रूप की कल्पना नहीं कर सकते। वस्तुओं का वाह्य रूप आँख से पहिचाना जा सकता है पर आन्तरिक रूप जानने के लिये हमें विशेष जानकारी या अनुभव की आवश्यकता पड़ती है और तभी हम वस्तुओं के रूप का सौन्दर्य प्राप्त कर सकते हैं।

सौन्दर्य प्राप्त करने के लिये रुचि का होना भी आवश्यक है। रुचि वस्तु में भी होती है और वस्तु को देखने वाले में भी। रुचि के आधार पर ही हमें सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। जब तक हम किसी चीज को अपनी रुचि न दें, हमें वह सुन्दर लग ही नहीं सकती। इसी प्रकार यदि कोई वस्तु अपने को प्रदर्शित न करे, तो फिर उसे देखेगा ही कौन। प्रत्येक वस्तु चाहे स्थल हो या चेतन उसमें रुचि ही वह गुण है, जो हमें अपनी ओर खींचती है। जब

वस्तु की रुचि तथा देखने वाले की रुचि में तादात्म्य स्थापित होता है तो वस्तु सौन्दर्यपूर्ण लगने लगती है। जब वस्तु की रुचि तथा देखने वाले की रुचि में सामंजस्य नहीं उपस्थित हो पाता, तो वस्तु असुन्दर दिखाई देती है।

रुचि सम्पर्क से बनती है। यदि हम किसी रूप से पहले से परिचित नहीं हुए हैं, और वह हमें एकाएक दिखाई पड़ जाय, तो वह हमें आश्चर्यचकित भले कर दे, पर उसकी ओर जरूरी नहीं कि हमारी रुचि जाय। रुचि उसी तरफ जाती है जिस चीज से हमें परिचय प्राप्त रहता है। वे आकार या रूप जो हमारे लिये बिलकुल नये हैं, हमें रुचिकर नहीं भी लग सकते, जब तक कि हमें उनका पूरा परिचय न मिल जाय या धीरे-धीरे हम उनसे परिचित न हो जायें। परिचय यदि सुखद हुआ, तो हमारी रुचि उस वस्तु या रूप में लग जायगी।

रुचि का अर्थ होता है प्रकाश की किरण, लावण्य या प्रियता। हर वस्तु सें एक विशेष प्रकार की किरण छिटकती है। वैसे ही हम भी एक प्रकार की किरण बिखेरते हैं। जिस वस्तु की किरण हमारी किरण से मेल खाती है, उसमें हमारी रुचि होती है और जिससे विरोध उत्पन्न होता है, हमारी अरुचि होती है। डा० टैगोर के अनुसार सौन्दर्य का यही रहस्य है।

प्रमाणानि

प्रमाणानि का तात्पर्य है वस्तुओं के आकारों को नापने के नियम। इन नियमों के द्वारा हम देखी हुई वस्तुओं के आकारों की तथ्यता का ज्ञान हासिल करते हैं। इनके द्वारा हम वस्तुओं की बनावट का अनुपात समझते हैं, उनका नापजोख समझते हैं, उनकी दूरी का ज्ञान हासिल करते हैं, एक वस्तु और दूसरी वस्तु के आकार की समता-विषमता पहिचानते हैं, छोटाई-बड़ाई का अन्दाज लगाते हैं, उनकी बनावट का तथ्य समझते हैं, उनके द्वारा दिखाई पड़ने वाली हर वस्तु का दृष्टि ज्ञान (पर्सपेक्टिव) समझते हैं, रंगों का अनुपात आकारों का अनुपात ज्ञात करते हैं।

प्रमाणानि या नापने के नियमों को समझने की शक्ति को शास्त्रों में 'प्रमात्रि चैतन्य' कहा गया है। यह शक्ति सभी में थोड़ी बहुत रहती है। अभ्यास से इसका विकास होता जाता है। प्रमात्रि चैतन्य के ही कारण हम संसार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुओं के आकार तथा रूप का भेद समझ पाते हैं। इसके द्वारा हम विभिन्न वस्तुओं के आकार तथा रूप में निहित रेखा, रंग, बनावट, चिन्हों, प्रतीकों, प्रतिबिम्बों, बिम्ब, चमक, गति, लय, सुमेल, एकता, सन्तुलन या क्रियात्मक बिम्ब (डिनेमिक इमेज) इत्यादि को पहिचान पाते या उनका अन्दाज लगा पाते हैं।

जैसे ही हम किसी वस्तु के सामने जाते हैं, या कोई वस्तु हमारे सम्मुख आती है, हमारा प्रमात्रि चैतन्य जागृत होकर वस्तु पर आरोपित हो जाता है और देखी हुई वस्तु को मानसिक अनुभूति के रूप में परिवर्तित कर देता है। मस्तिष्क आकार के गुण ग्रहण कर लेता है और आकार मानसिक गुण ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रमात्रि चैतन्य केवल साधारण नाप-जोख का काम ही नहीं करता, बल्कि वह वस्तु का बाह्य तथा आन्तरिक दोनों

पक्षों का ज्ञान कराता है। 'प्रमा' के द्वारा हम वस्तु के वाह्य तथा आन्तरिक दोनों गुणों को पहिचानते हैं। वास्तव में प्रमात्रि चैतन्य के द्वारा ही हमारा मस्तिष्क आकारों को अलग-अलग पहिचानने में समर्थ होता है। सारी इन्द्रियां अलग-अलग जो अनुभव प्राप्त करती है, वे सब मिलकर प्रमात्रि चैतन्य में एक रूप हो जाती हैं, निश्चितता प्राप्त करती हैं। प्रमात्रि चैतन्य वस्तु के आकार को एक साथ दृष्टिगत, प्रकृतिगत, तथा संवेदनागत रूप से धारण करता है और इसे ही कलाकार अपने चित्र में अभिव्यक्त करता है।

भाव—

भाव का अर्थ होता है भावना, उद्वेग, आवेग, संवेग, उन्मेष, आवेष, इच्छा, प्रकृति, और व्यंग इत्यादि का अनुभव। यह अनुभव हमारी इन्द्रियों के द्वारा मन और मस्तिष्क को प्राप्त होकर आत्मा को प्रभावित करता है। भाव हमारे मन में उठते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में हममें विभिन्न भाव उठते हैं। मूल रूप से साधारणतया दो ही भाव प्रमुख हैं सुख-दुख। विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों या विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से, हमारे मन में विभिन्न भाव उठते हैं और उन्हें हम साधारणतया सुख या दुख की कोटि में ग्रहण करते हैं। ऐसी परिस्थिति को जहाँ न सुख का अनुभव हो न दुख का, हम अकसर आनन्द की स्थिति मानते हैं और ऐसी स्थिति साधारणतया हमें प्राप्त नहीं होती। इसीलिये अधिकतर हम सुख या दुख का ही अनुभव करते हैं। कभी-कभी ऐसी भी परिस्थिति होती है, कि जहाँ हम अतीव दुखी होते हैं, वहीं हमें अतीव सुख भी महसूस होते हैं, जैसे राजा हरिश्चंद ने अपना सब कुछ गँवा देने पर भी सुख का ही अनुभव किया था, रामचन्द्र ने राजपाट छोड़कर १४ वर्ष का बनवास पसन्द किया। यहां परिस्थिति दुख की है, पर राम ने सुख का अनुभव किया। अर्थात् सुख-दुःख बाह्य चीजों या परिस्थितियों के कारण ही नहीं होता। जिस परिस्थिति को हम जिस रूप में ग्रहण करते हैं वैसा ही अनुभव हमें होता है। साधारणतया जिन-जिन परिस्थितियों में लोगों को दुःख होता है, उसी में किसी को सुख भी मिल सकता है। रोम जब आग की लपटों में चीत्कार कर रहा था नीरो खुशी का अनुभव कर रहा था। अर्थात् वस्तु, वस्तुस्थिति या परिस्थिति सुख-दुःख के भाव का मूल कारण नहीं हैं। सुख-दुःख मानसिक गुण हैं। हम जिसे सुख समझते हैं उससे सुख का अनुभव होता है, जिसे दुःख समझते हैं उससे दुःख का अनुभव होता है। इसलिये भावना मानवीय मानस का ही गुण है, वस्तु या परिस्थिति का नहीं।

भाव को भारतीय शास्त्रों में रस की कोटि में विभाजित किया गया है जिसे ९ रस कहते हैं जैसे श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत तथा शान्त। यह सभी मन की ९ परिस्थितियां ही हैं। वाह्य वस्तुयें या परिस्थितियां इनसे भिन्न होती हैं, यद्यपि यही अक्सर कारण बन जाती हैं भाव या रस की उत्पत्ति की। वैष्णव सौन्दर्य शास्त्र के अनुसार भाव हमारे मानसिक स्वभाव के परिवर्तन मात्र ही हैं, जो विभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। विभाव का अर्थ है आन्तरिक महत्त्व या सूक्ष्म वस्तुओं तथा आदर्शों का वाह्य रूप। जब हमारे मन में भाव उत्पन्न होते हैं, तो वे हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करते हैं। उनमें एक प्रकार का कम्पन, गति या लय उत्पन्न करते हैं, जिससे हमारे भावों की

शारीरिक अभिव्यक्ति आरम्भ हो जाती है। ऐसी स्थिति में कलाकार जब सृष्टि करता है, तो उसके मनोभाव उसकी कला में अभिव्यक्त होने लगते हैं।

भाव का प्रभाव—

भाव शरीर को तीन तरह से प्रभावित करते हैं—

१. पांच इन्द्रियों को (कान, आंख, नाक, जीभ. त्वचा)

२. शरीर के पांच अंगों को (हाथ, पैर, सिर, धड़, गुप्तांग)

३. पांच आन्तरिक अंगों को (मानस, बुद्धि, अहंकार, चित्त, आत्मा)

अर्थात् भाव उठने पर हमारा शरीर काम करने को उद्यत हो जाता है और यह काम साधारण जीवन-यापन का भी हो सकता है या कला का भी। भाव ही कलाकार को प्रेरित करते हैं, कला की रचना करने के लिये और भाव ही अभिव्यक्त होते हैं कलाकृति में। अर्थात् भाव अभिव्यक्त के लिये ही उत्पन्न होते हैं, इसीलिये कला को अभिव्यक्ति का माध्यम माना जाता है।

व्यंग—

भाव मन की स्थिति है। कला के द्वारा इस स्थिति का आभास होता है। कला में भाव आकारों के संयोजन से उत्पन्न होता है। विभिन्न प्रकार के आकार प्रतीकों के रूप में विभिन्न भाव व्यक्त करते हैं। आकार भाव के प्रतिरूप नहीं होते, बल्कि इशारे से(व्यंग के द्वारा) भाव को उद्घाटित करते हैं। कला में व्यंग के द्वारा ही भाव-बोध उत्पन्न किया जाता है। केवल वाह्य रूपों की अनुकृति के द्वारा भावबोध नहीं कराया जा सकता, जबतक उसमें व्यंग्य (सजेशन) का गुण भी न उपस्थित किया जाय। उन्हीं चीजों की अनुकृति करना उचित है, जिनमें व्यंग्य की भी क्षमता हो। बिना व्यंग्य के कोई कृति कला की श्रेणी में रक्खी ही नहीं जा सकती।

कला में भाव का परिणाम है रूपांकन। लेकिन वस्तुओं का रूप अंकित कर देने से ही आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति नहीं होती। व्यंग्य के द्वारा आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति होती है। इसे समझाने के लिये डा० टैगोर ने 'भिक्षापात्र' का उदाहरण दिया है। कोई भी पात्र या कटोरा भिक्षापात्र नहीं माना जाता। भिखारी जब किसी कटोरे को लेकर भिक्षा मांगता है, तो उसी पात्र को भिक्षापात्र कहा जाता है। मान लीजिये हम अपने चित्र में भिक्षापात्र या भीख मांगने वाले कटोरे का ही चित्रण करना चाहते हैं। इसके लिये यदि हम चित्र में एक कटोरा चित्रित कर दें, तो उसे कोई भी भिक्षापात्र नहीं मानेगा। या हम किसी भिखारी का कटोरा लाकर उसे देखकर चित्र बनायें तो भी उसे कोई भिक्षापात्र नहीं कहेगा, एक साधारण कटोरा ही समझेगा। ऐसी हालत में शायद एक भिखारी के हाथ में पात्र देकर चित्र बनाना ही उचित होगा। पर तब तो हमारा चित्र भिखारी का चित्र कहलायेगा न कि भिक्षापात्र का। ऐसी हालत में हमें व्यंग्य का सहारा लेना पड़ेगा, पात्र को भिक्षापात्र का भाव देने के लिये। भिखारी का चित्र न बनाकर पात्र के साथ भिखारी के जीवन के कुछ चिन्ह दिखाकर ही हम उससे भिक्षापात्र का भाव उत्पन्न कर

सकते हैं, जैसे पात्र के साथ एक चिथड़े या कुछ बिखरे हुये पैसे चित्रित कर या किसी महल की बाहरी सीढ़ी पर एक टूटा-फूटा कटोरा रखकर हम भिक्षा पात्र के भाव की अभिव्यक्ति या व्यंजना कर सकते हैं।

लावण्य योजना—

डा० अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी व्याख्या में लावण्य योजना को एक शब्द मानकर इसका अर्थ बताया है। उनके अनुसार इसका अर्थ होता है, चित्र में शालीनता और कलात्मकता भरना।

वैष्णव कला-शात्रियों ने या सौन्दर्य शास्त्रियों ने लावण्य की तुलना एक प्रकार की चमक से की है, जो विशेष प्रकार के असली मोतियों में हुआ करती है। यह मोती इसीलिए कीमती माने जाते हैं, कि उनमें एक अद्‌भुत चमक होती है। यह चमक न हो तो इन मोतियों और साधारण मोतियों में कोई खास अन्तर न होगा। इसको अकसर एक प्रकार का पानी कहा जाता है, जो विशेष किस्म के मोतियों में प्राकृतिक तौर पर होता है और उनके कारण वे विशेष सुन्दर लगते हैं। यह चमक एक प्रकार की प्रतिभा ही है। कलाकार जब प्रतिभाशाली होता है तो वह अपनी कृति में अपनी प्रतिभा की एक विशेष चमक उत्पन्न कर देता है। इससे उसकी कृति प्राणवान हो उठती है।

इस प्रकार की चमक अक्सर कुछ युवक और युवतियों की आंखों की पुतलियों में भी देखने को मिलती है, जिससे उनमें एक विशेष प्रकार की प्रतिभा झलकती है। बच्चों की आंखों की पुतलियों में भी अक्सर ऐसी चमक होती है। हिरण की आंख में भी अक्सर ऐसी चमक होती है। वृद्ध आदमियों की आंखों में, शायद ही कभी ऐसी चमक देखने को मिले। वास्तव में यह चमक ताजगी का ही द्योतक है। ताजे फल, ताजी तरकारियों में जो जीवन दिखाई पड़ता है वह बासी वस्तुओं में नहीं रह जाता। चमक और ताज़ापन करीब-करीब एक से हैं। ताज़गी न होने पर फल तथा तरकारियाँ कम से कम देखने में तो सुन्दर नहीं ही लगतीं। ताज़गी का तात्पर्य है जीवन। वृक्ष से तुरंत तोड़े फलों में यह ताज़गी रहती है। धीरे-धीरे वे कुम्हलाने लगते हैं। यही हाल फूलों का होता है। बाग में फूल हंसते से लगते हैं और तोड़कर घर लाने पर वे धीरे-धीरे कुम्हलाने लगते हैं। इसीलिये अक्सर हम गुलदस्तों में पानी भरकर फूलों को सजाते हैं। इससे कुछ देर तक फूल ताजे लगते हैं और उनकी चमक बनी रहती है। सब्जी वाले भी अक्सर सब्जी पर पानी छिड़कते रहते हैं, उन्हें ताजा रखने के लिये। पानी बरसने के बाद पृथ्वी पर सभी फल-फूल के वृक्ष हरे भरे तथा चमकदार हो जाते हैं। दूब और घास एक नई चमक अख्तियार करती हैं। सारी प्रकृति लावण्यमय हो उठती हैं।

अक्सर लावण्य का अर्थ एक प्रकार के नमक से लगाया जाता है। उर्दू भाषा में अक्सर विशेष सुन्दर आकृति के लिए 'नमकीन' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अक्सर सांवली सूरतों में नमकीनपन (कमनीयता) या एक विशेष चमक देखी जाती है। गोरे रंग वालों में यह कम दिखती है। यह बात कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यदि लावण्य एक प्रकार की चमक ही है, तो सफेद चीज़ में यदि कोई चमक हो, तो वह और भी तीक्ष्ण

(तीखा) हो जायगी। सांवले रंग की चीजों में ज़रा सी चमक होने पर वे और भी सुन्दर लगने लगती हैं। विरोधाभास (कन्ट्राडिक्शन) के कारण। यही कारण है कि नीलम की चमक और प्रकार के हीरों से ज्यादा प्रिय होती हैं। सूर्य, चांद और तारे सभी चमकदार हैं, पर दोपहर में चमकता सूर्य असह्य हो जाता है। वैसे भी प्रखर सूर्य की ओर हम देखने तक की इच्छा नहीं करते। हां सुबह और शाम को जब वह मद्धिम प्रकाश छोड़ता है, रंग विरंग बिखेरता है, भला लगता है। सूर्य से कहीं अधिक सुन्दर चाँद और चाँदनी को माना जाता है, क्योंकि वह मद्धिम होते हैं, आंखों को प्रिय लगते हैं। तारे तो और भी मद्धिम होते हैं और अक्सर चांद से भी ज्यादा खूबसूरत लगते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि एक प्रकार की हल्की चमक या चमक की रेख को ही लावण्यमय, मधुर या कमनीय माना जाता है। चित्रकार जब अपने चित्रों में अति तीखे रंग, तीखी रेखायें, तीखी आकृतियां प्रस्तुत करता है तो उसकी मधुरता नष्ट हो जाती है। ऐसे में चित्रकार के चित्रों में लावण्य का गुण नही दिखाई पड़ता। लावण्य उस प्रकार की चमक है जैसे घनघोर बादलों के पीछे से चांद या सूर्य बादलों पर एक हल्की चमक की रेख सी अंकित कर देता है, जिसे चांदी का गोटा (सिलवर लाइनिंग) कहा जाता है। अक्सर ऐसी ही चमक चित्रकार अपने चित्रों की आकृतियों में भर देता है, जिससे चित्र प्राणवान हो उठता, लावण्यमय हो जाता है। इसे अक्सर चित्रकला की भाषा में अन्तिम परिष्कार (फिनिशिंग टच) भी कहा जाता है।

अन्तिम परिष्कार (फिनिशिंग टच) का उत्तम प्रयोग बड़े ही प्रवीण तथा अनुभवी कलाकार की कृतियों में देखने को मिलता है। साधारण चित्रकार केवल स्वाभाविक रंग ही भरकर अपने चित्रों में खुशी का अनुभव करते हैं, पर जब तक चित्र में अन्तिम परिष्कार का सूक्ष्म प्रयोग न हो, चित्र प्राणवन्त नहीं हो पाता। अन्तिम परिष्कार से चमक या लावण्य उत्पन्न करना बड़ी साधना, परिश्रम, अनुभव तथा ज्ञान से आता है। वास्तव में जब कलाकार अपनी कृति में तन्मय हो जाता है, तब वह अतिस्नेह तथा प्रेम से हल्के हाथों से, इस प्रकार आकृतियों को अपनी तूलिका से छूता है जैसे कोई पिता या माता अपने नन्हें शिशु को प्यार करते हैं, पुचकारते हैं, दुलार करते हैं, थपकियां देते हैं या उन्हें प्यार से चूमते हैं। बिलकुल इसी प्रकार स्नेह तथा दुलार से कलाकार अपनी कृति में अन्तिम रेखायें भरता है और उसे लावण्य प्रदान करता है। लावण्य ज्ञान या बुद्धि का नहीं बल्कि स्नेह का गुण है।

योजना—

कला में योजना का बड़ा महत्त्व है। कोई भी कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक योजना बनाकर कार्य न किया जाय। प्राचीन कला आदर्शवादी थी, इसलिये योजना के आधार पर ही चित्र या मूर्ति बनते थे। योजना का आधार शास्त्रीय ज्ञान था। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में 'चित्र सूत्रम्' में चित्र निर्मित करने के नियम तथा योजनायें बताई गई हैं। जो चित्र या मूर्ति इन योजनाओं के आधार पर नहीं बनते थे, उन्हें शास्त्रोचित नहीं माना जाता था, निम्न श्रेणी का माना जाता था।

'शास्त्रज्ञः सुकृतेदद्येश्चित्रं हि मनुजाधिप'

योजना का अर्थ होता है अनुभव के आधार पर, कल्पना कर, निश्चित लक्ष्य बना-

कर, कार्यविधि की पूर्वपीठिका तैयार करना। यह कार्य वैसा ही है जैसा किसी भवन या पुल को बनाने के पहले इंजीनियर अपनी योजना या नक्शा (मैप) बनाते हैं। सारी प्राचीन भारतीय चित्रकला वास्तव में वास्तुकला या भवननिर्माण कला के अन्तर्गत ही मानी जाती थी। वास्तुकला का आधार योजना होता है, इसीलिए कलाशास्त्रों में चित्रकला के कार्यों के लिये भी योजना को आवश्यक समझा है। आज भी शास्त्रीय ढंग से चित्र बनाने वाले कलाकार योजना बनाकर ही चित्र बनाते हैं। डा० अवनीन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में बंगाल में जिस कला का प्रादुर्भाव हुआ उसका आधार भी शास्त्रीय था। इसीलिये इस शैली के कलाकार भी योजना के आधार पर ही चित्र बनाते हैं। वास्तव में सभी आदर्शवादी कलायें योजना बनाकर ही आरम्भ की जाती हैं।

बीसवीं सदी में चित्रकला में योजना का महत्व बहुत ही क्षीण हो गया है क्योंकि कला की मूल परिभाषा ही बदल गई है। आदर्श चित्रण के स्थान पर यथार्थ चित्रण, स्वतंत्र भाव प्रकाशन या मौलिक सृष्टि को महत्व दिया जाने लगा है, जिसमें पहले से योजना बनाना ज़रा भी आवश्यक नहीं होता। योजना तो अब केवल इंजीनियरों को ही काम देती है। अब तो उन कलाओं को जो किसी निश्चित योजना तथा लक्ष्य के लिये बनाई जाती हैं, कला न मानकर कौशल-दस्तकारी या क्राफ्ट माना जाता है। प्राचीन कला में ऐसी स्वतंत्रता नहीं थी। आज के प्राचीनतावादी या शास्त्रीय कलाकार इसीलिये आधुनिक शैलियों के चित्रों को निरर्थक तथा ऊटपटांग अर्थात् योजना-रहित मानते हैं। ऐसी कला को वे बेकार समझते हैं जो शास्त्रीय नहीं हैं या किसी योजना पर आधारित नहीं है।

'षडंग' योजना के महत्व को स्वीकार करता है और उसके अनुसार योजना भी कला का एक प्रमुख अंग है। योजना के अन्तर्गत षडंग के अन्य अंग भी आ जाते हैं जैसे रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, रंग-प्रयोग। इन सभी दृष्टियों से योजना बनाकर, कल्पना तथा भावना के आधार पर शास्त्रीय ढंग से चित्र बनाना उचित समझा जाता था।

सादृश्य—

'चित्र सूत्रम्' में सादृश्य को बड़ा महत्व दिया गया है। चित्र सूत्रकार ने लिखा है-

'चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम्'

इसके ऊपर के श्लोक इस प्रकार हैं—

वृषाः केसरिणश्चैव याश्चान्याः सत्वजातयः ॥४६॥
यथाभूमिनिवेशास्ते लोकं दृष्ट्वा नराधिप ॥
एतद्रूपसमुद्देशमदृष्टानां तवेरितम् ॥४७॥
दृष्टं सुसदृशं कार्यं सर्वेषामविशेषतः ॥
चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम् ॥४८॥

इसके पश्चात् सूत्रकार ने लिखा है—

बुद्ध्या रूपं यथावेशं वर्णं च मनुजोत्तम् ॥
देशे देशे नराः कार्या यथावत्तत्समुद्भवाः ॥४९॥

देशं नियोगं स्थानं च कर्म बुद्ध्वा च यत्नतः॥
आसनं शयनं यानं वेशं कार्यं नराधिप ॥५०॥
सरितां सशरीरीणां वाहनानि प्रदर्शयेत् ॥
पूर्ण कुम्भकराः कार्यास्तथा नामीतजानवः ॥५१॥

उपर्युक्त श्लोकों से सादृश्य का तीन अर्थ निकलता है।

एक तो सादृश्य का अर्थ है पुनः उपस्थित करना (रिप्रेजेन्टेशन) अर्थात् वस्तु को उसी रूप में चित्रित करना जैसी वह दिखाई पड़ती है।

दूसरे सादृश्य का तात्पर्य है वस्तुओं के देश, प्रकृति, स्थान तथा वर्ण को यत्नपूर्वक समझकर उसी के अनुसार चित्र बनाना।

तीसरी दृष्टि से सादृश्य का अर्थ है उचित चिन्हों, प्रतीकों, उपमाओं तथा अलंकारों से युक्त चित्र बनाना।

वास्तव में सादृश्य का मूल अर्थ यही है कि वस्तुओं को केवल देखकर ही नहीं, बल्कि समझकर और कल्पना कर, चित्र में स्थान देना चाहिये। देखना, समझना और कल्पना करना तीनों मिलकर जो रूप मन में उपस्थित करते हैं, उसी की अभिव्यक्ति वाह्य दृष्टिगत रेखा, रंग, रूप, आकार, प्रतिबिम्ब, बिम्ब या क्रियात्मक बिम्ब द्वारा उपस्थित करना ही सादृश्य है।

चित्र सूत्रम् में सादृश्य उपस्थित करने के अनेक उदाहरण बताये गये हैं, जैसे जानवर, नदी, पर्वत, समुद्र, वन, नगर, गाँव, बाज़ार, श्मशान, रात्रि, घर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर तथा नौ रसों इत्यादि का चित्रण उदाहरण सहित समझाया गया है।

वास्तव में सादृश्य उपस्थित करने का मूल प्रयास यही है कि चित्र आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति करे जैसा कि पहले हम 'भिक्षापात्र' के चित्र का उदाहरण देते समय कर चुके हैं। यदि चित्रकार भिक्षा का पात्र चित्रित करना चाहता है तो उसे केवल देखकर चित्रित नहीं किया जा सकता। बिना व्यंग (सजेशन) के पात्र का भिक्षापन चित्रित नहीं किया जा सकता। व्यंग्य का अर्थ हम बता चुके हैं। व्यंग्य उपस्थित करने के लिये हमें प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है और व्यंग्य के द्वारा आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति होती है। सादृश्य का मूल तात्पर्य है भाव-सादृश्य अर्थात् भाव के अनुरूप चित्र बनाना या रूप उपस्थित करना। वस्तु का चित्रांकन करना भारतीय कला का उद्देश्य नहीं है, बल्कि वस्तु को इस रूप में परिवर्तित करके उपस्थित करना है कि वह आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति करने लगे। भाव और रस मिलकर संवेग उपस्थित करते हैं। संवेग उपस्थित करना आधुनिक कला की दृष्टि से भी उपयुक्त है। भाव-सादृश्य और रूप-सादृश्य दो अलग-अलग तरीके हैं। उन्नीसवीं सदी की अधिकांश यूरोपीय कला रूप-सादृश्य पर आधारित थी और प्राचीन भारतीय कला में हमेशा भाव-सादृश्य पर जोर दिया है। आधुनिक कला में आत्म अभिव्यक्तिवादी (एक्स्प्रेश्निस्ट कला) भाव-सादृश्य पर ही आधारित है। अंतर केवल इतना ही है कि वे अपने यहाँ के सामाजिक तथा प्राकृतिक रूपों के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति करते हैं और प्राचीन भारतीय चित्रकारों ने अपने देश, काल, समाज, जीवन

तथा प्रकृति के रूपों के द्वारा आत्म अभिव्यक्ति की है। लेकिन मूलतः दोनों वृत्तियाँ एक सी ही हैं। भारतीय चित्रकार परम्परागत रूपों को चुनते थे और आधुनिक कलाकार आज के उपस्थित रूपों को चुनते हैं। आज की आधुनिक कला की अधिकतर शैलियाँ भाव प्रधान हैं, प्रतीकात्मक हैं और व्यंग के द्वारा आत्म अभिव्यक्ति करती हैं। केवल अरूप-वादी सूक्ष्म चित्रकला (ऐव्सट्रैक्ट आर्ट) प्रतीकों का सहारा नहीं लेती न उसमें आत्म अभि-व्यक्ति का उतना महत्व ही है। वे मौलिक आकारों की रचना या सृष्टि को ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं। न तो वे कोई अभिव्यक्ति करना चाहते हैं न संदेश देना चाहते हैं।

चित्रकला और काव्य दोनों में सादृश्य का प्रयोग होता है। काव्य में सादृश्य का काम उपमा से चल जाता है, पर वही उपमायें चित्रकला में भी प्रयुक्त हो जायँ, यह आव-श्यक नहीं है। काव्य में यह आवश्यक नहीं होता, कि जिस वस्तु से उपमा दी जा रही है, वह उपमेय वस्तु के आकार से भी मिलती जुलती हो जैसे पुत्र को बुढ़ापे की लाठी साहित्य में कहा जा सकता है। यहाँ कवि सहारे के अर्थ में लाठी का प्रयोग कर रहा है। वृद्धा-वस्था में जैसे वृद्ध को लाठी का सहारा देती है वैसे ही पुत्र भी वृद्धावस्था का सहारा होता है। यहाँ लाठी और पुत्र के वाह्य रूप में कोई समता नहीं है। लाठी का रूप दूसरा होता है और पुत्र का रूप मानवीय आकार का होता है। यदि चित्रकार अपने चित्र में वृद्ध के हाथ में लाठी थमा कर चित्रित करे तो उसे देखकर कोई यह नहीं कहेगा कि यह वृद्ध का पुत्र है। इसी प्रकार यदि चित्र में वृद्ध को अपने पुत्र का सहारा लेकर चलते दिखाया जाय तो पुत्र को कोई लाठी नहीं देखेगा। अक्सर साहित्य और काव्य में रूप की दृष्टि से ऐसी ही बेतुकी उपमायें दी जाती हैं पर उनका भाव समझने में लोगों को कठिनाई नहीं होती, क्योंकि यह उपमायें प्रचलन के कारण सहज बन चुकी रहती हैं। चित्रकला में ऐसी उपमा से सादृश्य का कोई तालमेल नहीं है।

चित्रकला में सादृश्य या उपमा के लिये यह आवश्यक है कि उपमेय वस्तु और उपमान वस्तु के आकार एक दूसरे से मिलते जुलते हों, और ऐसा करने में भी बड़ी सतर्कता बरतनी पड़ती है। काव्य या साहित्य में युवती की चोटी की उपमा सर्प से दी जाती है। यहाँ दोनों में आकार की बहुत कुछ समता है, पर चित्र के लिये यह सादृश्य या उपमा भी बेकार है। चित्रकार अपने चित्र में युवती की चोटी की जगह सर्प नहीं चित्रित कर सकता। और यदि करता है तो उसे देखने वाले सर्प ही समझेंगे, चोटी नहीं। चित्रकार किसी चीज के प्राकृतिक रूप को दूसरी वस्तु मान कर चित्रित नहीं कर सकता। चित्रकार केवल इतना कर सकता है, कि चोटी को सर्प की भांति लहराता चित्रित करे, लेकिन रहेगी वह चोटी ही। अर्थात् चित्रकला में सादृश्य गुणों का होता है, न कि वस्तु का। शुक नासिका साहित्य में कहा जा सकता है, पर चित्र में हम नाक की जगह तोते की टोंट नहीं बना सकते। हम इतना ही कर सकते हैं कि नाक में कुछ वैसा ही घुमाव उपस्थित करें, जैसा तोते की टोंट में होता है। साहित्य में केले के खम्बों से जाँघों की उपमा दी जाती है। चित्र में हम जाँघों की जगह केले के खम्भे नहीं लगा सकते। केवल हम जाघों की बनावट उसी प्रकार के उतार चढ़ाव से बना सकते हैं जैसे केले के खम्भे में दिखाई पड़ता है। साहित्य में हम युवती के मुख की उपमा चाँद से देते हैं, पर चित्र में हम मुख की जगह चाँद नहीं

बना सकते, हां चाँद की तरह सलोनी सूरत बना सकते हैं अर्थात् चाँद को देखने पर जैसा सलोना प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है वैसा ही प्रभाव हम युवती की मुखाकृति द्वारा भी उत्पन्न करने का प्रयास कर सकते हैं।

वर्णिका भंग

वर्णिका भंग का अर्थ है रंग विधान का ज्ञान तथा रंग-प्रयोग। प्रत्येक वस्तु का आकार होता है और प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग रंग होता है। प्रकृति विविध आकारों तथा रंगों के कारण ही प्रतिलक्षित होती है। बहुत सी वस्तुओं का आकार एक दूसरे से मिलता जुलता है, यदि उनमें भिन्न-भिन्न रंग न हों, तो उन्हें अलग-अलग पहिचानना मुश्किल हो जाय। वस्तुओं को हम उनके आकार, स्वरूप या रंग से पहिचानते हैं। यदि विभिन्न वस्तुओं में केवल आकार ही होता, उनके अलग-अलग रंग न होते, तो कितनी नीरस हो जाती प्रकृति। इसी प्रकार यदि मानव को रंग का बोध न होता, तो उसे कितनी दिक्कत पड़ती, चीजों को पहिचानने में। चित्रकार के लिये तो रंग उसकी अभिव्यक्ति का मूल माध्यम ही है। यदि रंग का ज्ञान मानव को न प्राप्त हुआ होता, तो फिर, चित्रकला का जन्म ही क्यों होता? रंग का जीवन और कला दोनों में बहुत महत्त्व है। यही कारण है भारतीय शास्त्रों में रंग-ज्ञान पर बहुत महत्त्व दिया गया है। वैसे इस विषय पर 'चित्र सूत्रम्' में पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता। मूल रंगों के नाम बताये गये हैं, रंग तैयार करने की विधियां बताई गई हैं, विभिन्न रंग तैयार करने के ढंग बताये गये हैं, पर रंग की उत्पत्ति के कारण पर व्याख्यायें नहीं मिलतीं, न ही यह बताया गया है, कि रंग भाव और रस की उत्पत्ति में किस प्रकार सहायक होते हैं। वैसे अन्य प्राचीन ग्रंथों में विविध स्थानों पर रंगों के महत्व पर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाश डाला गया है।

वर्णिकाभंग का एक दूसरा भी अर्थ हो सकता है। वर्ण माने रंग और वर्णिका का अर्थ तूलिका भी हो सकता है। भंग माने भंगिमा होता है। वर्णिका-भंग का अर्थ है तूलिका की भंगिमा। यहां तूलिका की भंगिमा का अर्थ है, तूलिका को विभिन्न रूप से चलाकर या उसकी विभिन्न भंगिमाओं से, चित्र के रूप में विभिन्न प्रकार की आकृतियां बनाना। वर्णिका भंग को हम तूलिका-प्रयोग या तूलिका-प्रवाह भी कह सकते हैं। तूलिका का उचित प्रयोग ही वर्णिका भंग है। रंग सम्मिश्रण को भी हम वर्णिका भंग कह सकते हैं। तूलिका प्रवाह पर सिद्धि पाने को भी वर्णिका भंग कहा जा सकता है। तूलिका का स्वाभाविकता तथा आत्मविश्वास के साथ प्रयोग करना वर्णिका-भंग का ही कार्य है।

यदि 'षडंग' के विभिन्न अंगों पर विचार किया जाय तो वर्णिका-भंग सबसे महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त करता है, क्योंकि रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, योजना, सादृश्य सभी का आधार वर्ण या वर्णिकाभंग है। वर्ण या रंग का यदि हमें पूर्ण ज्ञान न हो या तूलिका प्रयोग में हम निपुण न हों, तो षडंग के अन्य अंगों की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। वर्ण या रंग से ही रूप चित्रित किया जाता है। प्रमाण ज्ञान में रंग भी सहायक है। भाव की अभिव्यक्ति में तो रंग का प्रमुख हाथ रहता ही है। सादृश्य उपस्थित करने के लिये भी रंग का पूर्ण ज्ञान और उचित प्रयोग बहुत ही आवश्यक है।

सादृश्य तथा भाव की दृष्टि से रंग प्रयोग या वर्णिका भंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रूप-सादृश्य उपस्थित करने में ज्ञान तथा रंग का प्रयोग अति आवश्यक है, पर भाव सादृश्य उपस्थित करने में यह कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भाव की अभिव्यक्ति से कला में रस उत्पन्न होता है और रस की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से रंग-प्रयोग तथा रंग-ज्ञान पर आधारित है। रस की दृष्टि से रंगों का अध्ययन करना कलाकार के लिये बहुत जरूरी है। रंग ही मूल माध्यम है रस की उत्पत्ति का। यदि चित्र में कोई जाना पहिचाना रूप या आकार न भी चित्रित किया जाय केवल विभिन्न रंगों तथा रंगतों को भाव तथा रस के अनुसार प्रवाहित किया जाय तो रंग स्वरों के संयोजन राग-रागनियों की भांति रस की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि प्राचीन कला में हर देवी देवता के शरीर को विभिन्न रंग या रंगत के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था जैसे कृष्ण तथा राम का रंग नीला, शिव का सफेद, गणेश का लाल इत्यादि। यहाँ रंग इन देवताओं की प्रकृति तथा मूल भाव या रस के द्योतक ही हैं।

भारतीय चित्रकला में भाव तथा रस की उत्पत्ति के लिये छन्द, लय, गति या प्रवाह को सदैव प्रमुख माध्यम माना गया है। वर्णिकाभंग अर्थात् तूलिका-प्रयोग रस-उत्पत्ति के लिये, लय या प्रवाह उत्पन्न करने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जो कलाकार जितनी ही स्वाभाविकता से प्रवाह के साथ पट पर अपनी तूलिका चला सकता है उसका चित्र उतना ही लयमय तथा रसमय हो उठता है। तूलिका प्रयोग का अद्भुत कौशल हमें अजन्ता की कला में देखने को मिलता है।

वर्णिका भंग में प्रवीणता चित्रकार के लिये सबसे पहली और आखिरी शर्त है। इसमें पूर्णरूप से निपुण हुए बिना चित्रकार उत्तम कला का निर्माण कदापि नहीं कर सकता। भाव तथा रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से रंगों के महत्त्व पर मैंने अपनी पुस्तक 'कला और आधुनिक प्रवृत्तियां' तथा 'चित्रकला का रसास्वादन' में समुचित विवेचन प्रस्तुत किया है।

BUDDHISM AND CHRISTIANITY

ARCHIE. J. BAHM

Professor of Philosophy, University of New Mexico, Albuquerque, and Visiting Fulbright Research Professor, Banaras Hindu University

Without doubt, the two greatest religious traditions which attribute their origin to particular founders are Buddhism and Christianity. The names of Gautama, the Buddha, and Jesus, the Christ, are probably the best-known names in the history of the religions of mankind. Since Christian thought has permeated and dominated Western civilization throughout the centuries, and since Buddhist thought not only arose out of Indian views but also penetrated and modified Chinese, Japanese and, indeed, all Asiatic thought, one can understand neither Eastern nor Western civilizations, nor their fundamental differences, without having some insight into the central ideals and history of these two great religions.

My task today consists in trying to summarize and compare these central ideals and to note their complementary character in promoting the welfare of mankind. Comparison involves attention to both similarities and differences. Although differences may prove to be more interesting, similarities, which are equally significant, need to be recognized and appreciated according to their worth. Similarities will be treated first and then differences, with some more obvious and less obvious traits being noted in each case.

Similarities

Both Buddhism and Christianity are very old and enduring, having lasted already for about two millenia. Both grew out of earlier, long-in-developing traditions. Both arose, not as revolts against, but as revolts within their civilizations. Both have become widespread, have a complex history of successes

and failures, conquests and persecutions, and divisions into many sects with their differing philosophical explanations. Each has mingled with local political, religious, geographical and cultural conditions in multifarious ways. Each was inspired by a single, simple but profound, sincere, powerful personality and each originally centered about a clear and compelling principle which all who heard and understood had to accept. Each depended for its preservation upon a body of followers who were organized in monastic orders to memorize and promote its doctrines. Each progressively deified its founder and attributed its teachings, both early and late, to divine revelation. Each not only prospered by means of its monastic system, but also suffered naturally from the onset of formalization, with accompanying tendencies toward sterilization, degeneration, grat and disintegration. But both also found champions which revived and rejuvenated them from time to time. Both suffered distortions of, and a partial smothering of, the original teachings as a consequence of such formalization and rejuvenation, to say nothing of difficulties naturallyinherent in transmission, translation and interpretations needed in teaching.

Both came to be plagued not only by uncertainties about history and paradoxes in doctrine but also by sectarian conflicts which have tended to diminish effectiveness in attracting new adherents. Both have become shaped into two major divisions, Hīnayāna and Mahāyāna Buddhism and Catholic and Protestant Christianity. When, later each has met the other, each resisted amalgamation ; and their encounters have yielded both considerable misunderstanding and mistrust. Yet also each has begun to have some influence upon the other. Shin Buddhism, for example, has adopted doctrines of love and grace and a familiar paradise more characteristic of Christianity. Christian Science has adopted ideals of the unreality of evil and matter more typical of Vijñānavāda. Both, starting with discoveries by their teachers that the goal of life can be realized here and now "in this very life", were made to serve popular interests in magical supernaturalism, but both have returned, for time

to serve this worldly needs. Recent Humanistic forms may be found in Zen and Unitarianism.

Other similarities may not be so obvious. Both have been able to provide a way to salvation, to confident living, to feeling that one has realized the goal of life. Despite the fact that the adherents of each have tended to reject the views and practices of the other—the more narrow the commitment the more persistent the rejection—each has served religious needs with a large measure of satisfaction. Both are alike. I shall further contend in that each has something of humanistic value to contribute to the other ; or, to put the matter differently, both have something fundamental to contribute to human insight into the nature of happiness. That is, both are alike in that each can supplement the other in its service to mankind.

Differences :

Among the more obvious differences, we may recall that Buddhism is older than Christianity by half a millenium, that Christianity has flourished in and dominated Western civilization with its conflicting Greek and Hebrew traditions while Buddhism has permeated two of the world's great civilizations, the Hindu and the Chinese, becoming one of the "three truths of China" in competition with indigenous Taoism and Confucianism. Geographically, Christianity has prevailed in Europe and the Americas whereas Buddhism has spread throughout South-East Asia, China and Japan. Christianity has been molded by and has in turn modified, the European languages, while Buddhism has shaped, and in turn been shaped by the idioms typical of Sanskrit and Pali and Chinese and Japanese languages. Except for popular deifications, Buddhist doctrine has remained primarily atheistic, whereas Christianity has perplexed its people and theologians with a trinitarian type of monotheism. Buddhism has emphasized the impermanence and thus unreality of the individual soul, together, paradoxically, with reincarnation, whereas Christianity orthodoxly asserts both the eternality of the soul and, perhaps equally paradoxically, only a single short temporal life.

Not so obvious to most are the ways in which Buddhist and Christian doctrines and practices are products of their respective cultural traditions. Christianity arose late in Hebrew history and Jesus, the Jew, came not to set aside but to "fulfil the law and the prophets". Hebraic conceptions of the nature of God and man center about "will". God's will is supremely powerful, for by it he created the world ("Let there be light", and there was light) and men. Men were created as free wills; and sin consisted in willing to go against the will of God. "Will", as a comprehensive metaphysical term, includes desiring, longing, hoping, yearning, hating, fearing and loving. Jesus, though emphasizing love as against fear, reemphasized will: "Thy faith (will to believe) hath made thee whole". But Christianity survived and grew through the efforts of Paul, who wrote and spoke in Greek to Greeks. The great Greek philosophers, Plato and Aristotle, through numerous Patristics and Plotinus, contributed a second major source of Christian thought. Greek minds emphasized "reason" in all its forms, ratio, relationship, law, order, hierarchy, eternality and perfection. In the mind of Augustine, Christian theology took its permanent form. Ingeniously he reconciled irrational will and willess reason by making them identical in God, as perfect, but differeing in man, as imperfect. The perpetual emphasis upon the ultimacy of both will and reason has both given Western civilization, and Christian theology, its most characteristic traits, as compared with Buddhism and Oriental civilizations. These two traits require some elaboration.

Will, when idealized as something ultimate, contributes to the idealization of free will and of freedom conceived in terms of doing what one wills to do. Hence desired activity, self-assertion, and self-expression are approved. Willing entails ideals of influencing or determining what will be, and thus provides Western mentality with an aggressive character. Man should exercize dominion over the earth, and change it to suit the heart's desire. Ideals of progress, meaning that the future will be better than the present, are a natural consequence.

Thus one ought to try to improve himself, improve others, improve the world.

Reason, when idealized as some thing ultimate, begets ideals of orderliness in the universe, in society, in man, and in God. Existence is structured in forms and by laws. Knowledge of these laws is possible. Hence, one should seek knowledge of these laws. Logic and the ologies (sciences), including theology, result. Laws are hidden behind sensuous appearances, so the Western mind becomes realistic. Reality lies behind appearances, thus outside the self. If God is that which is most real, then he must be not only beyond the self but outside the world of appearances. Science abstracts universals or laws with the help of theories involving speculation about possibilities. Possibilities (at least in Leibniz) come to be regarded as prior to actualities, and theoretical science (in contemporary "pure" sciences) as more revelatory of truth than the practical or engineering sciences.

Western civilization is not without its serious problems, constituting a kind of intellectual indigestion, as a consequence of having both will and reason as ultimates. Science, seeking to be "objective", falsely infers that it must therefore abhor the "subjective", and, locating values subjectively, falsely concludes that science is at its best when it is completely value-free. The freedom-determinism controversy perpetually plagues Western minds, for it can neither surrender its ideals of rationality, which imply determinsm, nor its ideals of the ultimacy of will, which presupose freedom. The history of Christianity is interwoven with controversies about this problem.

But I must hasten to point out Oriental contrasts to these two Western ideals. Whereas Western will manifests itself as willfulness, Orientals tend to idealize either the total absence of desire or will (*nishkama yoga*) or of willingness, submissiveness to circumstances, or "non-attachment". Orientals idealize passivity, both within self (*mukti*), between selves (*ahimsa*), and in ultimate reality (*nirvana, śunya*). Thus one should accept himself and others as they really are, looking

inward for such reality, and being conservative in the sense that what is is good and futurity can only bring us to another presence which in its turn must be accepted also as good in itself. Enjoyment of intrinsic value, inherent within self, is idealized above concern for instrumental values, or means to other ends, which entail us in gadgets, machines, tools, and thus tend to force a soul which is good in itself into subservience to material means to external ends.

Reason, which presupposes structure, including things and their external relations, apprehands things indirectly, through inference. Intuition, on the other hand, consists in direct apprehension. Although both intuition and reason are essential ingredients in human knowing, Orientals have idealized intuitive knowing whereas Westerners worship reason. Orientals not only seek ultimate reality subjectively but find that here alone can they attain the surest insight into it through self-intuition. Science which depends upon the senses (*indriyas*) can yield only illusion (*avidyā*). Furthermore, science, as analytic, seeks knowledge of things by disecting them into their ultimate or atomic parts. But self is indivisible and hence unanalyzable, and the universal self likewise is indivisible and unanalyzable. Ultimate reality (*nirguṇa brahman* or *śunya*) not only is indescriable in analytical terms but it contains no parts, hence no matter, no law, and no time. It permits no external relatedness, and hence is not different from anything. Anything else which partakes of ultimate reality must thus sare in this total non-difference. Hence the true knower is not a scientist who seeks multiplicities of different parts and of different laws but a yogic seer who intuits ultimate reality existing within everything, hence within himself.

Contrasting West and East, we note that whereas in Augustine's ultimate reality, God, reason and will (desire) are identical, in Hindu and Buddhist ultimate reality, *Nirguṇa Brahman* and *śunya*, everything, including willingness or desirelessness and intuition are non-different. It is true that willfulness and rational inference come to be thought of as non-

different from that in which willingness and intuition are non-different; but this non-difference implies that both reason, with its different laws, and will, with its many different desires, are, as different from each other, ultimately unreal. Hence, so far as typical ideals are concerned, even of not so much in actual practice, East and West are poles apart. These polar differences infect Buddhism and Christianity and throw considerable light upon both their different natures and upon why they have difficulty in coming to terms with each other.

Comparison of Buddhism and Christianity, which is the purpose of this article, may be summed up by examining the Hindu-Buddhist ideals of yoga, depicted in descriptions of the *arhat* and *bodhisattva*, and the Jewish-Christian ideals of love, depicted in the happy family. Jewish life was, and is, essentially familiar. By the time of Jesus, the Hebrew *Yahweh* (Jehovah) had been transformed from a "jealous god" into a "loving father". With Jesus, "God's will" became, almost exclucisvely, "God's love". Jesu's most characteristic pronouncement was that "God is love". Unhappiness exists whenever men compel each other, for then they fear and hate and kill each other. The ideal society is one in which men love each other even as a father, or mother, loves his her children. He forgives them even when they do not deserve forgiveness. He helps them graciously even when he can expect no help in return from them. And since he wants to help all of them to be happy, he wants them to love rather than hate and fear each other. Hence, God is pictured as the epitome of love, and love as the epitome of divinity. "Love ye one another". "Forgive your enemies". And above all, love God; but loving God means loving love, and if one really loves such love, he will embody it within himself through his loving others. Love is divine and one partakes of the ultimate in the way of divinity by surrendering all desire for justice and revenge and replacing it with that love which "casteth out fear". Whether one loves or not is a matter of his own free choice. The "Kingdom of heaven is at hand," if we will only emulate the Heavenly Father,

loving others so much that we are willing to forgive their trespasses against us "seventy times seven".

Jesus' ideals of love suffered eclipse as Christianity came under the sway of Greek ideals of the ultimacy of reason; and Hebraic ideals of justice and even wrath persisted in the Old Testament of the Christian Bible and in Paul's interpretation of Jesus' cosmic significance. Development of monastic orders providing opportunity for withdrawal from the world, and development of doctrines emphasizing utter devotion to preparation for life after death through dependence upon the services of a clerical hierarchy, never did banish ideals of love, but led to use of both as explanations for "seeking God", paying for the services of the Church, and maintaining social stability and personal self-restraint. Mediaeval sterility, corruption and excessive control led to the Reformation and Bible reading and personal conviction about the need to follow Jesus through loving others in everyday life. With the advent of the modern age, commerce, science, industrialization and urbanization created both new goods and evils and greater interdependence, and the socially-minded extended Jesus' ideals of a happy family into a "social gospel" advocating love to our urban neighbours, or fellow countrymen, and indeed all mankind, through economic assistance and political organizations designed to assure general economic welfare. (Laissez-faire capitalism's justification in terms of "the greatest good for the greatest number" and Marxist utopianism, which has been described as "a Christian heresy", cannot be fully understood apart from their sources in prevailing ideals rooted in Christian concern for love for all mankind.)

Hindu ideals focus in yoga, and *Karma* yoga, *bhakti* yoga, *jnana* yoga and *rāja* yoga, all involve *nishkama* yoga (desire for complete desirelessness) and end in *mukti*, freedom from desire, disturbance (*vritti*) and illusion. The other values recognized as important in ordinary life, *kama* (desire), *artha* (wealth) and *dharma* (duty), vanish completely in the ideal state, *nirvaṇa*. By the time of Gautama, or at least within the life of Gautama, Hindu ideals of *mukti* as freedom from desire

had become transformed into freedom from desire for what will not be obtained. (See my *Philosophy of the Buddha*, Rider and Co., 1958, Harper and Brothers, 1959, and Collierbooks, 1962). Freedom from desirousness (*tanha*) replaced freedom from desire (*chanda*) as the evil to be avoided. Thus *nirvaṇa* came to be interpreted as confident living "in this very life". But the monastic order of the Kashyappa bothers with which Gotama became associated, and which perpetuated and reinterpreted his teachings, retained ideas of *karma*, reincarnation and of *nivaṇa* and *mukti* as fully attainable only after death, in their ideal of the *arhat*. *Rāja* and *hatha* yogic practices, much like those later described by Patanjali (See my *Yoga; Union with the Ultimate*, Unger, 1958), were prescribed for monks seeking the goal of life. Although, as in Hindu tradition, a monk should first settle his social debts before seeking solitary salvation, no element of love is present in his conception of ultimate reality and value or of the goal of life. *Nibbana* is bliss, but it is an utterly amoral bliss.

Although the Mahāyāna *bodhisattva* ideal modified the Hinayāna *arhat* ideal by adding a "compassionate" dimension, such compassionateness was expected to manifest itself only after one had attained amoral *arhatship* and then to consist in aiding others on their way into that amoral condition also. Although *bodhisattva* ideals degenerated in popular practice into treating *bodhisattvas* wart-healing and womb-impregnating magicians, effective ideals of promoting general social welfare have become associated with Buddhist organizations only after competing with Western influences. Charity has always existed, but its justification has been explained in terms of personal accumulation of karmic merit and quicker entry into *bodhisattvaship* and *buddhahood*. Except in Amida-worshipping Shin and in Humanistic this-worldly Zen, Mahāyāna Buddhism has continued to idealize the ultimate goal as *mukti* and *nirvaṇa* as *śunya*, or total voidness of individual self-consciousness, not to mention voidance of all awareness of, including specific love of, other persons or other things.

To sum up and evaluate Buddhism and Christianity—a rash adventure for anyone acquainted with their huge and complex histories—Christianity depicts the goal of life as "heaven", whether "heaven above" or "heaven on earth", conceived in terms of a happy family in which the prevailing means and character is love, while Buddhism envisions the end of life as *nirvana* (*nibbana*) whether as *sunya* (*nirvana* beyond life) or as *jivanmukti* (*nirvana* in this very live), conceived as *mukti* or blissful individual freedom from all awareness except perhaps self-awareness or, more ultimately, pure awareness undefiled even by any trace of the individual self, in which the prevailing means and character is yoga, union with ultimate reality as perfect indefiniteness. Christian love involved active willing; Buddhist yoga idealizes passive desirelessness. Christianity advocates unselfishness; Buddhism advocates selflessness. So similar, and yet so different!

I must resist the temptation to evaluate Christianity as more interested in social welfare than Buddhism, because Western socialism is a product of humanistic revolts against Christianity and of materialistic science and technology and historical accidents as much as of Christian ideals of love, and because Buddhism has yet to prove itself under urbanized conditions. In some ways, socialism, including world-socialism, flows naturally from the ideal of a happy family; yet Christian countries have often idealized individualism. In some ways, socialism, including world-socialism, flows naturally from idealizing ultimate reality as a unity involving complete absence of difference; yet Buddhist countries have been slow to adopt effective social-welfare programs. Buddhism partakes of that Oriental spirit which expresses itself as "All religions are one"; Christianity has persisted in claiming exclusive knowledge of the truth. Christianity and Buddhism increasingly face each other in an "encounter", but they do not yet show significant signs of merging their efforts in a common attack upon the evils facing mankind.

My own conclusion is that both love (willful, forward-looking, progressive, ambitious) and yoga (willing, present-

enjoying, conservative, contented) are traits, and virtues, of human nature. Mankind impoverishes itself if it fails to profit from the achievements of both traditions. The task for the future is neither over emphasis upon the future (mania for progress) nor overemphasis upon the present (indifference to progress) but a judicious enjoyment of both. Both Christianity and Buddhism may become overshadowed by practical considerations resulting from science and technology. So long as "science" misclaims to be "value-free", it has no value philosophy to offer, and so men must depend upon the value philosophies of older traditions. But as scientific humanism formulates and spreads value ideals which prove to be widely acceptable, both Buddhism and Christianity, singly and together, face the prospect of diminution of their effectiveness as goal-inspiring guides for mankind.

———

सांख्यदर्शन

(क्रमागत)

पं० हीरावल्लभ शास्त्री

संस्कृत महाविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अब यह विचार करना है कि सांख्य शब्द का दर्शन शब्द से मेल होने पर संयुक्त "सांख्यदर्शन" पद का क्या अर्थ होता है। इस संयुक्त पद के अर्थ को बताने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि दर्शन शब्द का क्या अर्थ है। मेदिनी कोश का वचन है—"नेत्रे, स्वप्ने, बुद्धौ, धर्मे, दर्पणे, शास्त्रे च दर्शन शब्दः"; अर्थात् दर्शन शब्द नेत्र, स्वप्न, बुद्धि, धर्म, दर्पण और शास्त्र का वाचक है। किन्तु दर्शन शब्द के अनेक अर्थों में सांख्य शब्द के साथ संयुक्त दर्शन शब्द का शास्त्र अर्थ लेना ही युक्ति संगत है। कारण कि "दर्शन शब्द" "दृश्यते भेदेन उपलक्ष्यते सत्वं पुरुषश्च येन तत् दर्शनम्" एवं "दृश्यते यथार्थतया ज्ञायते पदार्थोऽनेनेति दर्शनम्" (करणे ल्युट्) इस व्युत्पत्ति से सिद्ध होकर यही अर्थ प्रकट करता है कि जिससे सत्त्व (बुद्धि रूप जड़ पदार्थ) आत्मा (चेतन तत्त्व) का भेद ज्ञान हो, किंवा वास्तविक रूप से पदार्थ का ज्ञान जिससे हो उसे दर्शन कहते हैं। इस प्रकार का जड़ और चेतन तत्त्वों का भेदज्ञान या तात्त्विक ज्ञान शास्त्र से ही होता है। अतः शास्त्र को दर्शन शब्द से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार असमस्त (पृथक्-पृथक्) सांख्य और दर्शन शब्द प्रायः समानार्थक ही हैं किन्तु समास दशा में सांख्य पदार्थ के साथ दर्शन पदार्थ विशेष्य भाव को प्राप्त होता है और "सांख्यदर्शन" इस समस्त पद से उस शास्त्र का ग्रहण किया जाता है जो प्रकृति प्रभृति २४ जड़ वर्ग से भिन्नतया आत्मतत्त्व का कथन, (विवेक ज्ञानरूपीतत्त्वज्ञान) प्रकृति पदार्थ तथा तत्त्वों की संख्या का प्रतिपादन करता है।

यद्यपि अंशतः केवल यौगिक अर्थ को लेकर उक्त परिभाषा वैशेषिकादि अन्य दर्शनों में भी घट जाती है, क्योंकि वे भी तत्त्वों का ज्ञान और उनकी संख्या का निर्देश करते हैं तथापि सर्व प्रथम इस प्रकार का दार्शनिक विचार महर्षि कपिल द्वारा प्रकट होने के कारण योगरूढ़ि का आश्रयण कर कपिल मुनि प्रणीत दर्शन का ही नाम सांख्यदर्शन पड़ा। न्याय वैशेषिकादि शास्त्रों की अपेक्षा कपिल शास्त्र का नाम "सांख्य" इसलिए पड़ा कि सांख्य शब्द का जो वास्तविक अर्थ (सम्यग्विवेकेनात्मकथनम्) है यह न्याय वैशेषिकादि शास्त्रों में नहीं घटता। क्योंकि वे दर्शन (न्यायादि) इन्द्रियादि अनात्म पदार्थों से आत्मा को पृथक् सिद्ध तो अवश्य करते हैं किंतु सुख, दुःख धर्म, अधर्म, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, भोक्तृत्व, कर्तृत्वादि अनेक अनात्म धर्मों से आत्मा असंग है, ये आत्मा के धर्म नहीं हैं ऐसा नहीं मानते। ये सब आत्मा के ही धर्म हैं ऐसी उनकी स्वीकृति है। इसके विपरीत कपिल महामुनि का आत्मा के विषय में यह उपदेश है कि आत्मा सुखादि धर्मों से रहित है, निर्लेप है, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, वह ज्ञान रूप ही है। ज्ञान (चेतन) वाला नहीं है अर्थात् नित्य ज्ञान स्वरूप है, ज्ञानवान् नहीं।

यद्यपि सांख्यों ने भी "संघातपरार्थत्वात्" कारिका में पुरुष को भोक्ता माना है तथापि पुरुष (आत्मा) में वह भोक्तृत्व भी वास्तविक नहीं है किंतु बुद्धिनिष्ठ भोक्तृत्व का आरोप मात्र है क्योंकि सांख्यनय में तात्त्विक भोक्तृत्व बुद्धि को ही है। यह बात "बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः" कारिका में स्पष्ट कर दी गई है। इस प्रकार के विवेक ज्ञान का प्रतिपादक होने से भी कपिल प्रणीत शास्त्र सांख्यदर्शन नाम से कहा जाता है। कणादादि महर्षियों ने तो सांख्यों के अभिमत पञ्चतन्मात्ररूप परमाणुओं से लेकर सृष्टि या तत्वों का विचार किया है, श्रुति स्मृतीतिहास पुराण प्रसिद्ध प्रकृति, महद् और अहंकार तत्वों पर विचार नहीं किया है। यहाँ हमने पञ्चतन्मात्राओं को परमाणु स्वरूप केवल समझाने के लिए कहा है। वस्तुतः सांख्यदर्शन के अनुसार पञ्चतन्मात्राएँ परमाणु से भी सूक्ष्म हैं। इस प्रकार तत्वों की संख्या न करने से भी उनके दर्शन सांख्य शब्द से व्यवहृत न हो सके इत्यादि विचारों के अनुसार योगरूढ़ि का आश्रयण कर कपिल प्रणीत शास्त्र ही सांख्यदर्शन नाम से कहा जाता है। यहाँ तक सांख्य और दर्शन शब्द के व्यस्त और समस्त स्थितियों में अर्थ का संक्षिप्त वर्णन कर अब इस दर्शन की प्राचीनता के विषय में भी विचार करना उपयुक्त होगा।

सांख्य के प्रवर्तक आचार्य कपिल और सांख्यदर्शन की प्राचीनता का विचार

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में, जहाँ पर अवतारों की गणना की गई है, आया है कि भगवान् के पाँचवें अवतार सिद्धों में प्रधान कपिल ने अपने शिष्य आसुरि को उस सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया जिसमें तत्त्व समूहों का निर्णय है, जो कालवश लुप्त था—

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥

यहाँ पर "कालविप्लुतम्" इस पद से प्रकट है कि कपिल मुनि के पहले ही से सांख्यशास्त्र विद्यमान था, कपिल मुनि ने उस लुप्त सांख्यशास्त्र का पुनरुद्धार किया। काल विलुप्त सांख्यशास्त्र का उद्धार सर्व प्रथम कपिल मुनि के द्वारा ही सांख्य के तत्वों के उपदेश के प्रवचन और सूत्रात्मक ग्रन्थ निर्माण के रूप में हुआ। इस कारण उन्हें सांख्य का प्रवर्तक आचार्य या सांख्यशास्त्र का प्रणेता कहा जाता है। महाभारत, हरिवंश, पुराणादि ग्रन्थों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि विष्णु (सनात् सनातनतमः कपिलः कपिरव्ययः); शिव (कपिलः कपिशः शम्भुः); नाग (शंखश्च शंखपालश्च कपिलौ वामनस्तथा); दानव (अयोमुखः शंबरश्च कपिलो वामनस्तथा) और मुनि (सिद्धानां कपिलौ मुनिः)—ये पाँच व्यक्ति विशेष कपिल शब्द से कहे जाते हैं। वायुपुराण में गन्धर्वादि भी कपिल नाम से कहे गए हैं। इनमें प्रथम दो व्यक्ति तो प्रसिद्ध विष्णु और शिव देवता हैं अतिरिक्त तीन कपिल दानवादि जातियों में व्यक्ति विशेष हैं। इन पाँच कपिलों में से सांख्यशास्त्र के द्रष्टा व उपदेष्टा कौन कपिल हैं? इस आशंका का निराकरण करने के लिए ही तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्व कौमुदी के मंगलाचरण में 'कपिलाय महामुनये' इस प्रकार स्मरण कर यह दर्शाया है कि महामुनि विशेष कपिल ही सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हैं, अन्य कपिल नहीं। श्रीमद्-

भागवतादि पुराण ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र के उपदेष्टा कपिल मुनि का इतिवृत इस प्रकार पाया जाता है—"कपिल चौदह मनुओं में आदि स्वायम्भुव मनु के दौहित्र (नाती) थे। आदि स्वायम्भुव मनु की देवहूति नाम की कन्या थी। मनु ने उसका विवाह प्रजापति कार्दम ऋषि के साथ किया। देवहूति ने अनन्य भाव से दीर्घकाल तक पति की सेवा की। उनकी प्रसन्नता और आशीर्वाद के कारण नौ कन्याओं के जन्म के अनन्तर कपिल रूप से ही भगवान् देवहूति के गर्भ में अवतरित हुए। ये नारायण के अंशावतार थे। जन्म से ज्ञानी व सिद्ध थे—

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥

(भा० ३ स्क०, २४ अ०, ६ श्लोक)

इसके आगे के प्रकरण में इन्हीं कपिल के लिए आया है कि 'हे देवहूते ! सिद्ध गणों के ईश सर्वथामान्य सांख्याचार्य तुम्हारी कीर्ति को बढ़ाने वाला यह तुम्हारा पुत्र लोक में कपिल नाम को धारण करेगा'—

अयं सिद्ध गणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसंमतः ।
लोके कपिल इत्याख्यां गता ते कीर्तिवर्द्धनः ॥

(भा० ३ स्कं०, २४ अ०, १९ श्लोक)

इन वचनों से सिद्ध है कि कपिल नाम के अनेक व्यक्तियों में सांख्य के प्रवर्तक वे कपिल हैं जो आदि स्वायम्भुव मनु के दौहित्र तथा विष्णु भगवान् के पञ्चम अंशावतार हैं। इन्हीं को सिद्ध गणाधीश कहा गया है। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने इन्हीं को लक्ष्य कर—"सिद्धानां कपिलो मुनिः" ऐसा कहकर सिद्धों में अपने को कपिल रूप कहा है। सांख्यों की यह भी मान्यता है कि इन्हीं कपिल की चर्चा श्वेताश्वेतरोपनिषद् के पाँचवें अध्याय के—"ऋषिं प्रसूतिं कपिलम्" इस द्वितीय मन्त्र में भी आई है, किन्तु अद्वैत मतानुसार इस मंत्र में वर्णित कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक हैं ऐसा स्पष्ट न होने के कारण मंत्र के भाष्य तथा व्याख्याकारों ने कपिल का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है। फिर भी श्री शंकराचार्य ने यहाँ पर अपने भाष्य में "कनककपिलवर्णम्" इत्यादि अर्थान्तर को दिखाकर विकल्प रूप से कपिल शब्द का अर्थ सांख्य के प्रणेता कपिल माना है। आचार्य शंकर लिखते हैं—

"कपिलोऽग्रज इति पुराण वचनात् कपिलो हिरण्यगर्भोवा निर्दिश्यते"

"कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल ।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः ॥
कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत् ।
ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्व जगतो हितम् ॥"
"सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शंकरः"

"इति परमार्थः प्रसिद्धः"। इन वचनों से सिद्ध है कि सांख्य के प्रवर्तक आचार्य कपिल मुनि अति प्राचीन हैं। महर्षि कपिल और उनके द्वारा प्रवर्तित सांख्य की प्राचीनता केवल भागवत पुराण से ही सिद्ध नहीं है प्रत्युत पुराणान्तर तथा महाभारतादि ग्रन्थों से भी सिद्ध है। देवीभागवत् के ८ वें स्कन्ध के तीसरे अध्याय के १४, १७, १८ श्लोकों में

आया है कि कर्दम-देवहूति से कपिल मुनि पैदा हुए। वे सांख्याचार्य कपिल समस्त लोक में प्रसिद्ध हुए। महायोगी भगवान् कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को सर्व अविद्या की निवृत्ति करने वाले ज्ञान का उपदेश दिया। कपिल शास्त्र (सांख्य) अध्यात्म-ज्ञान का निश्चायक है, अशेष रूप से ध्यान का प्रतिपादक और सर्व प्रकार के अज्ञान का विनाशक है—

"देवहूत्यां च कपिलोऽसौच कर्दमात्" । १३ ।
"सांख्याचार्यः सर्वलोके विख्यातः कपिलो विभुः" । १४।
"कपिलोऽपि महायोगीभगवान् स्वाश्रमेस्थितः ।
देवहूत्यै परंज्ञानं सर्वाविद्यानिवर्तकम्" ॥ १७ ॥
"सविशेषं ध्यानयोगमध्यात्मज्ञान निश्चयम् ।
कापिलं शास्त्रमाख्यातं सर्वाज्ञान विनाशनम्" ॥ १८ ॥

इसी प्रकार कूर्मपुराण के उत्तरार्ध के ११ वें अध्याय में भी आया है कि कपिल ने जेगीषव्य और पञ्चशिख मुनि को परम तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया—

'जेगीषव्याय कपिल स्तथा पञ्चशिखाय च ।'२९।

यहाँ पूर्व प्रकरण में तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया—

दत्तवानैश्वरंज्ञानम्

स्कन्धपुराण के वैष्णव खण्ड के १८वें अध्याय में भगवान् अवतार के प्रकरण में भगवान् कहते हैं मैं कर्दम प्रजापति से देवहूति में कपिल नाम से जन्म ग्रहण कर कालवशात् नष्ट हुए 'सांख्य' को संसार में प्रवर्तित करूँगा—

'कर्दमाद्देवहूत्याश्च भूत्वा थ कपिलाभिधः ।
प्रवर्तयिष्ये कालेन नष्टं सांख्यं विरागयुक् ॥' २४ ॥

वासुदेव के अवतार रूप ये कपिल आसुरि आदि अपने शिष्यों को सांख्य का उपदेश देकर उत्तर दिशा (हिमाचल प्रान्त) को तपस्या करने चले गए। ये दीर्घ जीवी थे। जब सगर के पुत्र अश्वमेध के घोड़े को ढूँढ़ते २ इनके आश्रम में पहुँचे तो उनके उपद्रव से इनका ध्यान भग्न हुआ। इनके तीक्ष्ण तपः प्रभाव से वे सब भस्म हो गए। वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट ही कपिल को विष्णु का अवतार वासुदेव पद से स्वीकार किया है—

'ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ।' वा० रा० बा० का० २५ ।

इस श्लोक की गोविन्द राजीय टीका में स्पष्ट लिखा है ये कपिल दूसरे कपिल नहीं थे। कपिल अवतार थे—'कपिलं कपिलावतारम् ।' इस श्लोक की रामाभिरामी टीका में लिखा है कि नित्य सिद्ध कपिल रूपधारी वासुदेव को देखा—

'सनातनं नित्यसिद्धं कपिलं कपिलरूपवन्तं वासुदेवं ददृशुः ।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित ये कपिल और पुराणों में वर्णित सांख्य के उपदेष्टा विष्णु के अवतार कपिल एक ही व्यक्ति हैं, यह बात भी पुराण और वाल्मीकि रामायण के समन्वय करने से सिद्ध हो जाती है। वाल्मीकि रामायण के उक्त प्रकरण

से ज्ञात होता है कि सगर पुत्रों के घोड़े के अन्वेषण के समय कपिल मुनि उत्तर दिशा के किसी हिममय प्रान्त में तप कर रहे थे।

'खनन्तः समुपाक्रान्ता दिशं हैमवतीं तदा।' वा० रा०, बा० ४० सर्ग। २१।

रामा० तिलक टीका—**'खनन्तस्ते सर्वे षष्टिः पुत्र सहस्राणि सागराः हैमवतीं हिमवत्सम्बन्धिनीमुत्तरांदिशं समुपाक्रान्ताः प्राप्ताः।"**

अर्थात् पृथिवी को खोदते हुए वे सगर के साठ हजार पुत्र हिमावली उत्तर दिशा पहुँचे।

देवीभागवत में कपिल की स्तुति का वर्णन करते हुए लिखा है कि कपिल मुनि अपने शिष्यों को सांख्य का उपदेश देकर पुलहाश्रम चले गए। वे सांख्याचार्य महाशय आज भी वर्तमान हैं। जिस कपिल के नाम स्मरण मात्र से ही सांख्य योग सिद्ध हो जाता है, उस योगाचार्य कपिल को मैं प्रणाम करता हूँ—

"उपदिश्य महायोगी स ययौ पुलहाश्रमम्।
अद्यापि वर्तते देवः सांख्याचार्यो महाशयः॥
यन्नाम स्मरणेनापि सांख्ययोगश्च सिद्धयति।
तं वन्दे कपिलं योगाचार्यं सर्ववरप्रदम्॥"

देवी भा०, उत्तरा० ८ स्क० ३ अ०।

शास्त्रीय प्रवल प्रमाणों के रहते हुए भी अद्वैत सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री स्वामी शंकराचार्य जी विष्णु के अवतार रूप कपिल मुनि को सांख्यशास्त्र के प्रणेता नहीं मानते क्योंकि वे सांख्यशास्त्र के प्रणेता को इस प्रकार का महत्त्व देना नहीं चाहते जिससे कि सांख्यशास्त्र का भी महत्त्व वढ़ जाय। विज्ञानभिक्षु ने अपने प्रवचन भाष्य में उनका उद्धरण इस प्रकार दिया है—सांख्य के प्रणेता कपिल विष्णु के अवतार नहीं हैं, किन्तु अग्नि के अवतार-स्वरूप कोई दूसरे ही व्यक्ति कपिल हैं जिन्होंने सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया। क्योंकि स्मृति में आया है कि अग्निदेव सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हैं जिनका नाम कपिल है—

"सांख्य प्रणेता कपिलो न विष्णुः किन्त्वग्न्यवतारः कपिलान्तरम्।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्र प्रवर्तकः।" इति स्मृतेः'

परन्तु श्री शंकराचार्य का यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। उन्हें सांख्य सिद्धान्त का खण्डन करने में अत्यधिक श्रम करना पड़ा। श्रुति स्मृतीतिहास पुराण से समर्थित सांख्य सिद्धान्त की दृढ़ नींव को हिलाने के लिए उन्हें यह आवश्यक हो गया था कि सांख्य के प्रवर्तक कपिल को विष्णु के अवतार रूप में स्वीकार न किया जाय। आचार्य श्री शंकर के उक्त विचार का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु सांख्य प्रवचन भाष्य में लिखते हैं कि यह विचार केवल लोक व्यामोहन करने वाला है। स्मृतियों से विष्णु के अवतार देवहूति के पुत्र ही सांख्य के उपदेष्टा रूप से ज्ञात होते हैं। दो कपिलों की कल्पना करने में गौरव भी है। जहाँ पर स्मृति में कपिल नामधारी अग्नि को सांख्य का प्रवर्तक कहा है, वहाँ अपनी अग्नि शक्ति से आवेशयुक्त विष्णु ही अग्नि शब्द से कहे गए हैं, जैसे गीता में भगवान् कृष्ण कालशक्ति आवेशयुक्त होने के कारण ही अपने को "काल हूँ" ऐसा कहते हैं—

"तल्लोक व्यामोहन मात्रम्। एतन्मे जन्मलोकेस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।" ...इत्यादि स्मृतिषु विष्णवतारस्य देवहूति पुत्रस्यैव सांख्योपदेष्टृत्वावगमात्। कपिलद्वयकल्पना गौरवाच्च। तत्र चाग्निशब्देऽग्न्याख्यशक्त्यावेशादेव प्रयुक्तः। यथा लोकेऽस्मिंल्लोकक्षय कृत् प्रवृद्धः–इति श्री कृष्ण वाक्ये काल शक्त्यावेशादेव काल शब्दः।'

सी० द० ६ अ०, ७० सूत्र प्रवचन भाष्य।

आधुनिक सांख्य व्याख्याकारों का कथन है कि भागवतादि पुराणों में वर्णित सांख्य के प्रवर्तक कपिल (देवहूति के पुत्र) के विरुद्ध—'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्र प्रवर्तकः' (महाभारत) यह स्मृति वाक्य कल्पनान्तरीय (वाराह कल्प से अन्य) कपिल के बारे में है। इस प्रकार सांख्यों द्वारा सांख्य के प्रवर्तक विष्णु के अवतार कपिल व्यक्ति के विषय में शंकर मत का निराकरण कर देवहूति के पुत्र कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक आचार्य हैं, इस पक्ष में कोई भी दोष देखने में नहीं आता।

देवहूति के पुत्र विष्णु के अवतार कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक आचार्य हैं अन्य कपिल नहीं, इसपर ऊपर विज्ञानभिक्षु प्रभृति प्राचीन आचार्यों की सम्मति दिखा दी गई है। इसके अतिरिक्त भागवतादि पुराणों में स्पष्ट ही यह आया है कि भगवान् कर्दम प्रजापति को वर-दान देते समय कहते हैं कि 'हे मुने। मैं अपनी अंशकला से युक्त होकर तुम्हारी पत्नी देवहूति के गर्भ में जन्म लेकर तत्त्वसंहिता (सांख्यशास्त्र) का निर्माण करूँगा'—

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्॥

भा० ३ स्क०, २१ अ०, श्लोक

इस कथन के बाद अवतरित होकर भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति से कहते हैं कि, हे मातः! आत्मदर्शन का यह सूक्ष्म मार्ग दीर्घ काल से नष्ट हो गया था उसी को पुनः प्रवर्त्तित करने के लिये मैंने यह देह धारण किया है। स्नेहयुक्त कपिल ने माता का अभिप्राय जानकर शरीर धारण कर सांख्य का उपदेश दिया—

'एष आत्मपथो व्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम्॥'

भा० ३ स्क०, २४ अ० ३७ श्लोक

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं जात स्नेहो यत्र तन्वाभिजातम्।
तत्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं प्रोवाच वै भक्ति वितान् योगम्॥

भा० ३स्क०, २५ अ०, ३१ श्लोक

इस प्रकार सांख्य के उपदेष्टा कपिल और उनसे उपदिष्ट सांख्य सिद्धान्त की प्राचीनता में विद्वानों का परस्पर वैमत्य न रहने पर भी वर्तमान 'षडध्यायात्मक सांख्यदर्शन' की प्राची-नता के विषय में बहुधा विवाद देखने में आता है।

वर्तमान षडध्यायात्मक सांख्यदर्शन और अर्वाचीन मत समीक्षा

इन विद्वानों में लगभग डेढ़ सौ वर्ष से अर्वाचीन पाश्चात्य प्रणाली से पोषित ऐतिह्य समालोचक प्राच्य-प्रतीच्य उभयविध विपश्चितों का कथन है कि 'सांख्य दर्शन का

उपलब्ध यह षडध्याय रूप सूत्रग्रन्थ (सांख्य दर्शन) कपिलकृत नहीं है नितान्त अर्वाचीन है। क्योंकि श्री शंकराचार्यादि भाष्यकारों तथा वाचस्पति प्रभृति टीकाकारों ने अपने भाष्यादि ग्रन्थों में सूत्रों को उद्धरण के रूप में न दिखाकर कारिका को ही दिखाया है। जैनों के प्राचीन ग्रन्थों में भी कारिका का ही उद्धरण देखने में आता है। माठर, गौड़पादाचार्य, वाचस्पति मिश्रादि सांख्य के व्याख्याताओं ने भी कारिका के ही ऊपर वृत्ति भाष्य और टीकायें की हैं। इन पाश्चात्य प्रथा के पथिक उभयविध विद्वानों के अतिरिक्त अत्यन्त निकट भूत और कतिपय वर्तमान संस्कृत के विद्वानों ने भी उसी पाश्चात्य प्रणाली के भक्तों के स्वर में स्वर मिलाकर उनकी ध्वनि को तार स्वर का रूप देने में संकोच नहीं किया। इनमें से प्रमाण और पर्यालोचन के विना ही कुछ एकाध मूर्धन्य मान्य मनीषियों ने यहाँ तक लिख मारा कि वर्तमान सांख्य सूत्र विज्ञानभिक्षु-कृत हैं। किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार के प्राचीन और नवीन होने में इन लोगों (पाश्चात्य शैली के अनुयायियों) का प्रबल प्रमाण एक मात्र यह युक्ति रहती है कि अमुक ग्रन्थ में अमुक व्यक्ति का नाम है और अमुक के सिद्धान्तों का उद्धरण है। अमुक में नहीं है। इसलिए कीर्तित और उद्धृत प्राचीन हैं। उद्धरणकर्ता व उसका ग्रन्थ उसके बाद का है। किन्तु ये युक्ति व तर्क प्राचीनता और नवीनता के एकान्त रूप से सर्वथा अव्यभिचारित निर्णायक नहीं है, प्रायिक हैं, कहीं पूरे रूप में लागू होते हैं कहीं अंशतः लागू होते हैं; अर्थात् किसी ग्रन्थ में ग्रन्थाकार की चर्चा न आने से वह ग्रन्थ (चर्चा न करने वाला) प्राचीन हो जाय जिसकी चर्चा न आई हो वह अर्वाचीन मान लिया जाय, यह नियम किसी के प्राचीनत्व और अर्वाचीनत्व का निश्चित निर्णायक नहीं बन सकता। इस अनेकान्तिक नियम का उदाहरण सांख्य के ही ग्रन्थों में देखा जा सकता है। जैसे कि सांख्य के सूत्रों पर अनिरुद्ध ने 'वृति' नाम की अपनी व्याख्या में कहीं पर भी सांख्य कारिका को उद्धृत नहीं किया है, नाम तक नहीं लिया है तो क्या कारिका ग्रन्थ अनिरुद्ध के बाद का कहा जा सकता है ? जब कि कारिका का निर्माण अनिरुद्ध से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका था। उसके ऊपर माठरवृत्ति आदि अनेक टीकाएं हो चुकी थीं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अद्वैत मार्ग के पोषक आचार्य अप्पयदीक्षित अपने ग्रन्थों में सर्वत्र सूत्र का ही उद्धरण करते है, तब तो पाश्चात्य प्रणाली के पोषक ऐतिहासिकों को अपने तर्कानुसार यह मानना पड़ेगा कि अप्पयदीक्षित के समय में कारिका ग्रन्थ नहीं था। उनके बाद ही उसका निर्माण हुआ क्योंकि उन्होंने सांख्य सूत्रों का उद्धरण दिया है प्रचलित और प्रामाणिक कारिका का नहीं। उक्त दृष्टान्त से मानना पड़ेगा कि ग्रन्थकार, भाष्यकार, टीकाकार आदि लेखक किसी ग्रन्थ का उद्धरण उसके प्रचार और अपने विभिन्न दृष्टिकोण के अनुसार करते हैं न कि उस विषय का सर्व प्राचीन ग्रन्थ मानकर। समान विषय के ग्रंथों में से किसी एक ग्रन्थ के उद्धरण या अनुद्धरण करने मात्र से ही उनमें परस्पर पौर्वापर्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि निश्चय किया जाय तो सांख्य कारिका और सांख्य सूत्र इन दो समान विषय के ग्रन्थों में से केवल सूत्र का ही उद्धरण करने के कारण कारिका ग्रन्थ अप्पयदीक्षित के बाद का मानना पड़ेगा क्योंकि अप्पयदीक्षित ने उसका उद्धरण नहीं किया। इससे सिद्ध है कि उद्धरण करने से केवल उसी ग्रन्थ के निर्माण का पौर्वापर्य का

निश्चय किया जा सकता है न कि उस विषय के सभी ग्रन्थों का। साथ ही ग्रन्थों के पौर्वापर्य से ग्रन्थ कर्ताओं के पौर्वापर्य का भी निर्णय नहीं किया जा सकता।

यह भी आवश्यक नहीं है कि समान विषयक ग्रन्थों में से अति प्राचीन ग्रन्थ के वाक्यों को ही उद्धृत किया जाय और अर्वाचीन में से न किया जाय एवं यह भी आवश्यक नहीं है कि समान विषय के सभी ग्रन्थों में से उदाहरण वाक्य लिए जाँय यह तो किसी भी लेखक के रुचि पर है कि वह समान विषय के प्राचीन व अर्वाचीन सभी ग्रन्थों से उद्धरण ले या किसी एक से ले।

जैसे अप्पयदीक्षित नें सांख्य सूत्रों को ही उदाहरण के रूप में लिया श्री शंकराचार्य ने केवल कारिका का ही उदाहरण दिया। इससे सिद्ध है कि भाष्यादि के लेखकों की जैसी रुचि होती है उसके अनुसार वे दूसरे ग्रन्थों के वाक्यों का उदाहरण देते हैं, किसी नियत सिद्धान्त के आधार पर नहीं। विभिन्न ग्रन्थों का लिखने वाला एक ही ग्रन्थकार अपने ग्रन्थों में विभिन्न लेखन शैली का अनुसरण करता है, इस कारण यह तर्क भी सांख्य सूत्रों को कारिका से अर्वाचीन सिद्ध करने में प्रमाण नहीं हो सकता कि "आचार्य शंकर ने जहाँ प्राचीन दर्शनों के उद्धरण में मूल सूत्र ग्रन्थ या प्राचीन ग्रन्थों के वाक्यों को ही लिया वहां सांख्य के विषय में सूत्र ग्रन्थ का उदाहरण न देकर सांख्य कारिका का ही उदाहरण दिया है इससे सिद्ध है कि कारिका ग्रन्थ प्राचीन हैं, सांख्य सूत्र ग्रन्थ (षडध्याय रूप सांख्यदर्शन) अर्वाचीन है इत्यादि।" स्वामी श्री शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में खण्डनार्थ परपक्ष को दिखाते समय उनके ग्रंथों से उद्धरण लेने में एक प्रकार की शैली को नहीं अपनाया हैं। वे कहीं पर मूल सूत्रों का ही उद्धरण देते हैं जैसे कि तर्कपाद के द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद के ११ वें सूत्र से प्रारम्भ परमाणु कारण वाद के निराकरण प्रकरण में। कहीं पर वे प्रसिद्ध मूल सूत्र ग्रंथ का उल्लेख नहीं भी करते हैं जैसे वेदान्त सूत्र द्वितीय अध्याय के द्वितीय सूत्र (एतेन योगः प्रत्युक्तः) में योग के लक्षण के लिये उन्होंने प्रसिद्ध पातंजल योग दर्शन में कथित योग लक्षण का उद्धरण न देकर "अथ तत्व दर्शनोंपायों योगः" यह ग्रंथान्तर का उद्धरण दिया है। कहीं पर वे परपक्ष का केवल सिद्धान्त ही दिखाते हैं उसके मूल ग्रंथ का एक भी प्रमाण वाक्य उद्धृत नहीं करते। जैसे कि वेदान्त सूत्र २ अध्याय २ पाद के १८ वें सूत्र से ३२ व सूत्र तक खण्डन के लिए बौद्ध दर्शन के सभी प्रकार के सिद्धान्तों का उपन्यास करते हुये उन्होंने किसी भी बौद्ध दार्शनिक आचार्य और उनके वाक्यों का उद्धरण नहीं किया। उनके उद्धरण न करने से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि बौद्ध दर्शन के वसुबन्धु, दिङ्नाग, नागार्जुन, धर्मकीर्त्ति आदि दार्शनिक आचार्य श्री शंकराचार्य के पहले नहीं हुये थे और उनका कोई ग्रन्थ नहीं था। जब कि वसुबन्धु आदि दार्शनिकों के रचे हुए अभिधर्म कोषादि बहुत से बौद्ध दर्शन के ग्रंथ आचार्य शंकर से सैकड़ों वर्ष पहले निर्मित हो चुके थे एवं वेदान्त सूत्र के २ अध्याय के द्वितीय पाद के ४२वें सूत्र से पाद की समाप्ति ४५वें सूत्र पर्यन्त भागवत मत का खण्डन करते हुए कहीं पर भी उन्होंने उक्त मत के वाक्यों को उद्धृत नहीं किया है केवल सिद्धान्त ही प्रतिपादित किया है, हाँ उस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य शाण्डिल्य का एक बार नामोल्लेख कर दिया है। तो क्या मान लिया जाय कि भागवत सम्प्रदाय का कोई ग्रंथ श्री शंकराचार्य के पहले नहीं था? केवल सिद्धान्त ही

प्रचलित था ? यदि था तो पाश्चात्य विवेचकों के अनुसार उस ग्रंथ का उद्धरण उनके सिद्धान्त दर्शाते समय देना चाहिए। इन सब विचारों से यह नहीं कहा जा सकता है कि 'स्वामी शंकराचार्य ने सांख्य सूत्रों का उद्धरण न देकर कारिका के वचनों को उद्धृत किया तो सांख्य सूत्र उनके वाद के हैं।' वस्तुतः सांख्य सूत्र उनके पहले के हैं, कपिल कृत ही हैं। आचार्य श्री शंकर ने अपने भाष्य ग्रंथ में परमत प्रदर्शन के बारे में ऊपर निर्दिष्ट विभिन्न प्रणालियों का आश्रयण किया है, तदनुसार ही उन्होंने कारिका का उदाहरण दिया है सांख्य सूत्रों का नहीं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उदाहरण देने में सिलसिलेवार उन्होंने एक निश्चित प्रणाली का आश्रयण नहीं किया है। क्रमशः

———

VEDIC AND UPANIṢADIC MYSTICISM

K. P. S. CHOUDHARY

Research Scholar, Deptt. of Philosophy

Mysticism is the realisation of the ultimate unity in diversity; and in recognising unity in diversity, it does not discard the diversity. For it, the One is Many, and the Many are One[1]. From this realisation of the ultimate unity arises the conviction that all things are but manifestations of One. Mysticism does prove of inestimable service to and is regulative inspirer of religion. It has been frequently alleged that mysticism is the sworn foe of religious life, because the mystical state is the state of passivity. But it is forgotten that the 'wise passiveness' to which mystics have in all ages testified is not a mere passive emotion, but is a state of intense fruition in which they draw, from the fountainhead of their being, that life and light which has always to be commandeered for active service. From the standpoint of our little finitude or our sense of separateness, the mystic is passive, but from the higher point of view this passivity is the greatest activity as the individual will is transmitted into the universal Will. The individual only 'dies to live'—breaks through the crust of an insular existence only to find himself in union with all. "The great mystic is to be conceived as an individual being, capable of transcending the limitations imposed on the species by its material nature, thus continuing and extending the divine action. Such is our definition"[2].

The mystics are the saints, sages, ṛṣis or 'a special tribe of seers'. A ṛṣi is one who has been divinely endowed with wisdom

[1] This idea finds an expression in the Vālakhilya of the Ṛgveda (VIII.58.2): "eka evā'gnir bahudhā samiddha, ekaḥ sūryo viśvam anu prabhūtaḥ, ekai"vo' ṣāḥ sarvam idam vibhāty, ekam vā idam vi babhūva sarvam."

[2] Henri Bergson: *The Two Sources of Morality & Religion*, Anchor Books, N,Y, 1935, pp. 220-21.

and vision. The word ṛṣi is explained as 'ṛṣiḥ darśanāt'—he is a seer because he has a vision. He is a 'mantradraṣṭā. The truths of the ṛṣis are the products of mystical intuition and unifying vision (dṛṣṭi)[1]. "Religious persons have often, though not uniformly, professed to see truth in a special manner. That manner is known as mysticism[2]". The mystics are men of 'direct vision', in the words of Yāska, "sākṣāt-kṛta-dharmāṇaḥ", and the records of their experiences are the facts to be considered by any philosophy of religion. Mysticism is the intuitive perception or direct realisation of the essential unity of all things. A mystic perceives everything in one act of perception. Even Bertrand Russell regards 'belief in unity' as one of the essential characteristics of mysticism[3]. All creaturely existence is experienced as an unity, as All in One and One in All. God is felt to be in everything and everything to exist in God. There is a consciousness of the oneness of everything. A mystic is one who has lost all sense of separate individuality and lives as the Self of all.

Since the earliest days of the Ṛgvéda, a tradition of mystic knowledge (Madhuvidyā) has been orally handed down, from father to son or from teacher to disciple. This tradition prepared the way for the rise of the other types of mysticism that subsequently sprang up in the soil of India. Like the mystic Aśvasttha tree, with its root above and the branches below, the Vedic tradition stands at the very source of almost all forms of Hindu mystical and spiritual cults.

---

[1] Radhakrishnan writes in the *Brahma-Sūtra* (1960), pp. 109-10 : "A seer is one who wraps himself in the mantle of seclusion closes the avenues of communion with the outside world, not to renounce his powers of sight, hearing and speech but to open the inner eye to spiritual realities, capture the sounds that come from the world above the ordinary one and sing in silence the hymn of praise to the Supreme Being."

[2] William James : *The Varieties of Religious Experience*, 1961, p. 298.

[3] "One of the most convincing aspects of the mystic illumination is the apparent revelation of the oneness of all things, giving rise to pantheism in religion and to monism in philosophy."—Mysticism and Logic, 1959, p. 18.

The Vedic mysticism may be called sacrificial or ritualistic simply and precisely because sacrifice (Yajña) is the dominating trend of the Vedic period[1]. The literal meaning of 'sacrifice' (Yajña) is the offering of material objects or mental thoughts to the deity, for the sake of one's own evolution and the good of the world. In the Védas the sacrifice has a great mystical significance. The Vedic ritualism is connected with practically all the important ideas and institutions of that time. It is connected with Ṛta (Moral Order), Creation, Devayāna, Pitṛyāna and so on. The concept of Ṛta is very important in as much as the Ṛgvedic ritualistic mysticism is guided by it. The various deities of the Ṛgveda are unable to proceed with their work unless assisted by the Ṛta. The Vedic ṛṣis, in their deepest mystical experiences, realised that all the finite and everchanging diversities constituting the cosmic order have as their ultimate source and substratum one, infinite and self-revealing Truth (Satya), which is immanent in and transcendent to them all and harmonised and governed by one spiritual principle Ṛta. Ṛta is the Eternal Law[2]. It is a social law. It is the law of social rites. It reigns everywhere. Ṛta and Satya are spoken of by the Ṛgvedic mystics as being 'born in the beginning of things out of perfect spiritual ardour[3]'. As Satya upholds the earth, so does Ṛta uphold the heavens[4]. Ṛta is synonymous with Dharma as an ethical concept. Ṛta, like Satya, forms an essential part of the concept of Divinity. A god is 'Ṛtavam', a goddess 'Ṛtavarī'. As on the moral plane Ṛta leads to the

---

[1] In *Śatapatha Brahmana*, sacrifice (*Yajña*) is variously identified with Prajāpati (Prajāpatir Yajñaḥ—ŚB. I.1.1.13, 5.2.17; III.2.2.4), *Brahman*, (*Brahma Yañaḥ*, ŚB. III.1.4.15), *Puruṣa* (Puruso vai Yajñaḥ, ŚB. I.3.2.1 III.5.3.1) and almost all other important deities such as agni (Agnir Yajñaḥ, ŚB. II.2.2.7), *Indra* (Indro Yajñasya ātmā, ŚB. IX.5.1.33), *Viṣṇu* (Yajño vai Viṣṇuh, ŚB. I..1.2.23; III.2.1.38) and even with Ātman; (Ātmā vai Yajñaḥ, ŚB. IV.2.1.7).

[2] "ṛtasya dṛḷahā dharuṇani santi purūṇi candrā vapuṣe vapuinṣi ṛtena dīrgham iṣaṇanta pṛkṣa ṛtena gāva ṛtam ā viveśa"—*Ṛgveda* IV.23.9.

[3] *Ṛgveda* X.110.1.

[4] *Ṛgveda* X.85.1.

triumph of good over evil, so on the cosmic plane it leads to the triumph of light over darkness. It is said of Indra that—

> "He, shining caused to shine what shone not, by Law (Ṛta) he lighted up the dawns. He moves with steeds yoked by Eternal Order (Ṛta), making man happy by the chariot-nave that finds the light"[1].

The Vedic Ṛta corresponds to the Zorastrian 'Asa' and Chinese 'Tao' which also mean Truth and Right; and the right way of the order of the universe respectively. It again corresponds to the 'universals' of Plato. The world of experience is a shadow or reflection of the Ṛta. In Ṛgvedic sacrificial mysticism, Ṛta may be regarded as a fact of the universe binding men and gods together. The mystic conception of an unchanging reality is seen for the first time in the concept of Ṛta.

In Ṛgveda we find innumberable hymns indicating the various types of mysticism. In one of the most famous hymns (I. 162) we have the description of "Aśvamédha Yajña" (Horse-sacrifice). Yajña has a deep allegorical significance; for example in the Ṛgveda horse stands for knowledge. Dadhyac,[2] a ṛṣi, gives out the highest knowledge, the madhuvidyā, with a horse's head. The Aśvins, the possessors of the horses, are also possessors of the highest knowledge. We read in one of the hymns (IX.1) of the Atharva-Veda :

> "The Aśvins' Honey-whip was born from heaven and earth, from middle air, and ocean, and from fire and wind. All living creatures welcome it with joyful hearts, fraught with the store of Amrit it hath gathered up. They call thee earth's great strength in every form, they call thee too the ocean's genial seed. Whence comes the Honey-whip bestowing beauty, there Vital Spirit is, and Amrit treasured."[3]

---

[1] *Ṛgveda* VI.39.4 (A.C. Bose's Trans.).

[2] Dadhyac is described as having had the head of a horse given to him by the Aśvins which *Indra* had threatened to cut off if he disclosed to any the mystic madhuvidya which is the knowledge of the true nature of Sōma. Dadhyac imparted this to Aśvins; and Indra thereupon cut off his head. With the bones of his head, it is said, Indra made thunderbolt.

[3] Griffith : *The Hymns of the Atharva-Veda*, Lond. 1895, Vol. I, p. 427.

The Aśvamédha Yajña, we think, may be interpreted in this way. The Aśva (mind is likened to a horse) is Amedhaḥ (impure or unbroken) in its early stages. As it journeys forth onward and upward, it reaches higher and higher levels of consciousness. The journey, though arduous and hazardous in the beginning, reveals and rewards in the end. It represents a transition from a lower to a higher state. When it reaches the summit, it ceases to be Amedhah and becomes medha (pure). Aśva and medhaḥ-Aśvamedhaḥ becomes a purified and well trained friend of the Ātman. The Āśvamedha-Yajña, therefore, is the sacrifice of the impurity of mind. This great sacrifice is necessary if the glorious ending in God is the aim and ambition of a jīvātmā for the simple reason that without purity of mind, perfect placidity of mind is unattainable; without perfect placidity of mind, peace of mind cannot be had; and without peace (śānti), happiness is a far cry. But when the sacrifice (Yajña) is accomplished, the beautiful charger, i.e., mind lies slain; and then the greatest destiny, the greatest good, the supreme goal, i.e. the union of jīvātmā with Paramātmā is attained.

It was Agni, who under the authority of Varuṇa, for the first time performed sacrifice. The main purpose of performing the sacrifice was to establish a feeling of fellowship between gods and men. So we may say that Yajña is a means of communion between gods and men; it is a means of binding gods and men together. Mysticism is, we may point out here, a passion for establishing a feeling of creative comradeship or spiritual fellowship between gods and men. The essential feature of the ritualistic mysticism of the Vedas is to establish this fellowship.

The Vedic Yajña and the Gītā :

The Vedic rituals have not lost their importance in the Gītā, where yajña has been interpreted in the Vedic way. The Gītā does not, like Buddhism, reject the significance of the yajña. Sarifice is the very condition of life. All works should be regarded as yajña. The working of the whole world is in its true nature a yajña, with the Divine Being as the enjoyer of all works or sacri-

fice."......sacrifice is born from work, work from brahman, brahman from the Akshara and therefore the all-pervading Brahman, sarvagatam brahman, is established in the seacrifice"[1] The Gītā thus does not deny the validity of the Vedic rituals; it rather admits that by these means one may get earthly and heavenly advantages. But it interprets Yajña as the sacrifice of all the life's energies and activities, with deep spiritual devotion, without desire or attachment, for God's sake and for the sake of the world (lokasaṁgraha)[2]. In the Gītā (III.9) it has been explicitly stated that all actions except the actions done for the sake of sacrifice lead to bondage (Yajñarthāt karmaṇo' nyatra loko'yam karmabandhanaḥ). One has to scacrifice one's petty egoistic self for the attainment of the highest. Śaṅkara's interpretation of Yajña is this that to know the conditioned self as identical with unconditioned Brahman is to sacrifice the self in Brahman. This may in true sense be called the Daiva-Yajña (God-Sacrifice).

Types of Vedic Mysticism :

In the Vedas we find the seeds of various types of sacrificial mysticism; for example, Daiva-Yajña, Tapo-Yajña, Yoga-Yajña, Dravya-Yajña and so on. In the Daiva-Yajña, one has to sacrifice one's self for the knowledge of Brahman. In the Yajña of Tapas (Tapo-Yajña), the fire of restraint is lighted and the senses or sensuous pleasures are the offering. In other words, a right enjoyment of sense-objects is compared

---

[1] Sri Aurobindo : *Essays on the Gītā*, p. 157.

[2] Rāmānuja, commenting on the ninth verse of the third chapter of the *Gītā*, points out that one who performs the rituals without any desire or motive attains self-realisation. As he puts it, "yajñādisāstrīyakarmaśeṣabhūtād dravyārjanādeh karmaṇah anyatra ātmīyaprayojanaśeṣabhūte karmaṇi kriyamāṇe ayam lokaḥ karmabandhano bhavati, ataḥ tvam yajñādyartham dravyārjanādikam karma samācara ; tatra ātmaprayojanasādhanatayā yaḥ saṅgaḥ tasmāt saṅhāt muktaḥ san samācara.

evam muktasaṅgena yajñādyarthataya karmaṇi kriyamāṇo yajñādibhih karambhih ārādhitaḥ paramapuruṣaḥ asya anādikālapravṛttakarmavāsanām samucchidya avyākulātmāvalokanam dadāti ityarthaḥ."

to a sacrifice in which the objects are the offering and the senses the sacrificial fire. Tapo-Yajña is, in fact, the austerity of mystic's self-discipline. And in the Yajña of Yoga (Yoga-Yajña) like the prāṇāyāma of the Rājayogins and Haṭhayogins, the vital functions are the offering into the fire of self-control. Again, in the Dravya-Yajña, the glorious lusture of the blazing fire, the sweet perfume of the burnt butter (ghṛta), the cooked offering in the form of cake, the crushed soma-rasa and all other materials of Yajña had direct and purifying spiritual effects on the minds of the sacrificers. Sri Aurobindo interpreting the Vedic Yajña says, "The fire of sacrifice, agni, is no material flame, but brahmāgni, the fire of the Brahman, or it is the Brahmanward energy, inner Agni, priest of the sacrifice, into which the offering is poured, the fire is self-control or it is a purified sense-action or it is the vital energy in that discipline of the control of the vital being through the control of the breath which is common to Rājayoga and Haṭhayoga, or it is the fire of self-knowledge, the flame of the supreme sacrifice."[1]

Thus the various types of sacrifices like Daivya-Yajña, Tapo-Yajña, Yoga-Yajña, or Dravya-Yajña are the seeds of the various types of sacrificial mysticism found and used allegorically here and there in the Vedas; and all these lead to a way towards the attainment of the highest common goal, i.e., mystic realisation of 'Tad Ekam' or 'Ekam sat'. From all this it is clear that the Vedic Yajña has a very wide connotation. And if the wider import, as has been seen, of Yajña is taken, Yajña must be accepted as the central and cardinal thing in the discipline for higher mystical life.

After having discussed the Vedic mysticism, we deem it relevant now to understand the Upaniṣadic mysticism in relation to the sacrificial mysticism of the Védas. The monism suggested in the Ṛgveda is developed into the full-fledged form of idealistic monism in the Upaniṣads which regard Ātman or Brahman as the ultimate reality. The Upaniṣads really continue the Vedic tradition, they return to the authority of the Vedic seers time and

[1] Sri Aurobindo : *op. cit.*, p. 162.

again for supplementation, confirmation and final approval of their experiences and go on to enlarge and develop what is already contained in the Vedas in germinal form. They represent the profound mystical experiences and truths perceived and lived by the Vedic ṛṣis. There may be a wide gap of time between the Vedas and the Upaniṣads; but there is no gap in the development of philosophy, religion and mysticism. There may be expansion and progress; but there is no departure from the central ideas of the Vedas. The Upaniṣadic doctrines of the immortality of soul, of mokṣa, being the fruit of jñāna, of the concept of one reality (tad ekam), of the concept of Ātman or Brahman, of the distinction between empirical self and transcendental self, of aparokṣānubhuti (mystical intuition), of the adhyātma-vidyā (self-knowledge)—all these are based on the Vedic doctrines. The Upaniṣads thus try to summarise and moralise the mysticism of the Vedas without disturbing its original content or central idea.

But from all this one should not be led to believe that there has not been any progress in the Upaniṣads beyond the Védas. In fact, the progress or advance of the Upaniṣads on the Vedas consists in an increased emphasis on the monistic trends of the Vedic hymns, a shifting of the centre from the outer to the inner world. Instead of the performance of bare rituals, meditation on prāṇa as Brahman is regarded as superior to all. We are reminded here of a passage in the Chāndogya Upaniṣad (V. 1.12) that so beautifully and convincingly establishes the ultimate supremacy of the prāṇa (vital breath). A conflict arose as to which of the sense-organs should be given the highest priority. Each claimed its own supremacy. The indispensability of the prāṇa proved its supremacy over other sense organs. One could live and function, however, inadequately and incompletely it may be, without nose, without eyes, without the sense of hearing, without tongue, without hands, feet etc., but one could not live and function without prāṇa. This recognition of the superiority of prāṇa brings into prominence the importance of

meditation on inward spirit in the mystical doctrines of the Upaniṣads.

The Brāhmaṇical idea of sacrifice is transformed in the Upaniṣads into altogether a new conception of sacrifice, that of a mental sacrifice which is helpful to the acquisition of spiritual knowledge. Sacrifices, in the days of the Upaniṣads, began to be replaced by 'tapas' or meditations. The Bṛhadāraṇyaka Up. opens with an account of the horse-sacrifice (aśva-medha yajña) and interprets it "as a meditative act in which the individual offers up the whole universe in place of the horse, ...In every homa the expression svāhā is used which implies the renunciation of the ego, svatvahanana."[1]

In the Bṛh. Up., instead of a horse-sacrifice the whole universe is conceived as a horse and is meditated upon as such. The dawn is the head of the horse, the sun is the eye, wind is its life, fire is its mouth and the year is its soul, so on and so forth.

Thus as we go from the Vedic period to the Upaniṣadic, there is a 'transference of interest from God to Self'. In other words, we may say that "as we pass from the Vedas to the Upaniṣads, we pass from prayer to philosophy, from hymnology to reflection, from henotheistic polytheism to monotheistic mysticism."[2] This change or transference of interest of the philosophical position from the objective to the subjective comes as a matter of direct realisation or intuitive perception. When we say all this we do not mean to state that the sages of the Upaniṣadic period have made an absolute departure from the central ideas of the Vedas. What we do maintain is that there is only a change of emphasis or interest from the outer to the inner world. The subtle philosophical ideas implicit in the Vedic hymns are

[1] Radhakrishnan: *The Principal Upanisads, Lond.* 1963, pp. 49-50.

The true import of *Yajña* is to give away our possessions in gifts to the needy, and finally, to dedicate even ourselves for the upliftment of others. This is the feeling of renunciation expressd by the word '*svāhā*'. The essence of sacrifice is to offer to the deities the things one greatly values.

[2] Ranade: *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, p. 3.

enlarged or enriched in the Upaniṣads. Even the Vedic ritualism is not exclusively given up, rather it has been interpreted for the realisation of the highest goal.[1] As a matter of fact, it is nowhere stated in the Upaniṣads that sacrifices are not efficacious. It has only been said that performance of sacrifices cannot be the highest aim of human life, because after attaining heaven by sacrifices, one has to be born again in this world. This is, of course, quite different from saying that sacrifices are not efficacious. They say that the sacrifices should be performed not with a view to being able to enjoy the pleasures in heaven but in order to purify and tranqullise the mind, because without such purification of the mind, the true knowledge, the knowledge of Brahman (Brahma-Jñāna) cannot be obtained.

It is true that in the Muṅḍaka Up. (I.2.7-8) there is an attack on ritualism. Sacrificial forms are described as "Unsafe boats". "Plavā hy ete. aṛḍha yajña-rūpā." Here 'unsafe boats' is evidently used in contrast with the Vedic claim that the ritual is a 'heavenly ship' (daivīm nāvam)[2]. In the Ṛgveda (X. 63.10) it has been clearly stated that the heavenly ship, well-oared, faultless, unleaking will lead to the attainment of bliss. "Daivīm nāvam svaritrām anāgasam, astravantim ā ruhemā svastaye"[3]. The heavenly ship implies the ritual which, faultlessly performed, is expected to take the worshipper across the sea of sufferings. The special effect of the ritual is that it creates an atmosphere of holiness and bliss. The elements of the outer sacrifice in the Vedas are used as symbols of the inner sacrifice. It gives the sacrificer a means of raising himself to the divine level and realising a condition in which he will no longer have to die. Its correct performance regulates the progress of the world. The sacrifice is thus a cosmic operation—a process for the total transformation of the world. The Muṅḍaka Up. criticises rituals only when they are performed for the sake of worldly

[1] "In the Upaniṣads we find a combination of the element of the worship of the Divine in the forest with the Vedic sacrifices. Ritualism was not given up". History —of Philosophy : Esstern and Western, Vol. I, edit. by Radhakrishnan, p. 33.

[2] *Ṛgveda :* X. 63. 10.

[3] *Ibid.*

pleasures. Such sacrifices, it calls, inferior (avaram), because it is devoid of knowledge. In the same upaniṣad (I.2.9) it has been clearly asserted that the deluded, living in the abyss of ignorance, think that they have accomplished their aim. Those who perform rituals with attachment (yat karmiṇo na pravedayanti rāgāt tenāturāh kṣīṇalokās cyavante), they sink down when the fruits of their merits are exhausted. It is now clear that the Muṇḍaka Up. criticises only 'rāgāt-yajña'; it does not criticise the yajña when done with detachment or for self-discipline. The Ṛgveda (VIII.70.3) itself declares that rituals done with attachment cannot lead to the attainment of Indra, the praised of all[1]. The Ṛgveda (X.12.8) says that one should sacrifice everything for the sake of God and for man's sake. The highest or supreme sacrifice is self-sacrifice for a noble cause. The ṛṣi Bṛhaspati chose not immortality for man's sake and Yama gave up his own dear body to find a path for mortal men from this world to another.

> "devebhyaḥ kam āvṛṇīta mṛtyuṃ prajāyai kam
> amṛtaṃ nāvṛṇita Bṛhaspatiṃ yajñam akṛṇvata ṛṣim
> priyāṃ yamas tanvaṃ prārirecit[2]."

In the Ṛgveda it is said that creation proceeds from Yajña. "Of the Yajña that the shining Ones prepared with Puruṣa as the oblation, Spring was the butter, summer the wood and autumn the offering[3].

The unwise man, says the Ṛgveda, obtains foodgrains to little purpose, for it is as good as his death. He feeds neither a friend nor a comrade. And one who eats all by himself sins all by himself[4]. It has been very clearly mentioned in the Ṛgveda

[1] "nakiṣṭam Karmaṇā naśad
yaś cakāra sadāghṛdham
indram na yajñair viśvagūtram ṛbhvasam
adhṛaṣṭam dhṛṣṇvojasam".

[2] *Ṛgveda :* X. 12. 8.

[3] "yat puruscṇa havisā deva yajñam atanvata, vasanto asyā" sīd ājyam grīṣma idhamsh sarad haviḥ". *Ṛgveda :* XI. 90. 6

[4] "mogham annam vindate apracetāh sstyam bravīmi vadha itsa tasya, nā 'aryamaṇam puṣyati no sakhāyam kevalāgho bhavati kevalādī". *Ṛgveda :* X.177.6.

that the evil-doers (duṣkṛtaḥ) are not fit for performing the sacrifices. They will not be allowed to move in the path of Ṛta (Eternal Law). "Ṛtasya panthānam na taranti duṣkṛtaḥ[1]." No ritual is of any worth unless the person performing it comes with a pure body, a pure heart and a clean life. These considerations reveal plainly that the elements of the ritualistic cult found in the Védas are quite efficacious; the mystical tradition as prevalent in Vedic times finds its wider scope in the philosophy of the Upaniṣads.

From all that has been said it is clear that the ritualistic mysticism of the Vedas, in its inner sense, is an upward journey, a pilgrimage and a travel towards the attainment of Infinite or the highest Truth. The Ṛgvedic mystics, through their mystical fervour of devotion and contemplation, realise the ecstatic feeling of the immence of the divine in every sentient creature. They perceive the Truth (Tad Ekam or Ekam Sat) and have a vision of unruffled beatific consciousness, bedecked with the full Ray of the Light 'that never was on sea and land'. Their mystical unifying vision, their spiritual radiancy of joy, their depth of metaphysical reflection, their keenness of intuitive penetration and their deep conviction do not leave a trace of doubt that the Vedic ṛṣis have established a sufficient claim to be heard. Vedic mysticism has always been the cream and core, the guiding spirit and shaping force of all later mysticism that thrived on Indian soil. In the Atharvaveda (XIII.4.16), we have "na dvitīyo na tṛtīyaś caturtho nā py uccyaté, na pañcamo na ṣaṣṭhaḥ saptoma nāpy uccyaté. nā ṣṭamo na navamo daśamo. sa eṣa eka ekavṛd eka eva, sarve' smin devā ekavṛtto bhavanṭi." It would be no exaggeration to say that all later Advaitic thought is the elaboration of this unifying vision of the Vedic seers. India is revealing today this intuitive unifying vision of the Vedic ṛṣis, the vision that will liberate man into the Truth, Freedom and Blissful higher existence, which it is his divine destiny to attain as the very goal and consummation of his life on earth.

——

1 *Ṛgveda :* IX.73.6.

प्रायश्चित्ततत्त्वम्

विश्वनाथ शास्त्री

संस्कृत महाविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रायश्चित्त का तात्पर्य है—पाप का विशोधन करने वाला कर्म। प्राय का अर्थ है—'पाप' और चित्त का तात्पर्य है—'विशोधन'। जिसके द्वारा पाप की शुद्धि होती है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।[१] स्मृति में कहा गया है कि "प्रायः पापं समुद्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्" जिसका तात्पर्य है--पाप का शोधन करने वाला कर्म ही प्रायश्चित्त की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। पाप को नष्ट करने में साधनभूत कर्म ही प्रायश्चित्त है।[२] हारीत का भी मत है कि अशुभ का नाश करने से ही इस कर्म को प्रायश्चित्त कहा जाता है।[३] महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार शरीर के मल को जल दूर करता है और अग्नि के प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार दान एवं तपस्या के द्वारा सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।[४] इस कारण पापक्षयमात्र में साधन होने से विधिवोधित कर्म को प्रायश्चित्त कहते हैं।[५] विष्णु ने कहा है कि बड़े-बड़े पापी भी अश्वमेध यज्ञ करने से शुद्ध हो जाया करते हैं।[६] उसकी दूसरी व्युत्पत्ति बतलाते हुए अङ्गिरा ऋषि ने कहा[७] है कि 'प्राय' का तात्पर्य 'तप' से है, और 'चित्त' का अर्थ 'निश्चय' से है। इसलिए तप एवं निश्चय से युक्त ही प्रायश्चित्त कहलाता है। यह जो निश्चय है, उसका अर्थ पापक्षयसाधनत्व से है। इन पापों का तात्पर्य वैदिक प्रतिपाद्य अनर्थों से है।[८] ये

---

[१] "प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्।"

[२] प्रायस्य तपसः चित्ताम् निश्चय इति। "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" ६।१।१५७ इत्यत्र "प्रायस्य चित्तिचित्तयोः" इति वार्तिकोक्त्या 'सुट्' निपात्यते च। "पापक्षयसाधनं कर्म्म।"

[३] "प्रयतत्वाद्वोपचितमशुभं नाशयतीति प्रायश्चित्तम्।" हारीतः। यत्तपः प्रभृतिकं कर्म्म उपचितं सञ्चितमशुभं पापं नाशयतीति क्रत् तत्द् कर्मभिः कर्तुः प्रयतत्त्वाद्वा शुद्धत्वादेव तत् प्रायश्चित्तम्।" यथा पुनर्हारीतः—
"यथा क्षारोपस्वेद चण्डनिर्णोदनप्रक्षालनादिभिर्वासांसि शुध्यन्ति एवं तपोदानयज्ञैः पापकृतः शुद्धिमुपयान्ति।" शुद्धिं पापक्षयम्।

[४] "अद्भिर्गात्रात् मलमिव तमो ह्यग्निभयाद् यथा। दानेन तपसा चैव सर्वपापम-पोहति।" महाभारते।

[५] "पापक्षयमात्रसाधनत्वेन विधिबोधितं कर्म प्रायश्चित्तम्।"

[६] "अश्वमेधेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे।"
इति **विष्णूक्तस्याश्वमेधस्यापि प्रायश्चित्तत्वम्।**

[७] "प्रायोनाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चय संयुक्तं प्रायश्चित्तमितिस्मृतम्।"

[८] "निश्चयसंयुक्तंपापक्षयसाधनत्वेननिश्चितमित्यर्थः। पापन्तु वैदिकप्रतिपाद्योऽनर्थः।"

अनर्थ अनिष्ट के साधन हैं। पाप के कारणों को बतलाते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि वेद-विहित कर्म का अनुष्ठान न करने, निन्दित कर्मों का सेवन करने तथा इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य पतन को प्राप्त होता है।[1] कौन-कौन सा पाप करने से कौन कौन अवस्थाएँ मिलती हैं—इसे बतलाते हुए मनु ने कहा है कि शरीर से उत्पन्न कर्मदोष से मनुष्य स्थावरता को प्राप्त होता है, वाणीगत पाप करने से पक्षी एवं मृग की योनियों को तथा मानस-पाप करने से अन्त्यजजातिता को प्राप्त करता है। कोई इस लोक में पाप करने से तथा कोई पूर्व योनियों में पाप करने से रूपविपर्य्यय को प्राप्त करते हैं।[2] मनु ने यह भी बतलाया है कि सुरापान, ब्रह्महत्या, गोवध, सुवर्णस्तेय, गुर्वङ्गनागमन करने वाले तथा इनके संसर्ग में रहने वाले लोग सभी नरक में गिरते हैं।[3] इन पाँचों को महापातक कहा जाता है।[4]

प्रायश्चित्त के माहात्म्य का निर्देश करते हुए अङ्गिरा ऋषि ने बतलाया है कि जिस प्रकार आदित्य उदित होकर सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट करते हैं, उसी प्रकार यह प्रायश्चित्त कर्म सभी पापों को दूर करके कल्याण प्रदान करता है।[5] इस प्रकार प्रायश्चित्त को कल्याण स्वरूप भी माना गया[6] है। यह आवश्यक कर्त्तव्य है। यम ने बतलाया है कि जिस प्रकार भोग करने से कर्म नष्ट होते हैं और तपस्या के द्वारा अन्त में अन्तःकरण शुद्ध होता है वैसे ही विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त भी विशुद्धि के लिए करने चाहिए।[7] प्रायश्चित्त की अर्हता को बतलाते हुए मनु ने कहा है कि विहित कर्म को न करने, निषिद्ध कर्म को

---

[1] "विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।"
—याज्ञवल्क्यः।

[2] "शरीरजैः कर्म्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥
इह दुश्चरितैः केचित् केचित् पूर्व्वकृतैस्तथा।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्य्ययम्॥" मनुः।

[3] "सुरापो ब्रह्महा गोघ्नः सुवर्णस्तेयकृन्नरः।
पतितैः संप्रयुक्तश्च कृतघ्नो गुरुतल्पगः।
एते पतन्ति सर्वेषु नरकेष्वनुपूर्वशः।" **यमः।**

[4] "ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः तत्संसर्गश्च पञ्चमः।"

[5] "उद्गच्छन् यद्वदादित्यस्तमः सर्व्वं व्यपोहति।
तद्वत् कल्याणमातिष्ठन् सर्व्वं पापं व्यपोहति।
पापञ्चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्महाभ्रैरिव चन्द्रमाः।"

[6] "कल्याणं प्रायश्चित्तम्।"

[7] "तपसोऽन्ते विशुध्यन्ति कर्म्मणां वा परिक्षयात्।
तस्मात् कर्तव्यमेतैस्तु प्रायश्चित्तं विशुद्धये।" **यमः।**

करते तथा इन्द्रियों के अर्थों में अत्यन्त प्रसक्त होने से मनुष्य को प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[१] अज्ञानपूर्वक अथवा ज्ञानपूर्वक यदि कोई निन्दित कर्म हो जाय तो उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए दूसरी बार पुनः वही कार्य नहीं करना चाहिए।[२] प्रायश्चित्त की नित्यता, नैमित्तिकता तथा काम्यता को बतलाते हुए जाबालि महर्षि ने बतलाया है कि काम्य कर्मों की सफलता के लिए तथा दोषों को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त की स्थिति होती है, इसलिए इसे काम्य तथा नैमित्तिक दोनों का सहायक मानते हैं। अतः विशुद्धि के लिए भी नित्य प्रायश्चित्त का आचरण करना चाहिए।[3] ज्ञान द्वारा करने से अथवा अज्ञान में हो गये निन्दित कर्मों के कारण ही प्रायश्चित्त में भेद प्रदर्शन किया जाता है।[४]

इस विषय में अङ्गिरा ऋषि का कथन है कि यदि कोई पाप बुद्धि पूर्वक जानकारी रखते हुए किया जाय, तो उसका प्रायश्चित्त द्विगुणित हो जाता है।[५] परिषद् किस प्रकार की होनी चाहिए, इसका निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि २१ संख्या वाले मीमांसा एवं वेदशास्त्र के पारंगत विद्वानों की जो वेद के साथ ही उसके अङ्गभूत शास्त्रों के विषयों से भी पूर्ण परिचित हों, बनानी चाहिए।[६] ऋषियों का कथन है कि यदि लघुकार्य है तो छोटी, मध्यम हो तो मध्यम और यदि महापातक हो, तो उसे और बढ़ा देनी चाहिए।[७]

यदि कोई व्यक्ति प्रायश्चित्त का ज्ञान रखते हुए भी उसका पूर्णतः निर्देश नहीं करता है, तो वह भी दोष का भागी होता है।[८] यदि दोष का भागी व्यक्ति अशक्त हो, तो उसके साथ अनुग्रह किया जा सकता है, ऐसा पराशर का मत है।[९] किन्तु यदि प्रायश्चित्त

---

[१] "अकुर्व्वन् विहितं कर्म निषिद्धन्तु समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः।" **मनुः।**

[२] "अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्।" **मनुः।**

[3] "काम्यानां सफलार्थञ्च दोषघातार्थमेव च।
काम्यं नैमित्तिकञ्चैव प्रायश्चित्तमिति स्थितिः।
चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
निन्द्यैश्च लक्षणैर्युक्ता जायन्ते निष्कृतैनसः।" **जाबालः।**

[४] "ज्ञानाज्ञानकृतपापयोः प्रायश्चित्तभेदः।"

[५] "अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः।
स्यात्वकामकृते यत्तु द्विगुणं बुद्धिपूर्वके।" **अङ्गिराः।**

[६] "एकविंशतिसंख्याकैर्मीमांसावेदपारगैः।
वेदाङ्गकुशलैश्चैव परिषत् संप्रकल्पयेत्।" **अङ्गिराः।**

[७] "एषा तु लघुकार्य्येषु मध्यमेषु तु मध्यमा।
महापातकिशोध्येषु शतशो भूय एव वा।" " "

[८] "आर्त्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजाः।
जानन्तो न प्रयच्छन्ति तेऽपि तद्दोषभागिनः।"

[९] "दुर्बलेऽनुग्रहः कार्य्यस्तथा वै शिशुवृद्धयोः।
अतोऽन्यथा भवेद्दोषस्तस्मान्नानुग्रही भवेत्।"

को बतलाने वाला व्यक्ति स्नेहादि के कारण किसी के साथ अनुग्रह करता है, तो उसे दोष का भागी भी बनना पड़ता है।[1] वृद्ध, बालक, स्त्री तथा रोगियों के साथ कुछ अनुग्रह किया जा सकता है।[2]

पाप का प्रायश्चित्त किस प्रकार होगा, इसका निरूपण करते हुए महाराज मनु ने कहा है कि तपस्या, अध्ययन, अनुताप, ख्यापन तथा दान इत्यादि करने से पाप दूर होता है।[3] यह अध्ययन, तपस्या तथा दान अनुकल्प कहा जाता है।[4] यह हिंसा से अतिरिक्त प्रायश्चित्तों के लिए है; किन्तु हिंसा में तो दान ही मुख्य है। भविष्यपुराण में कहा गया है कि सभी हिंसात्मक कार्यों के लिए मनीषियों ने प्रायश्चित्त के लिए दान करने की प्राथमिकता दी है।[5] मनु भी इसका समर्थन करते हैं।[6] सामान्य प्रायश्चित्त के लिए हिरण्यदान, गोदान, भूमिदान आदि का विधान मिलता है।[7] यम का मत है कि शरीर का शोषण करने से, तपस्या तथा अध्ययन करने से दान तथा इन्द्रियों के विषयों का दमन करने से पाप दूर हो जाता है।[8] विष्णुपुराण में कहा गया है कि प्रायश्चित्त तपस्या आदि कर्मों के करने से भी यदि पूरा न हो, तो उसे (पाप को) दूर करने के लिए कृष्ण का स्मरण सर्वोत्तम मार्ग है।[9] यम ने बतलाया है कि देवपूजा, वेदाभ्यास, पुण्यसरिताओं में स्नान इत्यादि महापातकजन्य पापों को दूर करते हैं।[10] महाभारत में बतलाया गया है कि यदि सैकड़ों पाप करके भी कोई गंगा में स्नान कर लेता है; तो गंगाजल उसके पाप को उसी तरह नष्ट

---

१ "स्नेहाद्वा यदि वा लोभात् मोहादज्ञानतोऽपि वा।
कुर्वन्त्यनुग्रहं ये तु तत् पापं तेषु गच्छति।"

२ "अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः।
प्रायश्चित्तार्द्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च।"

३ "ख्यापनेनानुतापेन तपसाध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि।" **मनुः।**

४ "आपदीत्यनेन अध्ययन तपसोर्दानमनुकल्प इत्युक्तम्।"

५ "हिंसात्मकानां सर्व्वेषां कीर्त्तितानां मनीषिभिः।
प्रायश्त्तिकदम्बानां दानं प्रथम उच्यते।" **भविष्ये।**

६ "दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन्।
एकैकशश्चरेत् कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये।" **मनुः।**

७ "हिरण्यदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि।"

८ शोषणेन शरीरस्य तपसाध्ययनेन च।
पापकृन् मुच्यते पापात् दानेन च दमेन च।" **यमः।**

९ "प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्म्मात्मिकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्।" **विष्णुपुराणम्।**

१० "गवाह्निका देवपूजा वेदाभ्यासः सरित्प्लवः।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि।" **यमः।**

कर देता है, जैसे अग्नि तूलराशि को।[१] शास्त्रों में जिन विभिन्न प्रकार के व्रतों का विधान किया गया है, वे भी पाप को दूर करने वाले तथा शुद्धि के कारण हैं। यथा—चान्द्रायणादि व्रत शुद्धि और अभ्युदय के कारण[२] है। प्राजापत्य, सान्तपन, शिशुकृच्छ्र, पराक, अतिकृच्छ्र, पर्णकृच्छ्र, सौम्यकृच्छ्र, महासान्तपन, तप्तकृच्छ्र, जलोपवास कृच्छ्र, ब्रह्मकृच्छ्र प्रभृति जितने व्रतोपवास हैं; वे समस्त अथवा इनमें से कोई एक भी पापों को दूर करते हैं।[३] विशुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत किया जाता[४] है। शिशुचान्द्रायण और यतिचान्द्रायण इत्यादि का भी विधान किया जाता है। जो पाप प्रकाश में हों; उनको दूर करने के लिए व्रतों का अनुष्ठान ही उत्तम[५] है। रहस्यकृत पापों के लिए जपादि किया जाता है[६]। प्राजापत्य का विधान करते हुए मनु बतलाते हैं कि ये व्रत आविष्कृत पापों को दूर करके शुद्धि प्रदान करते हैं। अनाविष्कृत पापों की शुद्धि मंत्र तथा होम से होती है।[७]

प्रायश्चित्त का विधान करते हुए हारीत ने बतलाया है कि चाहे कोई राजा हो, राजपुत्र हो अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण हो, उसे केश वपन करके ही प्रायश्चित्त करना चाहिए[८]। यदि कोई व्यक्ति केश रखकर ही प्रायश्चित्त करता है, तो उसे द्विगुणित व्रत करना होता[९] है। द्विगुणित व्रत करने पर उसकी दक्षिणा भी दूनी होती[१०] है। विद्वान्, विप्र, राजा, स्त्री को केशवपन की आवश्यकता नहीं है। सधवा स्त्रियों के लिए विशेष निर्देश

---

[१] "यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम्।
सर्व्वं दहति गंगाम्भस्तूलराशिमिवानलः।" **महाभारते।**

[२] "कृच्छ्रं चान्द्रायणदीनि शुद्ध्यभ्युदयकारणम्।" **विश्वामित्रः।**

[३] "प्राजापत्यः सान्तपनः शिशुकृच्छ्रः पराककः।
अतिकृच्छ्रः पर्णकृच्छ्रः सौम्यः कृच्छ्रातिकृच्छ्रकः।
महासान्तपनः शुद्ध्यै तप्तकृच्छ्रस्तु पावनः।
जलोपवासकृच्छ्रश्च ब्रह्मकूर्च्चस्तु शोधकः।
एते समस्ता व्यस्ता वा प्रत्येकमेकशोऽपि वा।
पातकादिषु सर्व्वेषु पापकेषु प्रयत्नतः।" **विश्वामित्रः।**

[४] "कार्य्याश्चान्द्रायणैर्युक्ताः केवला वा विशुद्धये।
शिशुचान्द्रायणं प्रोक्तं यतिचान्द्रायणं तथा।"

[५] "प्रकाशकृते पापे व्रतानि मुख्यानि।"

[६] "रहस्यकृते जपादीनि।"

[७] "एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैस्तु शोधयेत्।" **मनुः।**

[८] "राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः।
केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्।" **हारीतः।**

[९] "केशानां धारणार्थन्तु द्विगुणं व्रतमाचरेत्।"

[१०] "द्विगुणे तु व्रते चीर्णे द्विगुणा दक्षिणा भवेत्।"

[११] "विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम्।
ऋते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः।"

करते हुए देवभट्ट ने बतलाया है कि नारियों का वपन नहीं किया जाता। न तो उन्हें जपादि करना चाहिए और न तो उन्हें गोष्ठ (गोशाले) में शयन ही करना चाहिए[१]। स्त्रियों के लिए सभी केशों को छोड़कर केवल अग्रभाग से दो अंगुल केश काटने का विधान मिलता है। सभी स्थलों में स्त्रियों के शिरः मुण्डन-स्थल पर इसी प्रकार का विधान किया गया है[२]। धेनु के मूल्य की व्यवस्था करते हुए बतलाया गया है कि जो प्राजापत्य व्रत करने में अशक्त हों, उन्हें पयस्विनी गौ देनी चाहिए[३]। धेनु के अभाव में उसका यथोचित मूल्य देना चाहिए[४]। बछड़े के सहित गाय का दान करना मुख्य पक्ष[५] है। उसके अभाव में उस सवत्सा गौ का यथोचित मूल्य दिया जाय। प्राचीन काल में गौ का मूल्य ३२ ताम्रपर्ण माना गया था। वत्स का मूल्य एक "पुराण" माना जाता था। यह मत महर्षि कात्यायन का है[६]। प्रायश्चित्त करने के अनन्तर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए[७]। सभी प्रकार के कृच्छ्रों के आरम्भ में और समाप्ति पर आज्य के द्वारा शालाग्नि में आहुतियाँ पृथक्-पृथक् देनी चाहिए[८]। व्रत के अन्त में श्राद्ध करना चाहिए; साथ ही गौ, हिरण्य, तथा अन्न इत्यादि दक्षिणा में देना चाहिए[९]। प्रायश्चित्त करने के बाद गाय को यवस देना चाहिए[१०]; उसे अपने सिर पर रखकर ले आना चाहिए; यदि यवस को गाय प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर लेती है, तब समझना चाहिए कि प्रायश्चित्त सफल हो गया। अतः उस व्यक्ति के साथ पूर्ववत् व्यवहार करना चाहिए। यदि न ग्रहण करे तो समझना चाहिए कि अभी प्रायश्चित्त पूर्ण नहीं हुआ[११]; अभी पाप किसी अंश में विद्यमान है। उन पापियों का संग्रह नहीं करना चाहिए; जिनमें पाप विद्यमान हैं, उनके संसर्ग से संसर्गी पुरुष भी पाप के भागी बन जाते हैं।

---

१ "वपनं नैव नारीणं नानुव्रज्या जपादिकम्।
न गोष्ठे शयनं तासां न च दद्याद्गवाजिनम्। देवभट्टः।

२ "सर्वान् केशान् समुद्धृत्य छेदयेदंगुलिद्वयम्।
सर्वत्रैवं हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम्।"

३ "प्राजापत्यव्रताशक्तो धेनुं दद्यात् पयस्विनीम्।"

४ "धेनोरभावे दातव्यं तुल्यं मूल्यं न संशयः।"

५ "सवत्साया एव दानं मुख्यम्। तदभावे यथोचितं मूल्यम्।
तदसम्भवे पुराणत्रयम्।"

६ "द्वात्रिंशत्पणिका गावो वत्सः पौराणिको भवे-
दिति कात्यायनवचनात्।"

७ "क्रियते शुद्धये यत्तु ब्राह्मणानान्तु भोजनम्।"

८ "आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशषतः।
आज्येनैव हि शालाग्नौ जुहुयादाहुतीः पृथक्।"

९ "श्राद्धं कुर्य्याद् व्रतस्यान्ते गोहिरण्यान्नदक्षिणम्।"

१० "प्रायश्चित्तानन्तरं गोभ्यो यवसं दद्यात्।"

११ "स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्यात् यदि
ताः प्रमुदिता गृह्णीयुरथैनं प्रवर्त्तयेयुः। एनं
कृतप्रायश्चित्तम्। इतरथा न। (क्रमशः)

खड़ी बोली में काव्यारम्भ

विद्या गुप्त
महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

द्विवेदी-युग हिन्दी काव्य-साहित्य का क्रान्ति युग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सजग प्रतिभा ने काव्य के जिन उपेक्षित क्षेत्रों के प्रति संकेत मात्र किया था, द्विवेदी जी ने उन्हें अपनी काव्य साधना का विशिष्ट क्षेत्र बनाया। भारतेन्दु जी ने खड़ी बोली की पुकार उस समय सुनी थी जब हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का निर्द्वन्द्व साम्राज्य था; खड़ी बोली उसकी प्रतिद्वन्द्विता में खड़े होने का साहस भी न कर सकती थी। भारतेन्दु जी ने खड़ी बोली की इस दीन दशा को गद्य के क्षेत्र में उचित स्थान देकर गौरव प्रदान किया। खड़ी बोली का गद्य-साहित्य उनके समय में अपना सर्वाङ्गीण विकास कर रहा था। स्वयं भारतेन्दु जी ने जितने व्यापक दृष्टिकोण को लेकर खड़ी बोली में गद्य-साहित्य प्रस्तुत किया, उसे देखकर आश्चर्य होता है। ऐसे महान प्रतिभाशाली और शक्ति सम्पन्न भारतेन्दु जी भी खड़ी बोली को काव्यभाषा न बना सके। उनके मंडल के कवियों ने खड़ी बोली में काव्य सर्जन के स्फुट प्रयास समय समय पर किए, भारतेन्दु जी ने भी जब तब खड़ी बोली को अपने भाव-सुमन अर्पित किए किन्तु उन्होंने यह अनुभव किया कि खड़ी बोली काव्य-भाषा के अनुपयुक्त है, उसमें ब्रज भाषा का लोच और माधुर्य नहीं है। वह अपने स्वभाव का 'खरापन' छोड़ सकने में असमर्थ है और उन्होंने निराशा पूर्वक कहा—

"मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरी चित्तानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम है।"

अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में उनका कथन है—"तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छन्द में इस भाषा [खड़ी बोली] का काव्य अच्छा होगा कविता लिखी है। मेरा चित्त इसमें सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ, इस भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुधा असुविधा होती है।"

गद्य और पद्य की भाषा एक हो, यह प्रश्न भारतेन्दु काल के लेखक और कवियों के सामने आ चुका था, प्रयोग चल रहे थे, पर कवियों के मानस पर अभी ब्रज माधुरी का ही आधिपत्य था। राज-राजेश्वरी की गरिमा से वह वहाँ प्रतिष्ठित थी। गद्य के क्षेत्र में अवश्य ही उसका वह मान न रहा था, वहाँ खड़ी बोली प्रतिष्ठित हो चुकी थी। गद्य और पद्य की दो भाषा बन गई थी, कवि और लेखक बिना किसी मानसिक क्षोभ की अनुभूति किए गर्व से सोचने लगे कि यह उनकी साहित्यिक समृद्धि का प्रमाण है कि वह दो दो भाषाओं पर अधिकार रखते हैं। एक स्थल पर श्री प्रतापनारायण मिश्र ने सगर्व लिखा है—

"दूसरे देशवाले केवल एक ही भाषा से गद्य-पद्य दोनों का काम चलाते हैं। हमारे यहाँ एक गद्य की भाषा है, एक पद्य की।"

किन्तु समय और परिस्थितियाँ बदलती गयीं। वही कारण जो पहले गर्व की उद्भावना करते थे अब कवियों और लेखकों को लांछन से लगने लगे। आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र में दृढ़ता और साहस से कार्यारम्भ किया। जो कुछ भारतेन्दु जी को असंभव प्रतीत हुआ था वही द्विवेदी जी के जीवन का स्वप्न और साधना बन गया। उनके सतत प्रयासों से यह स्वप्न सत्य में परिवर्तित हुआ और अब कविगण अनुभव करने लगे कि खड़ी बोली काव्य के सर्वथा उपयुक्त है। श्री श्रीधर पाठक मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे किन्तु उन्होंने यह अनुभव किया कि "गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिए उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा नें हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।" उन्होंने खड़ी बोली काव्य के विरोधियों को चेतावनी दी कि—"यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी बोली हिन्दी कविता के उपयुक्त नहीं है।"

इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली की सत्ता स्वीकृत हुई, वह काव्य-भाषा मान ली गई पर अब उसके सामने प्रश्न था ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्दिता का। काव्य के क्षेत्र से ब्रजभाषा का आधिपत्य भले ही उठ गया किन्तु अब भी काव्य रसिकों के हृदय का हार वही थी, खड़ी बोली को साहित्य-क्षेत्र में उचित सम्मान न मिला था। द्विवेदी जी ने उसे यह सम्मान प्रदान कराने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। खड़ी बोली को केवल काव्य-भाषा ही नहीं, राष्ट्र-भाषा बनाने का भी महत्वपूर्ण उद्देश्य उनके समक्ष था। भारतेन्दु जी से प्राप्त 'निज-भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल', उक्ति को मूलमन्त्र रूप में ग्रहण कर उन्होंने इसके महत्तर और वृहत्तर स्वरूप को जनता के सम्मुख रक्खा—

भारत भर की एक राष्ट्र भाषा हो जावे
जो हम सब में खूब परस्पर मेल बढ़ावे।
यह अभिलाषा पूर्ण हमारी करने वाली—
हिन्दी ही है परम पूज्य गुणवती निराली।
छात्रो! उसके साहित्य को सब प्रकार उन्नत करो
उसके पुस्तक भंडार को सद्ग्रन्थों से तुम भरो।

—सरस्वती फरवरी १९१५

राष्ट्र-भाषा का न होना किसी भी सभ्य देश के लिए लज्जा की बात है, यह भावना इस समय के, मुख्यतः द्विवेदी जी से प्रेरणा प्राप्त कवियों के हृदय में कसकने लगी। सरस्वती के द्वारा जहाँ द्विवेदी जी ने राष्ट्र-भाषा को माता से भी अधिक पूज्य घोषित किया वहाँ गुप्त जी ने देश की चरम अवनति की सूचक राष्ट्र-भाषा के अभाव पर खेद पूर्वक लिखा—

'है राष्ट्र-भाषा भी अभी तक देश में कोई नहीं' [सरस्वती फरवरी १९०५] काव्य-भाषा और राष्ट्र-भाषा के महत्व को जन मन तक पहुँचानें के लिए गद्य-पद्य दोनों

माध्यमों से प्रचारात्मक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। अंगरेजी और संस्कृत साहित्य की समृद्ध स्थिति से प्रभावित विद्वन्मंडली से द्विवेदी जी ने साग्रह अनुरोध किया—

इंग्लिश का ग्रन्थ समूह बहुत भारी है
अति विस्तृत जलधि समान देह धारी है
संस्कृत भी सब के लिए सौख्यकारी है
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है
इन दोनों में से अर्थ रत्न ले लीजै
हिन्दी के अर्पण इन्हें प्रेम युत कीजै।

इस सदुपदेश का आंग्लभाषा और संस्कृत के प्रेमियों के लिए कोई मूल्य न था। ऐसे आर्यभाषा द्रोहियों की भर्त्सना करने से भी कविगण चूकते न थे। यह तिरस्कार भाव कभी तो अन्योक्ति या रूपक पद्धति द्वारा और कभी खुले वाक्य प्रहारों द्वारा होता रहा। 'हृतभागिनी' हिन्दी में भागवत सिंह शर्मा ने आक्षेप पूर्वक कहा—

भाषण लिखन निज मातृभाषा
में निरा अपमान है।
मान दायिनि म्लेच्छ भाषा
बस यही अनुमान है।
मित्र के शुभ आगमन में
बन्दगी करते सप्रेम।
शृगाल सी आकृति बना
गुडमानिं करना है नेम।

[मर्यादा फरवरी १९१५]

इसी विचार को अधिक संयत स्वर में अन्य कवि ने प्रकट किया—

लाद पराए धर्म का संकट भार अतोल।
तोता पिंजड़े में पड़ा, बोल मनुज के बोल।

[शंकर-अनुरागरत्न]

इस प्रकार लेखों द्वारा, कविताओं द्वारा द्विवेदी जी और उनके अनुयायी लेखक राष्ट्र-भाषा के प्रचार में लीन थे। खड़ी बोली काव्य-भाषा पद पर आसीन हो चुकी थी। अब दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य खड़ी बोली काव्य क्षेत्र के निर्धारण का था। 'कवि-कर्त्तव्य' नामक अपने निबन्ध में द्विवेदी जी ने काव्य-क्षेत्र क्या हो?—इस सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत दिया 'यमुना के किनारे केलि-कौतुहल का अद्भुत अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के गतागत की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत-सभी पर कविता हो सकती है।"

द्विवेदी जी का दृष्टिकोण आदर्शवादी था अतः शताब्दियों से शृंगार की रीतिबद्ध सरिता में डुबकियाँ लगाते, नायिका भेद की गुत्थियाँ सुलझाते, विप्रलम्भा खंडिता, कलहान्त-

रिता, सौन्दर्यगर्विता आदि नायिकाओं के पाँव पखारते हुए इन कवियों से उन्हें विरक्ति थीं, यही नहीं पराधीन देश की दरिद्र जनता को अब मूँगे-मोतियों से सज-सँवर बन-बीथियों में, कूलों कद्दारों पर निर्बाध विहार करने वाली, नीति-धर्म और सामाजिकता को तिलांजलि देने वाली अभिसारिकाओं की अथवा मंजुल काम-निकेतनों में क्रीड़ा-रत प्रेमियों की आवश्यकता न थी। ऐसी रचनाएँ अप्रासंगिक एवं असामयिक थीं—

मंजुल निकुञ्जन में मंजुल महल मध्य,
मोतिन की झालरें किनारिन में कुरविंद।
आइगे तहाँ ज्यों पदमाकर पियारे कान्ह,
आनि जुरि गयो त्यों चबाइन के नीके बृन्द।

किसी समृद्ध देश की जनता ही मुक्ता-मंडित महलों में रासलीला करने वाली इन रूपसियों से मन बहला सकती होगी। दारिद्रय में आकंठ निमग्न, भग्नहृदय, विदेशी शासन से पीड़ित प्रजा को इन मिथ्या स्वप्नों की आवश्यकता न थी। अत: पथ-भ्रान्त साहित्यिकों की चेतना की बहुमुखी जाग्रति के लिए जिस शंखनाद की आवश्यकता थी वह द्विवेदी जी जैसे कर्मठ व्यक्ति द्वारा ही संभव था। यही कारण था कि नीति-उपदेश परक काव्य की जैसी बाढ़ इस युग में आई वैसी साहित्य के क्षेत्र में अन्यत्र दुर्लभ है। "गिर जाता है गर्त में जब जो उन्नत देश, ऊँचा करते हैं उसे तब ऊँचे उपदेश।" उक्ति सिद्धान्त-वाक्य बन गई :

उपदेशात्मकता के लिए अर्थ-गोपनीयता तो अभिप्रेत हो ही नहीं सकती अत: काव्य-क्षेत्र में अभिधा का अटल राज्य स्थापित हुआ और लक्षणा-व्यंजना उपेक्षित हो काव्य से बाहर हो गईं। उत्साही कवि गद्यवत् तुक बन्दियों में जातिगत्. धर्मगत्, साहित्यिक और राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं को सुलझाने लगे। वे कभी तो समाज में फैली कुरीतियों के विरुद्ध स्वर ऊँचा कर कहते—'न रंडी बुलाकर नचाया करो,' तो कभी पारस्परिक फूट से उद्विग्न हो 'एक से है एक को द्वेषत्वता छाई हुई' कहते सुनाई पड़ते, कभी एक ही साँस में 'उपदेश-कुसुम' की माला पाठक के कंठ में पहना देते—

ईश भजैं नर नारि पतिव्रत
ध्यान सनातन धर्म धरेंगे
सत्य दया हिरदै बिच लावहिं
दीनन को उपकार करेंगे
देश हितै करि एक मतै
पर स्वारथ सों नहिं नेक टरेंगे

[इंदु कला १ किरण ५ उपदेश कुसुम]

सामाजिक जीवन की आधार-भित्ति नारी के आदर्श क्या हों ? इस प्रश्न पर भी प्रकाश डाला गया। द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' में उत्कृष्ट कवियों द्वारा आदर्श नारियों के जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं उनका मूल भाव है—नारी का पति-प्राण होना। द्विवेदी जी ने अपनी रचना 'प्रियम्वदा' में लिखा—

सीखा चित्र बनाना इसने
करके कौशल नाना इसने,
ना और पढ़ाना इसने
पति का चित्त चुराना इसने।

गुप्तजी ने भी 'कुल कन्या अघ से डरती हैं, एक बार ही वर वरती हैं' के साथ 'घर में सबको भाती हैं यह, पति का चित्त चुराती है यह' लिखा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-जीवन और उसके कार्य-क्षेत्र तथा कर्तव्य की अथ-इति घर की सीमा के ही अन्दर थी। उसके जीवन की चरम सार्थकता पति का चित्त चुराने की दक्षता मात्र है, गृहिणी, मन्त्री, एकान्त सखी, अतिकान्ता से आगे उसकी गति नहीं।

राजनीति के क्षेत्र में अभी कोई स्पष्ट और सुदृढ़ विचार धारा न बन पाई थी अतः कभी तो कवि गण ब्रिटिश राज्य की सराहना करते—

इन्द्रासन पर बैठ इन्द्र ने, इन्द्र प्रस्थ पर प्यार किया,
प्रभुता पाय जार्ज पञ्चम ने, सुख सागर संसार किया।

[शंकर-अनुराग रत्न]

और कभी कहते—

नियम अन्याय मय तोड़ो यही कर्तव्य है सच्चा,
महात्मा गांधी का संग करो कटिबद्ध हो मित्रो।

राजनीति के क्षेत्र में विचारों की अस्थिरता, स्वदेश और स्वदेशी की भावना से गांधी जी द्वारा चलाये स्वदेशी आन्दोलन द्वारा पुष्ट हो रही थी और 'भाषा, भोजन, भेष, भाव' से अंगरेजों का दीन अनुकरण करने वाले साहित्यिकों की दृष्टि में हेय ठहर रहे थे। नेकटाई को लक्ष्य कर कवि की उक्ति है—

तुझे कंठ में देखकर बँधता है यह ध्यान।
बन्दी अपने हाथ से, हुई भरतं-सन्तान।
× × × × ×
गले लिपट तू कह रही मानों वचन भविष्य।
ढाँकेंगे तन अन्त में, तुझसे तेरे शिष्य।"

[पथ पुष्पावली-पृष्ठ ८१]

एक अन्य कवि ने स्वदेशी वस्त्र निर्माण के लिए पाठक से प्रार्थना की—

लीजे विमल कपास को उटवा चर्खी बीज,
धुनका कर रहँटे चढ़ा, तार महीने खींच,
तार महीने खींच वस्त्र कर पहनो बुनकर,...

राजनीतिक विचारों में जो राज-भक्ति का स्वर 'वृटिश नाम जपते' मर मिटने का आग्रह लेकर मुखरित हुआ था वह जातीय भावनाओं और देश भक्ति के भाव से ओजस्वी हो 'जय स्वदेश' 'हमारा देश', 'भारतवर्ष', 'मेरे देश' के गीत गाने लगा और लोकमान्य तिलक का सिंहनाद 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार हैं' कवियों की विचार-

धारा को उत्तेजना देने लगा। 'मेरे देश' शीर्षक कविता में श्री मनोरंजन प्रसाद सिंह ने भारत-माता की दीन-हीन छवि की चर्चा करते हुए स्वराज्य प्राप्ति की अदम्य आकांक्षा प्रकट की—

ले स्वराज्य ही हम दम लेंगे
या कर देंगे जीवन शेष। [मर्यादा जुलाई १९१७]

सैद्धान्तिक क्षेत्र में प्रशस्त विचारभूमि प्रस्तुत करने के साथ ही द्विवेदी जी ने छन्द-विधान में भी परंपरित प्रणालियों के अवरुद्ध घेरे से निकल नवीन प्रयोगों के लिए कवियों को प्रेरणा दी। इस समय तक भारतेन्दु काल की तीन छन्द प्रणालियाँ प्रमुख रूप से प्रचलित थीं—हिन्दी के कवित्त-सवैया की प्रणाली, उर्दू छंदों की प्रणाली और लावनी का ढंग। [हिन्दी साहित्य इतिहास—रा. च. शुक्ल] द्विवेदी जी ने उर्दू, बंगला और अंगरेज़ी के साथ संस्कृत के वर्णिक छन्दों से प्रेरणा लेने के लिए कवियों से आग्रह किया। उमर खैयाम की 'रुबाइयों' के अनुवाद के साथ 'मुसद्दस' शैली में गुप्त जी ने 'भारत-भारती' की रचना की। अंगरेजी के 'सॉनेट' छन्द के आधार पर चतुर्दशपदी छन्द प्रचलित हुआ। 'ग्रे' की 'एलेज़ी' के आधार पर शोक गीत लिखे गए। बंगला से कवियों को 'मुक्त छंद' और 'पयार' की प्रेरणा मिली। स्वयं द्विवेदी जी का झुकाव संस्कृत के वर्णवृत्तों की ओर था जो सन् १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित 'हे कविते' शीर्षक कविता से प्रमाणित है। यह अतुकान्त वर्णिक छन्द में है। इस प्रकार खड़ीबोली में तुकान्त के आग्रह की समाप्ति हुई और श्रीधर पाठक से लेकर कन्हैयालाल पोद्दार, देवी प्रसाद 'पूर्ण', सत्यशरण रतूड़ी, हरिऔध जी आदि अनेक कवियों ने इस परम्परा को प्रवहमान रक्खा। आगे चलकर रायकृष्ण दास जयशंकर प्रसाद, मुकुटधर आदि कवियों ने भी इस परम्परा में उत्कृष्ट रचनाएँ की। प्रसाद जी की रचना 'प्रेमपथिक' और हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' ने अतुकान्त वृत्त को खड़ी बोली के काव्य क्षेत्र में मान्यता और प्रतिष्ठा प्रदान की। वर्णवृत्तों के अतुकान्त सोन्दर्य ने सवैया और कवित्त की कला बाजियों को दिखलाने वाले कवियों के मुँह मलिन कर दिए और दोहे चौपाइयाँ लावनियाँ इधर-उधर सिर धुनने लगीं। छन्द-क्षेत्र में इन नए प्रयोगों ने विद्वान साहित्यिकों तक को विस्मित कर दिया। द्वितीय हिन्दी सम्मेलन के सभापति पं बालकृष्ण भट्ट ने अपने भाषण में कहा था—'आजकल छन्दों के चुनाव में भी लोगों की अजीब रुचि हो रही है। इन्द्रवज्रा मन्दाक्रान्ता शिखरिणी आदि संस्कृत के छन्दों का हिन्दी में अनुकरण हममें तो कुढ़न पैदा करता है। इस समय कुछ पद्य रचना रसिक हिन्दी में अतुकान्त काव्य की भी चेष्टा कर रहे हैं। दो एक इस क्रम की कविताएँ जो अबतक पत्रों में प्रकाशित हुई हैं भद्देपन का नमूना हैं।'

एक अज्ञात लेखक ने 'खड़ी बोली की कविता, लेख में अपने विचार उग्रता पूर्वक प्रकट किए—

"पद्य रचना के क्षेत्र में जब तक ब्रजभाषा का आधिपत्य था, तब तक छन्द शास्त्र भी था, व्याकरण, रस और अलंकार भी थे। किन्तु खड़ी बोली का प्राधान्य होते ही एक गदर सा मच गया,। एक तूफ़ान सा आ गया, न व्याकरण की क़दर रह गई, न छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र की ही जरूरत समझी गई।" अब जिसका जैसा बोलने को

जी चाहता है वह वैसा ही बोल उठता है। बरसात के दिनों में किसी सरोवर में मण्डूक मण्डली जैसा कोलाहल मचाती है, ठीक वैसी ही दशा इस समय हिन्दी कविता की हो रही है। भाषा का कोई आदर्श नहीं रह गया। जो जैसी भाषा जानता है, उसे ही वह आदर्श मान बैठा है। जिसे न व्याकरण बोध है, न छन्द शास्त्र का ज्ञान है, न रस और न रीति से परिचय है और न भाषा पर जिसका अधिकार है, वह भी कवि शिरोमणि, कवि रत्न, कवि सम्राट, कविवर उपाधियों से लदा हुआ अपनी टूटी फूटी तुकबन्दी के बेसुरे आलाप से आसमान सिर पर उठाये हुए है। सैकड़ों हजारों कवि सम्राट एक साथ बोल रहे हैं, कोई किसी की सुनता नहीं। साहित्य में खास खास रसों के लिए खास खास छन्दों का निर्देश किया गया है, किन्तु हिन्दी के कवि सम्राट या तो इसे जानते नहीं या जानकर मानते नहीं। इसीसे कोई तो भुजंग प्रयात में रो रहा है और कोई द्रुतविलम्बित में युद्ध कर रहा है, कोई शार्दूल विक्रीडित में विलाप कर रहा है तो कोई मन्दाक्रान्ता में रौद्र रस भर रहा है।"

[सरस्वती-जलाई १९२६]

उपर्युक्त विचार विवादास्पद हैं क्योंकि संस्कृत के पिंगल ग्रन्थों में भी छन्द और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ऐसा कोई निर्दिष्ट विधान नहीं है। इस विषय पर पहले भी आलोचक विचार कर चुके थे और इस विषय के क्षेमेन्द्रकृत् 'सुवृत्ततिलक' के आधार पर निर्णय कर चुके थे कि क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित नियमों का संस्कृत में भी पालन नहीं हुआ। क्षेमेन्द्र के अनुसार वंशस्थ में राजनीति होनी चाहिए पर पंडितराज जगन्नाथ ने इसे करुण रस के अनुकूल माना है। विलाप के लिए वैतालीय या वियोगिनी का प्रयोग बहुधा होता था किन्तु नैषधकार ने इसी छन्द में कुशलता पूर्वक पुर वर्णन किया है।

भाषा सम्बन्धी आक्षेप "जो जैसी भाषा जानता है, उसे ही वह आदर्श मान बैठा है" अंशतः सत्य है। क्योंकि इस काल के विद्वान् कवियों के लिए भाषा साधन मात्र थी, साध्य नहीं। विषयानुकूल अथवा आवश्यकतानुकूल भाषा के रूप परिवर्तन की सामर्थ्य उनमें थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने संस्कृत-समास गुम्फित पद शैली से लेकर सरलतम हिन्दी में रचनाएँ कीं। लाला भगवान दीन, पं० रामचरित उपाध्याय, राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा 'शंकर' जैसे उद्भट विद्वान् खड़ी बोली काव्य-रचना में प्रवृत्त थे अतः भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का कारण अल्पज्ञता या असामर्थ्य न होकर प्रयोगकालीन अस्थिरता मात्र थी। कभी कभी सतर्कता के अभाव के कारण भी भाषा की यह शिथिलता काव्य में स्थान पा जाती थी। द्विवेदी जी जैसे आचार्य भी क्रियापदों के प्रयोग में विशेष सावधानी नहीं रखते थे और 'रुचि पूर्वक दोल **बढ़ाय** रही,' 'अनुराग अपार **जगाय** रही,' जैसी पद रचनाएँ करने लगते थे। निश्चय ही 'बढ़ाय, जगाय' जैसे प्रयोग वांछनीय न थे।

क्रिया पदों के समान ही कभी-कभी अन्य व्याकरण-दोष भी दृष्टिगोचर होते थे। जैसे—

मेघों ने मिल प्रथम बिन्दु को अतिशय उच्चस्थान दिये।
किन्तु क्रूरता से फिर तत्क्षण उसे वहाँ से पतित किये।

[इंदु-कला ४, खंड २,]

तुकान्त के आग्रह के कारण वचन और क्रिया पद में व्याकरण दोष आया है। इसी प्रकार सर्वनामों के प्रयोग में भी अस्थिरता दिखलाई पड़ती है। जैसे—

बस अन्य का उपकार करना ही तुम्हारा काम है।
परहित रते अतएव तेरा नाम जग अभिराम है।

भाषा की शुद्धता के पक्षपाती और गद्य के क्षेत्र में भाषा के रूप की स्थिरता और व्यवस्था प्रदान करने वाले आचार्य द्विवेदी पद्य के क्षेत्र की इस अव्यवस्था को कैसे सह सके ? यह प्रश्न निश्चय ही उठ सकता है। किन्तु ध्यान से देखा जाय तो जिस प्रचुर परिमाण में काव्य सर्जन हो रहा था उसके अनुपात में यह दोष नहीं के बराबर हैं।

"रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" का आदर्श खड़ी बोली में अभी प्रतिष्ठित न हो सका था। खड़ी बोली के व्यापक प्रसार का लक्ष्य लेकर, इसे जन-जन तक पहुँचाने के लिए, नगर और प्रान्त की परिधि तोड़कर राष्ट्रभाषा पद पर आसीन करने के लिए जिस सर्व बोधगम्य भाषा की आवश्यकता थी—वह 'ग्रन्थ-गुण-गान' की भाषा ही थी। जनता की सदियों से बेसुध चेतना को जगाने के लिए, वर्तमान स्थिति से अवगत कराने के लिए 'अखबार' जैसी रचनाओं का भी महत्त्व था —

तुम से इक विनती है यार,
कभी कभी देखो अखबार। [इन्दु, कला १ किरण १]

इस प्रकार जहाँ नीति-परक, उपदेश-परक, कर्त्तव्याकर्तव्य के विवेचन से पुष्ट खड़ी बोली में काव्य-निर्माण हो रहा था वहाँ सरिता के विशाल वक्षस्थल पर लहराती लघु उर्मियों के क्रीड़ा-विलास के समान भावपूर्ण कोमल-क्रान्त पदावली भी धीरे-धीरे अपना विकास कर रही थी। पं० श्रीधर पाठक का प्रकृति-प्रेम, पं० रामनरेश त्रिपाठी के प्रेम और कर्तव्य के मध्य संघर्ष जन्य प्रेम-प्रबन्ध [पथिक, स्वप्न] गुप्त जी के भक्ति-परिप्लावित हृदय की 'झंकार'—'स्वर न ताल केवल झंकार' निश्चय ही खड़ीबोली के मन-प्राणों को झंकृत करने लगे थे और द्विवेदी जी का 'अर्थ सौरस्य' का सिद्धान्त भावात्मक तरलता की गंगा में डुबकियाँ लगाने लगा था। 'सनेही' जी की पौराणिक आख्यानों पर लिखी 'शय्या-विलाप', 'बन्धु-वियोग' जैसी रचनाएँ रागात्मक अनुभूति के साथ अनुभावों के चित्रण में भी सचेष्ट हुईं। उदाहरणतः—

हुआ जब युद्ध में बेहोश भाई, उड़ी तब राम के मुख पर हवाई।
जलद मद हर मुखाम्बुज मंजु नीला, पलक भर में हुआ छवि हीन पीला।
रुधिर गति देह में रुक सी गई फिर, व्यथित हो देह कुछ झुक सी गई फिर।
सजल जल जात दृग दुख देख ऊबे, युगल खंजन विकल जल बीच डूबे।
[सरस्वती फरवरी १९१६]

अब कविता के क्षेत्र में लक्षणा और व्यञ्जना पुनः अपना स्थान ग्रहण करने लगी थीं। सर्वश्री मुकुटधर पांडेय, बदरीनाथ भट्ट, सियारामशरण गुप्त आदि कवि दार्शनिक चिन्तन, राष्ट्रीय भावना और दीन-दलित वर्ग की दुःख गाथाओं को कविता का विषय बनाने लगे थे। अब कविता कोरी इतिवृत्तात्मक न रह गयी थी। सौन्दर्य-चित्रण की स्थूल और आलंकारिक प्रणाली भी अधिक सांकेतिक और सरल हो चली थी।

नख-शिख वर्णन की स्थूल परम्परा, जिसमें उपमानों के ढेर लगाये जाते थे अधिक सुरुचि पूर्ण, विचार संगत और सार्थक रूप ग्रहण करने लगी थी। अतः 'बोलो इन अखियों की होड़ करने को अब कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे' जैसा परम्परागत रूढ़ रूप 'जो सत्कवि की एक पंक्ति सी सुन्दर थी सदर्थ से प्राणित' में परिवर्तित हो चला था और आगे चल कर रीतिकालीन मुखर सौन्दर्य 'लाज भरे' 'मौन सौन्दर्य' की गरिमा गई मादकता से आसिक्त हो उठा।

प्रकृति-चित्रण में भी दृष्टिकोण बदलने लगा और परम्परा से प्राप्त प्रकृति-वर्णन की तीन प्रणालियाँ—नाम मात्र गिनाने की, उपदेशात्मकता की और आलंकारिक, नए नए मार्गों और अभिव्यक्ति के अधिक आकर्षक रूपों में बदलने लगीं। अब 'कोकिला, चण्डूल, चातक, चक्रवाक, चकोर; शुक, कपोत, महोक, मैना, लाल, मुनिया, मोर' अथवा 'दिन के अनन्तर रात, निशि के अनन्तर प्राप्त' जैसी निर्जीव, अरोचक रचनाएँ रुचिकर न रहीं। इनमें प्रकृति-सौन्दर्य से परिप्लावित प्राणों का संग न था; प्रकृति के स्वच्छन्द सौन्दर्य की मूर्छना न थी। प्रकृति से कवि के रागात्मक सम्बन्ध को जोड़ने की प्रवृत्ति सर्वप्रथम श्री श्रीधर पाठक में दिखायी पड़ी और धीरे-धीरे प्रकृति मानव-भाव सापेक्ष हो नित नूतन साज-सज्जा से कवियों के मन-प्राणों को आलोड़ित करने लगी। 'पल पल परिवर्तित प्रकृति वेष' वाली यह मुग्धा चंचला अनेक मूर्त-अमूर्त उपमान-विधानों द्वारा हृदय की वस्तु बन गयी और 'प्रिय की सुधि सी ये सरिताएँ' 'मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल' जैसी उक्तियाँ कवियों को ही नहीं पाठकों को भी रस मग्न करने लगीं। खड़ीबोली का प्रकृति काव्य अब विश्व-साहित्य के प्रकृति-काव्य से होड़ लगाने लगा।

सन् १९०१ से १९२० तक की काव्य-साधना द्वारा खड़ीबोली ने अब अपने को इतना समर्थ और सशक्त बना लिया कि वह तृण, तरु, पात से लेकर विश्वजनीन भावों को अभिव्यक्ति प्रदान कर सकती थी। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना से परिपुष्ट, माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण से परिभावित उसके गीत-खग काव्याकाश में 'जहाँ तक गई नील झंकार' और 'स्वर्ग की परियों का संसार' कलरव करने लगे। ब्रजभाषा की माधुरी में पगे कवि जिनकी 'अंखियाँ मधु की मक्खियाँ' हो रहीं थीं इस नवीना के लाल-लोचनों के लास्य से चकित और भ्रमित होने लगे। खड़ीबोली की काव्यनायिका 'कोमलता में बल' खाने लगी। उसका शिल्प अब इतना निखर चुका था कि छायावाद की अमूर्त, अतीन्द्रिय, स्वप्निल भावनाओं को साकार कर सके। द्विवेदी जी द्वारा प्रवाहित खड़ी बोली की काव्य सरिता सिंधु के अगाध विस्तार में परिवर्तित हो चुकी थी। समस्त सन्देहों, तर्कों और आक्षेपों का निराकरण हो चुका था और द्विवेदी जी द्वारा देखा गया स्वप्न अपनी निर्दिष्ट परिधि से आगे बढ़कर नेत्रोन्मीलन करने लगा था।

———

SATIRE IN HUXLEY'S NOVELS OF POST-WAR I DECADE

S. M. PANDEYA

Dept. of English

There is a striking resemblance between Huxley's novels of the nineteen-twenties and T.L. Peacock's *Nightmare Abbey* and *Crotchet Castle*, Norman Douglas's *South Wind*, and D. H. Lawrence's *Women in Love*. It is in fact Thomas Love Peacock, that scholar satirist of the first half of the nineteenth century, who provided a model of satire for his twentieth century counterparts. The influence of his technique can easily be detected in their satirical novels. It is a simple trick of assembling in a house and round a dinner table a number of personages who are merely so many points of view, and then allowing them to talk their heads off. Under one roof the oddities assemble, dine and dispute, and pass the bottle. In *Nightmare Abbey*, the fictional counterparts of Shelley and his circle meet and, through their behaviour and discussions, expose the absurdities of their literary fashion; while in the equally absurd chapters of *Crotchet Castle*, the grim economists and the "march of mind" are satirized. They are the plotless chronicles of the time. In his plotless novel, *South Wind*, Norman Douglas, too, adopts the Peacockian trick, and brings together on an island in the Mediterranean a curious set of eccentrics, blackmailers, drunkards, wantons, hedonists, duchessess, archeologists, and volunteer exiles of every description, who all lead disreputable lives and profess perverse opinions, and in whose midst the blameless Bishop of Bampopo has to spend a fortnight. Full of disquisitions on art, ethics, politics, mythology, and the deplorable state of the world, this brilliantly witty novel is a suitable vehicle for its author's satirical comments on society and morals. It was published in 1917, and the young Huxley must have read it with admiration. D. H. Lawrence's *Wo-*

men in Love, though a novel with a plot, has quite a few essentially Peacockian satirical scenes, such as the house-party at Breadalby attended by the Cambridge philosophers, the M.P.'s, and the industrialists on whom the novelist pours his vials of comtempt. Their conversation brings out their corrupt points of veiw.

Thus a literary form for Huxley's satire—the form of the discussion nòvel—was already established by Peacock and Douglas, and in some respects by D. H. Lawrence, too. Speaking about the influence of *South Wind* on subsequent novels of social satire, G.U. Ellis says :—

> It is difficult to think of any novel, before the publication of *South Wind*, that was quite like so many which appeared after it.
>
> Structure, story, plot, all vanished, together with heroes, villains, heroines, love, and marriage. In their place was a general rhythm of arrangement to replace structure, and, for the rest, just a pleasaunce, akin to the garden of Boccaccio, wherein nothing mattered that happened outside.[1]

All this is true of Huxley's discussion novels of the nineteen-twenties, in which the plot is negligible or non-existent and the action consists in the clash of contrary opinions. The setting is chosen merely to account for the presence together of a group of intellectual eccentrics, each representative of a point of view. The character of each person is implied in the ideas of which he is a mouthpiece and which are debunked and are used to debunk others.

What Philip Quarles says in *Point Counter Point* about the musicalization of fiction and the novel of ideas[2] is largely true of the satirical technique of Huxley's discussion novels. The musicalization of fiction can be achieved, according to Quarles, by abrupt transitions and alterantions of themes.

[1] G. U. Ellis, *Twilight on Parnassus* (London, Michael Joseph Ltd. 1939), p. 206.

[2] Aldous Huxley, *Point Counter Point* (New York, Avon, n.d.), p. 306.

This requires a sufficiency of characters and parallel, contrapuntal plots. Modulations and variations involve a reduplication of situations and characters, i.e., dissimilars solving the same problem, or, similar people confronted with dissimilar problems. This technique enables the novelist to modulate through all the aspects of his theme and write variations in any number of different moods. Another way to modulate is to consider the events of the story in their various aspects—emotional, scientific, economic, religious, metaphysical, etc. Talking about the novel of ideas, Philip Quarles says: "The character of each personage must be implied, as far as possible, in the ideas of which he is a mouthpiece. In so far as theories are rationalizations of sentiments, instincts, dispositions of soul, this is feasible."[1] Quarles also suggests the technique of putting novelists inside the novel, which Huxley has done time and again. Situations, characters, and ideas consitute parts of Huxley's contrapuntal technique of satire, which is, as Clark says, "a symphony in discord."[2] The contrapuntal makes Huxley's technique much more subtle and complicated than Peacock's, Douglas's, or Lawrence's, and gives it its peculiar character.

And this is exactly the technique that suited Huxley's peculiar talent for satire influenced and moulded by both heredity and environment. Born on July 26, 1894, he is the third son of Dr. Leonard Huxley—teacher, editor, and man of letters—and of Julia Arnold, niece of the poet, Matthew Arnold, and sister of the novelist, Mrs. Humphrey Ward. Julian Huxley, the scientist, is his eldest brother; and he is the grandson of T.H. Huxley, the scientist; and the great grandson of Dr. Arnold, the moralist. The period of his youth coincided with the war and his early maturity with the insecure and unprosperous peace. Owing to failing eyesight, he could neither complete studies for the career of a doctor nor participate in the conventional activities of English gentlemen. This left him with

[1] Aldous Huxley, Point Counter Point (Newyork, Avon, n.d.) p. 307.

[2] Arthur Melville Clark, *Studies in Literary Modes* (London, Oliver and Boyd, 1946), p. 33.

a lasting bent for the reflective life and an emotional aloofness which have been "the source of other strengths—the sad clearness of vision, the colossal intellectual vitality, the corrosive spirit of analysis— which give his talent its special character and luster."[1] Asked by the *Little Reviw* what he really disliked, he said that he was unsociable, parties bored him, conversation maddened him ; he was much too fond of ideas and little attached to objects, and he did his best to discourage whatever leanings towards possession mania he might have.[2] When he regained his eyesight after three years, he took First Class Honors in English Literture from Oxford. During the last two years of the war, he cut down trees and worked in a government office. He married a Belgian called Maria Nys in 1919. and took to journalism for some time, writing about music, art, drama, house decoration and architecture, as well as criticism and book reviews.

The period of Huxley's youth and early maturity saw the breakdown of traditional standards of values under the influence of scientific and psychological thought and as a result of the decay of an economic and social system. Everything, from social institutions to the most sacred scientific truths, was considered purely provisional and temporary. The philosophy of meaninglessness came triumphantly into fashion, The disillusionment and frustration generated by the world war survived into the unhappy years that followed it. Daiches admirably sums up the state of affairs Huxley found himslef in :

> Huxley was disgusted by the behaviour of his class. Instead of justifying the optimistic belief in science and progress...that, for example, his own grandfather, the great T. H. Huxley, had held, the behaviour in the upper middle classes at the time when Aldous began to sit up and take notice was such as to

[1] Charles J. Rolo, "Introduction," *The World of Aldous Huxley* (New York, Harpers and Brothers, 1947), pp. IX—X.

[2] Margaret Anderson, ed., *The Little Review Anthology* (New York, Hermitage House Inc., 1953), p. 369—70.

indicate the essential hollowness in the modern view, or lack of view, resulting from the disintegration of traditional values. You had killed, or your grandfather had killed, the bad bogieman—namely, Victorian superstition and convention; and what was the brave new world that modern science and freedom was then able to build? Dust and ashes. Not only was the splendour gone from moonlight and roses...but it was also gone from that other great stand-by of Victorian enlightenment—science and progress. The greater your desire to believe in what was gone, the greater your resentment at finding that it was not there. Hence you write satiric pictures of modern life, not out of a feeling of superiority or amused contempt or cynical indifference...but out of a feeling of horror, out of frustration, nostalgia, intense disappointment."[1]

The frustrated Huxley took his stand very like a pyrrhonist, and adopted a form of satire—the discussion novel—that suited his apparently pyrrhonic attitude and served as a vehicle for his satiric observations on a generation that lived in a sort of moral and spiritual vacuum and groped its way through a disorientated world. Huxley's attitude was shaped partly by his heredity and partly by his environment. He was intensely aware of the disintegration of the older values and the rottenness of the new ones. He would have liked to believe in love and progress and spirituality and the value of life; but he could not, because the reality as he saw it filled him with resentment and disappointment. He saw reality in terms of individuals and their experiences that denied all those things he would have liked to believe in. The result was frustration. Like Lawrence, he found himself involved in the corrupting process of the society around him, and he unsparingly attacked the rotten values of the time without obtrusively committing himself. It was a dramatic device,

[1] David Daiches, *The Novel and the Modern World* (Chicago, Univ. of Chicago Press, 1948), p. 189—90.

which enabled the novelist to apparently eliminate his own point of view. The story of the early novels is told from the point of view of characters, and the novelist confines himself to a bare mention of the facts essential to the story and to occassionally scrutinizing what is happening. The characters' "actions as well as their inner valuations are subjected to the modant scrutiny of the author."[1]

The most Peacockian of all Huxley's novels, *Crome Yellow* (1922), narrates the visit of Denis Stone, a young poet and novelist, to the Manor House of Crome, where an assortment of guests, all arty or intelletual, have been invited to spend a short holiday. We are given "revealing snapshots of each character, sometimes as taken by the author but more often as seen through the eyes of the sensitive Denis, who is writing a novel. Huxley orchestrates a conversation at breakfast or dinner with superb skill, allowing the divergent crisscrossing themes to emerge with effective contrasts...."[2] Mrs. Priscilla Wimbush, Mr. Henry Wimbush, Jenny Mullion, Mary Bracegirdle, Mr. Scogan, Gombauld and Anne are all caricatures, and most of them give the impression of looking like clowns.[3] Barbicue-Smith and Ivor, who join later, are also caricatures.

Mr. Scogan ridicules the usual sort of novels, the mentality of adolescents and artists, and stock men of science in literature ; mass media and machines, which dissociate love from propagation ; bottle babies of the future ; imbiciles, English aristocrats, and eccentrics ; the leisured classes of all ages and their amour ; men, who have potentialities to grow into one of the six Caesars. Barbecue-Smith is caricatured in his lecture to Denis on how to cultivate inspiration and turn on the Niagara of the infinite. Mary unsuccessfully seeks the help first of Denis and then of Gombauld in abolishing her Freudian sex repressions ; this is finally accomplished with

[1] C. I. Glicksberg, "Huxley the Experimental Novelist," *South Atlantic Quarterly*, LII (January, 1953), p. 101.

[2] *Ibid.*, p. 100.

[3] Aldous Huxley, *Crome Yellow* (New York, Bantam, 1955), p. 5—11.

the help of Ivor, only to bring misery and disquiet after his departure. Mr. Bodiham is angry that his sheep are not interested in his sermons. Failing in his amorous attempts on Anne, Gombauld paints a diabolic orbismic picture of her. The deaf Jenny draws caricatures of Denis in her private notebook, and Priscilla Wimbush casts the horoscopes of horses. Having enjoyed all the pleasures of love and romance in his youth, old Mr. Henry Wimbush considers them worthless, and wishes all men dead. The disparity of the ideal and the acutal is brought about in Mr. Wimbush's account of the Elizabethan baronet's sanitary arrangments as well as in the anecdote of the ethereal and spiritual sisters who gorged themselves at elaborate private repasts. Mr. Scogan is the spokesman of a deliberate hedonism coupled with an underlying sense of personal futility.[1]

Antic Hay (1923), with greater orchestration than in *Crome Yellow*, opens with Gumbril Junior in a school chapel, thinking mockingly of God, theology, singeing of hairtubes, the Headmaster, and marking answer-books. He hits upon the idea of making money out of pneumatic trousers, and, after resigning his job as a schoolmaster, goes to his father, Gumbril Senior, an architect and lover of birds and nature, to let him know his plans. He consults with Mr. Bojanus, who talks mockingly of revolution and liberty. Gumbril visits Casimir Lypiatt, who paints pictures that do not sell, plays music that nobody appreciates, and writes verses that the public neglects. At a Soho restaurant, Lypiatt talks of ideals, Shearwater of kidneys, Mercaptan of the civilized *via media*, each puncturing the other with arguments. While Shearwater the physiologist is "playing guinea pig in an absurd experiment, his neglected wife plays Madame Bovary on Mercaptan's Crebillon-haunted sofa and in the terrifying embrace of Coleman, the bearded diabolist. While Gumbril Senior, the architect, translates his dreams into models of gradiose cities, Gumbril Junior dreams

[1] D. S. Savage, "Aldous Huxley and the Dissociation of Personality," *The Sewanee Review*, LV (October-December, 1947), p. 542.

up ads' for his pneumatic trousers."[1] Contrast as the mainspring of satire is the basic of the contrapuntal modulation of plots and characters here and startling satiric effects result from viewing the related events simulataneously.

During his random course of dissipation, Gumbril encounters Myra Viveash, a Circe not yet overripe; Coleman, whose debauchery is carried out on principle and with blasphemy; Mercaptan, who seduces according to the principles of Crebillon—all of them exponents of depravity. The growing intimacy between Gumbril and Emily is cut short by Myra Viveash, who prevents him from going to Emily's cottage. His drive with Viveash in a taxi at night through Piccadilly Circus again and again is symbolic of the pointless "antic hay" all the characters are dancing. Involved in erratic futility, the characters suffer from boredom, vanity, or despair, Edgar Johnson very aptly sums up the satiric impact of *Antic Hay*:

> ...This novel is a verbal machine-gun attack on a whole circumference of evils in contemporary society: on politics and politicians, the rapacity of modern business, the unscrupulousness of advertizing methods, and the exploitation of the poor, on the ideals of freedom and individualism, on intelledtualism and pretentiousness, on pseudo-aestheticism in art and literature, on the emptiness and spiritual cowardice of the cultivated and wealthy.[2]

In *Those Barren Leaves* (1925) Mrs. Aldwinkle, a wealthy old widow with a young heart and young desires, an overripe Circe, enteratains an assortment of guests in a renovated castle at Vezza in Italy. In her absence Miss Thriplow, a novelist who is her guest, does her best to entertain and attract Mr. Calamy, an "arty" sort of person where just arrived. On her return, Mrs. Aldwinkle takes him round the house to show her possessions like Lawrence's oppressive hostess Hermione. Mr. Cardan, a genial

[1] Rolo, p. xii.

[2] Edgar Johnson, *A Treasury of Satire* (New York Simon and Schuster, 1945), p. 667.

parasitical pleasure-seeking middle-aged person, talks about Victorians and Moderns, satirizes hypocrisy, parasitism, snobbery, flattery, food habits, love, and political leaders. Everybody except Miss Irene sees through the hostess Mrs. Aldwinkle, and Mr. Cardan sees through them all. Aldwinkle, Calamy, Irene, Hovendon, and Thriplow talk variously about passion, when Mr. Cardan says : ..."Passion can only flourish among the well-fed unemployed. Consequently, except among women and men of the leisured classes, passion in all its luxurious intricacy hardly exists in the hardworking North."[1] He also talks about Mrs. Aldwinkle's nature, Thriplow's hypocritical simplicity, readers and fate of books. Mr. Falx is the caricature of a socialist.

Floating on water, Francis Chelifer the journalist-author reflects about "art for art's sake—halma for halma's sake," the ridiculous arty set of Lady Gablet's parties, Shelley, his own verses, Shakespeare's characters, his own career as a journalist, his disappointing love affair with Miss Barbara; at this moment he is knocked down by a pleasure boat and nearly drowned. When he is hauled out and revived Mrs. Aldwinkle takes him home and gets on his nerves with her amorous attentions. Failing to attract him, she calls him a homosexual. When the party leaves for an excursion to Rome, Miss Thriplow and Calamy remain at the villa for amorous indulgence. His appetite being cloyed with love, Calamy goes to a hill in search of a mystic's experience. Mr. Cardan meets Miss Elver, a moron, and takes her with him with a view to marrying her for her money ; but she dies of food-poisoning. Irene and Hovendon get engaged. The party sees the frescoes of Fillipoo Lippi, who is now interpreted on Freudian lines. On their return, Cardan and Chelifer visit Calamy and exchange views regarding mysticism. As in previous novels, the satiric effect in *Those Barren Leaves* too is produced by the contrapuntal modulation of plots and the ideas as represented by various characters, e.g., the modula-

[1] Aldous Huxley, *Those Barren Leaves* (Harmondsworth, Penguin, 1955), p. 43.

tion between "the parellel amors of a middle-aged romanticist, an elderly cynic [Mr. Cardan] and a moron, two ingenuous twenty-year olds and three self-conscious intellectuals,"[1] or, the "entr' act between love-making, discourses on the different modes in which his [Calamy's] hand exists."[2]

The satiric modulation of characters and plots in *Point Counter Point* is much more deliberate and systematic than in the previous three novels though the novel derives from the same basic pattern. Walter Bidlake is fed up with his rather cold and sentimental mistress, Mrs. Marjorie Carling, and courts Lucy Tantamount, a perverted young woman in search of sensations. John Bidlake, his father, is an unregenerate old pagan and distinguished painter of flesh tints. Mrs. Bidlake, being neglected by her faithless husband, becomes extremely religious and preserves her metaphysical calm. Walter's sister, Elinor, cannot get the love she craves for from her husband, Philip Quarles, who is too detached and lost in the figments of his brain. Quarles Senior, the fake scholar, is really getting himself into trouble with a typist. The imbecile Lord Edward is a amattur-biologist ; and his laboratory assistant, Illidge, is an communist and participates with the diabolic Spandrell in the murder of Webley, the Fascist leader. Mark Rampion, a bold "integral living" intelligent man and painter, preaches and practices together, with his intelligent wife, Mary. Burlap is a fake spiritualist, and has his own method of corrupting innocent girls.

Beach analyses the contrapuntal technique of *Point Counter Point* as follows ::

> The author makes a point of bringing together in one place a large number of persons of variegated coloration (chapters I-IX) ; of bringing together in one chapter simultaneous scenes involving members of the one family (XXIV) ; of presenting several different accounts of the same event as it appears to different

[1] Rolo, p. xii.
[2] *Ibid.*, p. xiii.

persons (XXIX). He likes to pass from one place to another far distant, and show you what the people discussed in the first place are actually doing in the other (V, VI). Above all he likes to "modulate" or play variations on the same theme. In XXXIII he gives us first the sufferings of Elinor at the bedside of her dying child; then passes to the house where lies the corpse of murdered Webley, showing the callousness of Spandrell and the sick disgust and fear of Illidge; ...and finally takes us with Illidge to the laboratory, where the murderer has to listen to Lord Edward's speculations on the use of corpses for fertilizer.[1]

This is how Huxley alternates groups of characters for ironic contrast and gives a sharp impression of disparateness, owing to which the characters and their points of veiw satirically cancel each other out. Out of the discordant voices flavoured with wit and irony, a unique satiric symphony emerges. The quest for pleasure and ascetic penittence, the indulgence of the libertine and the mystic's withdrawal, the life of the intellect and the life of the senses, science and religion, sensuality and saintliness, revolution and fascism, the whole crazy gamut of human emotions, human appetites, human aspirations are orchestrated to produce the satiric symphony.

In these four novels Aldous Huxley has presented a living image of an era "at once bored and perplexed, disillusioned and unhappy, bewildered and groping, lost and seeking for firm land, now exited, now hopeful, now overcome with despair."[2] His world is narrow, the world of the leisured classes, artists, intellectuals, mystics, writers, scientists, industrialists, upper middle class adolescents, and parasites of the leisured classes. The inhabitants of this world can be classified into certain types; middle-aged hedonists like Scogan and Cardan, elderly

---

[1] J. W. Beach, *The Twentieth Century Novel* (New York, D. Appleton-Century Company, 1932), p. 465.

[2] Sean O'Faolain, *The Vanishing Hero* (London, Eyer and Spottishwood, 1956), p. 38.

eccentries like Henry Wimbush and Lord Edward Tantamount, recognizable *roman a clef* figures from the contemporary society like Mark Rampion (Lawrence) and Burlap (Middleton Murray), overripe Circes like Mrs. Aldwinkle, Circes not yet overripe like Myra Viveash and Lucy Tantamount, and sometimes the woman that allures but does not destroy—Irene, for instance. The way of life most of these characters in Huxley's novels live and profess opinions is fraught with utter futility and pointlessness, and is merely an escape from life. Their art, science, religion, politics, mysticism, sensuality are all an escape from life, or, to use Rampion's phrase, are "the fornicator's hatred of life in another form". Thus philosophers, ascetics, money-grabbers, hard-headed businessmen, routine workers all commit suicide. That is the picture Huxley's novels give of the contemporary society, a virtual waste land of pointlessness and futility.

As regards the satiric qualities of these four novels, Mr. O'Faolain says ;

> One is finally driven to conclude that all Huxley's intellectual paraphernalia conceals an intelligence at war with itself, struggling vainly for a clear position from which to attack...[1].

He further says :

> The result has been that he has from the beginning attempted satire and achieved only what I have called invective. The absence of a firm stand-point made this inevitable since of its nature satire implies a clear standpoint, or acceptable norm, from which to castigate those who would deny, insult or attempt to overthrow it...If satire were not firmly based in this way on some widerly accepted norm it might well be considered an impertinence on the part of any man to put himself into the judgment seat....[2]

[1] *Ibid.*, p. 38.

[2] *Ibid.*

According to Mr. O'Faolain, as these extracts show, Huxley's novels fall short of the art of satire because they lack a norm or standpoint. This opinion seems to have been induced by Huxley's contrapuntal technique, which does not require the author to commit himself explicitly. The norm for satire can exist at three different places. It may exist in the mind of the author, i.e., in the standpoint from which he attacks. Secondly, it can exist in the point of view of some character or characters. Thirdly, it may exist in the mind of the readers. The first extract from O'Faolain suggests that Huxley does not have a norm, a clear position to attack from. But the "widely accepted norm" of the second extract suggests that the norm must be present in the mind of the readers.

A careful study of Huxley's novels, will reveal that the norm is present in all the three places, the author, the novel, the reader. In each of his novels of this period, some character says something that consitutes the norm. In *Crome Yellow*, Denis with much ratiocination wishes to be a pagan like Anne and take life as it comes. The trouble with most of the chracters of this novel is that they do not take life as it comes. They must find an excuse for every thing, even for living. The result is that they become non-participants in life. They become monuments to aberration and eccentricity. Priscilla, who cultivates the hobby of horoscopes to the exclusion of other interests of life, is an aberrcent from the norm of life, and hence the satire. This aberration is true of Sir Henry, Scogan, Mary, and others, even of Denis.

In *Antic Hay* Shearwater, after living an erratic life of scientific futility, realises the importance of a balanced working arrangement in life. He says: "Render therefore unto Caesar the things which are Caesar's...and to God, and to sex, and to work... There must be a working arrangement...Everything in proportion. In proportion."[1] Proportion and balance in life, then, is the norm, and it is the same as the norm of *Crome Yellow*. Shearwater, Lypiatt, Coleman, Mercaptan.

[1] Aldous Huxley, *Antic Hay* (Harmondsworth, Penguin, 1955), p. 132.

Advertiser, Myra Viveash, Gumbril have all deviated from proportion and balance in life, and therefore become objects of satiric ridicule.

In *Those Barren Leaves* as well as in *Antic Hay*, the characters do not live a balanced life. They do not render unto Caeser the things which are Caesar's and unto God which are God's. They all try to escape from life into sensuality. Calamy, when disgusted with sex, takes to mysticism, another escape from balanced living. Mr. Falx finds an escape in Marxism, Mrs. Aldwinkle in hunting the lions of the literary circle. Mr. Cardan has dissipated his powers in hedonism.

Mark Rampion in *Point Counter Point* provides the norm for the satire of this massive novel. It throws light on the norms of the previous novels as well. The principles of Rampion's integral living are in fact an elaboration of the norm hinted at earlier. Philip Quarles, Walter, John Bidlake, Lucy, Lord Edward Tantamount, Spandrell, Illidge, Webly, Burlap, and others look extremely ridiculous in the light of Rampion's principles. This humanistic norm that is implied in all the four novels of the, twenties exists certainly in the mind of their author. He has a standpoint. In his essay on Pericles, Huxley admires the Greek humanistic ideals of multifarious living. And it is implied in his novels as a norm for satire.

As regards the acceptance of the norm by the reader, one can only say that the satirist aims at persuading the reader to accept it. And if the reader feels that the follies and stupidities of a society have been ridiculed, he has accepted the norm of the author. Huxley's novels discussed above do this job admirably.

THE IMPACT OF MODERN ART IN INDIA

M. V. KRISHNAN

College of Music & Fine Arts

India is a country rich in various forms of Fine Arts, the history of which dates back to the Indus valley civilization and vedic period. Despite the onslaught of foreign influence endangering the traditional continuity particularly under British rule our various forms of fine arts have been sufficiently preserved in their pristine purity for regaining the lost thread for traditional continuity. Though our country had been subjected to a number of invasions our tradition in Fine arts has survived in the past and we have assimilated the good in our conquerors, traditional culture in all forms of arts serving as the backbone for its changing forms. Rural population draws inspiration from the mythological stories, from the rich remains of our sculptures and paintings in caves and temples. It is the duty of a nation to preserve and promote its national culture. Each nation has a uniqueness in its arts and culture and only on the basis of this uniqueness its arts and culture are respected. This uniqueness of culture needs to be reestablished especially in urban areas where foreign influences have shaken our faith in heritage.

The impact of Modern Art on Traditional Art.

Some people considering 'all that is west is best' are of opinion that following the tradition creates stagnation. It is like saying that we have to discard the study of various Fine arts and Literature we have inherited from our forefathers, in order to show progress. Can this be done ?

Whatever be the majority of those unaffected by foreign influence, the impact of western civilization has made a stir in our leading urban intelligensia. Western culture in its various forms has currupted our culture. In our metropolitan cities, our fashionable young men are nowadays attracted by the wes-

tern ball dance, the exotic erotic western movies, our young maidens have taken to rough the brassieres, highheel shoes, and bobbed hair. All these are supposed to be signs of progress. This does not mean that we should entirely discard new trends but discrimination and assimilation are lacking. Western education has certainly contributed to vitalise our understanding of our culture and heritage. In the field of fine arts as practised in metropolitan cities western art has undermind our traditional arts. The modern art of the west has changed the outlook of our young and budding artists confined to cities. Without understanding thoroghly the basic principles of modern western art, majority of our young men take to it, ape its mere mannerisisms. Anybody who has some understanding of western art especially the Modern art can easily notice it in the various exhibitions of Modern art held in our big cities. A large percentage of our young artists have not seriously studied the principles and causes that helped the emergence of modern scientific culture of the west. This scientific culture has already paralysed the traditional way of life of the west. The first and the second world war coupled with nuclear innovation has created a psycological fear. Subjected to this fear, influenced by the contact of primitive frican, Polynesian and other primitive culture the teachings of Jung and Freud have changed the outlook of the artists of the west. Their creation depicts the crisis in their civilization. It is therefore necessary that in adopting anything of western culture and art we should show discrimination and should absorb only such things that will be helpful to our culture and art. Savants like Coomarasway, Abinendranath Tagore and E. B. Havell foresaw this danger. By their writings they tried to show us the rich cultural heritage of our country. Assimilation is one thing to be welcomed but blind imitation without context to the degree of need for changes is unjustified.

Our National Acadamics of Art.

Our National Government established three central acadamics for the promotion of our Literature, Music, Dance, and Fine Arts. Let us analyse their works for the past ten years.

The Sangeet Nātya Kalā Academy has embarked on a programme to encourage both Northern and Southern Indian Music, the Dances like Bharatnatyam, Kathak, Kathakali, Odeesi, not western Music and Dance especially the new forms of western dances like chan chan Hip Dance and Jaz. It aims to promote pure Indian traditions in its sphere. The young scholars who are given scholarships are expected to study them in their pure form. In the recent Edinborough music Festival our Musicians like Ravi Shankar, Ali Akbar Khan, M. S. Subbalakshmi were invited to display pure Indian Music, and not any hybrid form of western Music, of India. The east west Music conference that was recently convened by the Sangeet Nātya Kalā Academy was to bring nearer the western and Indian Music and Dance in order to understand each other's greatness.

In the sphere of Literature the Sāhitya academy is publishing the works of our ancient authors, poets, dramatists and as well as encouraging young Indian writers to enrich our Indian Literature with their writings.

Let us look at the work of the Lalit Kalā Academy which is meant to preserve and promote the Fine Arts in India. What are its achievements during all these ten years ?

In its achivements we find the following things :—

(*a*) The Annual National Art Exhibibitions for the past ten years.

(*b*) A Seminar on Art Education, the conclusions of which have remained on paper only.

(*c*) Seminar on History of Art, Seminar of Sculpture etc, where the Historical and other aspects were discussed by scholars.

(*d*) Some International Exhibitions organised in Delhi and some other big cities. The common man of our country neither comes to know of them nor gets a chance to see them even if he so disires. Are these showpieces in the name of encouragement of art meant for only big cities ?

(e) Indian Art exhibitions in other countries. Very often we get press reports about Indian Art Exhibitions in other countries. But one wonders about the mode of selection of exhibits for these Exhibitions. Mostly people intimately connected with the academics activities get the chance for selection and their works find a place for display outside India. Besides most of the exhibits speak about contemporary art of India which is only one phase of Indian art.

(f) Publication of incomplete Artist's directory.

(g) Publication of works of certain eminent artists of India which has come under severe criticism by the public accounts committee of the central government.

The first item is the most important as regards the encouragement of art in India. What has been the result of the past ten National Exhibitions ?

Every year at least not less than one thousand Exhibits Paintings Sculptures, and allied Arts are received by the academy for selection for the National Exhibition. Out of which hardly about 200 exhibits find a place in the Exhibition due to so called judicious selection. This means that the money, time and energy spent by other artists are sheer waste. But at the same time we find works of certain atrtists find a ready place in the National Exhibitions year after year. Whereas there are cases where artists have been sending their exhibits year after year in the hope of getting a chance of getting them exhibited in the National Exhibition, have not had any encouragement but disappointment. At the same time we read press reports after this national event every year that the artists in India are not taking keen interest in the National Exhibition. Besides one finds prizes being awarded to such artists who have not even left the portals of an art Institution, but are found to be followers of a certain schools and groups who rule the roost in the National Exhibitions. How can the academy expect the artists in India to co-oparate in the National Exhibition, when such bias for mono-tracked selection of exhibits is the rule. Is it to get dejected,

rejected and humiliated that an artist other than a modernist should spend time and energy in sending his exhibits to this exhibition. Anybody who has some understanding of art can immediately notice in the annual catalouges of the Exhibition that some invisible vested intrests govern the slection of the exhibits, only the followers of those vested interests get the chance for exhibiting their work.

Secondly one can notice that during all the past ten National Exhibitions none other than a certain mode of Painting carries the day. Evern here one generally find an aping of foreign works and not truly original creations. Besides those who fail to follow this mode of painting are discouraged. Art has many facets and each is good in its own sphere. Our National Exhibition is meant to represent a cross section of different types of Art in India and not to be a mouthpiece of only one type of art. Besides the art that is finding a place and encrougement least represent the art of our country.

What has been the impact of the exhibitions on the general public in India ?

The common man is dumounded on seeing the extreme creations of Modern art. He fails to understand them. He finds nothing whatsoever of his culture or art in it. How can he appreciate a canvas having 117 holes as a piece of art or a picture simply dabbled with colour without any meaning and called Varanasi or any thing else or a two blocks of stone kept nearer and called mother and child or something else. From all this it is clearly evident that our art is heading for a tragedy. It is high time that people who have a genuine desire to revive and encourage Indian art to wake up and fight for putting a stop to such abject degeneration of our art.

Cnclusion

Each nation posseses an inherent quality in its art. It should reflect basically its culture and civilisation. It is the duty of the artists of a country to bear it in mind and inbibe it in their creation. They should not become mere camp followers of an art which is alien to its culture and tradition.

If the establishment of the Lalit Kalā Academy is really intended for the vitalising and advancement of true and genuine art of India reflecting its uniqueness and also to enli-ghten the public, it should publish its works in the form of cheap prints, slides etc. This will help the public to form an opinion regarding the merits and demerits of the exhibits shown in the National Exhibitions. Only then it can claim that it has been really doing a national service for the encouragement and pr-servation of Indian art. True service knows no selfishness, nepotism and predilection.

TEACHERS' PROBLEMS AND PROBLEM TEACHERS

S. K. JHA

Banaras Hindu University

Much has been thought and written on child and adolescent psychology, many theories propounded, many theses put forth on the causes and remedies of mal-adjustments in our young educands. Nevertheless one would probably like to enquire whether a comparative investigation has been made about another vital aspect of our educational problem viz. mal-adjustments of teachers. We cannot certainly claim credit by merely theorising things in bombastic phrases. We, teachers, require thorough introspection and honest co-operation in formulating certain sound principles of Teacher's Mal-adjustments.

It is only in the past few decades that the western educational system has been widely spreading in India, and it is this period of transition which has been sowing the seeds of maladjustments. During this period when the teacher has been subjected to the stresses and strains of the transition, he has to leave certain things to pick up others and in so doing he must be extraordinarily cautious and decisive. A single slip or inattention may bring in a fracture in the growing edifice. and this fracture, if ignored for some time, may become the very cause of its ruin.

No one can deny that due to lack of uniform, tested and established means of selection and careful training of the teaching personnel, we lack fineness of quality. Quantity we may have as much as we can presently demand, but that is not all. It is almost proverbial that the rejected ones get into this 'noble' profession. The rejection may either be due to lack of quality or due to lack of approaches and relations in the upper layers. We require the planning and execution of colossal programmes on a nation-wide scale to gather facts and derive definite conclusions about the teacher class.

Some one has aptly remarked that "the teacher is a Man before boys and a Boy before men." The dominating learned dictator of his class-room is so timid and hesitating when out of his school permises. Surely the conciousness of rejection and dejection are at the root of his apparent superiority complex and real inferiority complex. The rejected fellow is revengeful against the society and therefore he dominates and dictates the prospective society in the implied expectation of commanding some social prestige in the next decades. That is why a teacher is 'proud' of his past student and is disappointed when ignored or not duly respected by him. It is a clue for further thought, a psychological problem for further analysis.

An experienced teacher is a misfit in the society. Given an ear he would continue to harp his own tune,-mostly complaining, seldom appreciating anything. His financial standard, his boring repetitive style of discourse, his gestures are all not easily tolerated by others. It is only his academic attainments that come to his rescue and preserve him in the society, otherwise 'by all forgot he would rot and rot.'

Most often we find people complaining that indiscipline amongst students is spreading like a contageous disease for which no proper remedy has yet been found. I think, the preventive of such a disease consists in eradicating indiscipline prevailing amongst teachers. This can certainly not be done by accentuating the snobbish attitudes of the administrators of educational institutions. Existing coersion, undue influence, lack of faith and disrespect for the personality of the teacher by-equally or a bit more qualified superiors induce in him the tendency to compensate. It will be sheer injustice to blame the immature youth for indiscipline bacause the cause of it lies elsewhere. As a matter of fact, we do not find discipline in the world at large, what to say of the student class only. What seems to be the immediate requirement for the present is that by any means something must be done to check the reactionary and compensatory tendencies growing in the teachers.

It is the training College where a maladjusted teacher could probably procure a psychological pill to cure his defects. Unfortunately even there I have not failed to observe the unsympathetic, unpolished, high browed demeanour of prestige conscious professors! I do not know any theory stating that the defects of the pupils can be cured by developing similar defects in the teachers. It will be simply absurd to defend it. Of-course one would never accuse the learned, courteous and sympathetic minority which permanently stamps its pious impressions on the minds of its pupils.

The 'kicking' and demeaning attitude of the bosses is also equally responsible for the growing personality defects in the teachers. I know instances where the bosses have ruined or tried to ruin the careers of persons who have, after due consideration, permanently stuck up to the teaching profession. There have been occasions when the employers have selfishly disregarded the teacher's legitimate demands and have wrongly exercised their powers to their detriment, thus sowing the seed of vengeance, scandal, dissatisfaction and repulsion against the profession in the minds of teachers. Ambitions thwarted, opportunities denied, legitimate demands disregarded and prestige unsanctioned, the aggrieved teacher is bound to develop malicious and repulsive tendencies towards his superiors and contempt for the profession. When his energies fail him in his struggles he gives it up with disgust and hatred.

Next comes the social prestige. At present that class of persons commands a better social prestige which gets a wholesome remuneration for his work. This -prestige-remuneration rule may not apply to an individual worker but it always applies to a class of workers.-Designation alone does not determine one's social prestige e.g. a 'conductor' of a public bus cannot command a social prestige on par with the 'conductor' of a great firm drawing a monthly remuneration of a thousand coins. So, in the prevailing conceptions remuneration is one of the major determinants of one's social prestige. Moreover an enhanced remuneration of teachers would not be undue at all, rather it is

long long due to the society. It is true that the teacher cannot immediately and perceivably affect and influence the adult society as he has to deal with the youngsters only but the society has now begun to realise that he is the person who can fashion and carve the future nation, who can turn into reality the fanciful dreams of our people. One can set forth the example of Russia. What is after all the future of a people except the potentiality of its children, and it is the teacher who preserves, waters and manures this potentiality. Is then his claim undue, his demands illegitimate ? Should he then be duped by mere sacred slogans of sacrifice and satisfaction ?

We sometimes find that some persons join this profession thinking that it is merely a stepping stone for some more remunerative prestige post and therefore pull on with it for a short while ; there are others who, due to dissatisfaction and frustration, give it up and join another at an earlier or later stage. Both of the types do not have interest in this profession and, preoccupied with their own problems of future, they entirely fail to do justice to their undertakings. They urgently require to be elimnated from the field of education. The task of education is stupendous and it cannot be accomplished soon unless it is prescribed by legislation that no one entering the teaching profession and remaning in it for a sufficient length of time will ordinarily be allowed to join any other profession of equal status. It is also necessary to legislate that a teacher must have full opportunity for higher education in his field and each of his academic or academically useful attainment must be properly rewarded ond remunerated. The teaching profession will then no longer remain a profession of the rejected, dejected, disgruntled and disrespected persons. Competition and mode of selection will improve the tone of the profession immediately and immensely and then no one will be heard complaining that to call it a noble profession is merely a phrase.

TWO POEMS

TYL-DUL-DUL-TYL-TYL-TYL

MAYA PRASAD TRIPATHI
Research Scholar in Geography

He rings the gong
Ding ! Dong ! Ding ! Dong !
Dong ! Dong ! Dong !
In the heart of resonance
perfumed curly hairs of smoke
are combed, parted and adorned
by the incense-quill aglow with firy joy and enthusiasm
and carving life and images.
The contours deepen,
A mist attains form,
A figure becomes fleshy in the pupil of haze,
A full-throated *zound* lashes and melts,
then a rich voice ripens and is spilt
like honey and milk.
A phantom of the past :
"Who has exhumed me ?
I rise—I awake
from my marbled, dust-polished
and clay-bordered tomb,
sprinkled with drops of ambrosia
from the black phial of night
in the succulent garden of Day
skirted from all sides by gay Dawn."
A child in me
opens his colourful mornkissed eyes
like the first bloom of two rosy lotuses.
He is athrill and frisking in
his starry landscape and world
of vernal beach and restless fireflies.

A new born smile
is intriguing to ensnare the choicest flowers
of laughter on the two petals of little lips.
"Tyl ! Dul ! Dul ! Tyl ! Tyl ! Tyl !"
bring a breeze of music,
Tinkling of a full-mooned reminiscence
in the splendidly gemed arbour of the midnight,
flooded with the songs of a flute
stolen from the opera of the purple noon,
like the delicate kisses of a rhyme
nonsense of which has been squashed
into a sweetestest sense—
"Ninni ! Nonny ! Ninni !
Nonny ! Nonny ! Hey !"
"Tyl ! Dul ! Dul ! Tyl ! Tyl"
repeats the child I was
The actual words ! the nonsense at four I shrilled.
Maeterlink rings the gong
Ding ! Dong ! Ding ! Dong !
Dong ! Dong ! Dong ! Dong !
The Blue Bird is the gong !
The names—Tytyl ! Mytyl !
touch a chord of symphony, which
hides the lyre of the days of divine benediction,
And I hearken and echo
the forgotten purile self-invented abracadabra
"Tyl ! Dul ! Dul ! Tyl ! Tyl ! Tyl !"

A double faced conjurer of the Present :
"From the flow of this river,
dashing, splashing and gurgling,
ladden with lilies of foam,
forgetmenots and violets
tucked on the blouse of eddies
tumbling on the flight of stairs
of gold, silver and clay
in the apparel of joys and miseries,

sewn with broodings and sweeping thought,
I come to your synod after bathing,
my dripping cloths are in my hand."
Gong is ringing at its high pitch !
I am skating and slipping
along the velvety and glossy
resounding and continuous
pleasant curve of ding ! dong ! ding ! dong !
History, and its retinues, its soul and voice,
in its contemporary costume
are dancing before me
on a rope like an acrobat,
on my brows !
In my ventricle !
on the concealed pulpit of my cranium.
An uncanny icon of the Future :
"From the milkyway
my regal procession starts
my pilots and heralds
strew my path
with haggard daisies and fresh tulips
blooming in the cosy nooks of Nebulas
beside the deep green foliage and blue window pone.
I am clearly discernible and visible
in my golden pinions
in my lustrous golden hairs.
Sometimes chilling frost,
and mischievous darkening fog
curtain my bright silhouette
and its shower of smile and life.
Then you endeavour to hail me
with your welcome buntings and festoons
at your craving's door."
Then I open my stencil, portmanteau,
fine colour box,
and pry into the subtlest infinite pencils
to choose and paint

the magnificent and the sublime
the wealth and beauty
in the shades, flesh and throbs
of pictures in hundreds and thousands,
as the parnassus of existence
inspires, instigates and goads me.
Again I hear ding ! dong ! ding ! dong !
Eleu 'loro ! Eleu loro !
of the fairy play.

The stageless rocket of imagination
zooms, hisses and shelves into the most staggering
mysteries of the most alluring, highest ;
invents and devices,
manufactures and assembles a contrivance
and drops on me.
Imagination's sonorous voice
pronounces its name "Timescient,"
and tells me, "Learn its functioning
and handling, you can connect past, present
and Future, and roam into the panorama of all the three"
"Breath taking device," every corner of my mind
clamours ajolt.
It wonders and meditates !
It wonders and meditates !
A picture of four dimensions,
a profile of the fourth dimension
floats, and glides across
the indelineable horizon,
on a trembling quick-silver plate.
"Two ordinates and two abcissae," mathematics talk
"All in separate dimensions
weaving the drapery of the most
amazing purless graph
on which four individuals play
face to face, or enjoy hide and seek
near or apart.
Lo! Past-Present-Future and space.

w soul in ecstasy and
delightful matchless trance
believes the contrivance of Timescient.
I handle and use it
and am thrilled to witness
the drama, vaudeville and pantomime
of the four stalwarts.
They besmeare a light
in my eyes, of unknown bands
and I probe into souls and sensitvity
of lifeless objects..
Glacial wonder is thawring and receding.
But still a mystery is veiling
icons of Death and Life.
Would the godhood of science
bestow on us—unveil their anatomy.
Would I, he or you
shake the coil of Death
and wear the garment of immortality ?
or rest content with the empire
or federation of a thonsand or numbered
planets or stars !
Because who can survive
for thousands and lakhs of years
to thrust into the depth of light years
in a photon or antimatter rocket
travelling with light's speed.
All of a sudden an ennui and numbness
creep in the life-stream of senses,
when ships of cumbersome thoughts
take a turn to a different azure
where a pandemonium threatens to break
shices and conduits of dithyramb,
and wash away the moonshine
and sunshine of the mankind,
because in flesh and blood morality

is in delirium, is thrown into spasmodic swoons.
Profligate luxury laughs!
Philosophic comfort broods and is feverish!
Pensive necessity weeps and sobs!
Their engagements and bloodbaths
have made fidgety even the heavens.
O Nightingale! cuckoo! peacock!
of happiness—of peace!
Where do ye vibrate the nerves of winds and breeze!
Where do ye dance in your song and plume
above clamour and hoarseness of mankind!
What a chain of acts and scenes!
acts and scenes!
so many dramatis personal enter and exeunt!
He is ringing the gong!
He is ringing the gong!

As Goethe pondered over the shakuntala,
I muse over the Blue Bird.
As I ponder over Faust, Gretcher and Helen
and their universal and eternal assembly
and their Mephistopheles,
I meditate on Tytyl—mytyl,
The little girl,
her dove escaped and flown away.
Her sobs daily melt
in the platinum crucible behind
the railings of rays!
contemporary newspapers and history
are overloading their stomachs
with falsity absolute or platitude
and are bound to lead
the souls, spirits and arts of posterity astray,
in trackless desert of space,
in labyrinthine clouds of firmament,
stranded into fathomless infernality.

Ho Ye Triumvirate of past, present, and Future !
My dream-sweating palm
still holds that "Timescient !"
But Man's empire is cracking.
still the Blue Bird is flying !
and making me vocal to sing the madrigal.
Tytyl ! mytyl !
The gong is ringing !
Ding ! Dong ! Ding ! Dong !
The child dead in me
is resurrected and is singing to himself
in old oblivion
"Tyl ! Dul ! Dul ! Tyl ! Tyl ! Tyl ! Tyl !"

THE TYPIST TOOK TO TELEPRINTER

I do not know under what urgency
the private secretary
took her seat in the chair
in the overcast chamber
where susurrant moisture
had sealed its thin lips
and was reposing delicately and imperceptibly.
She twitched her first smile in an undinal streak
of a beautiful fluorescent lace,
she blew the second in a lush virgin wreth.
And her soft, nimble and agile fingers were
fast on the type-writer.
Tip-top ! Tip-top ! sang the key board
on the slumber of tin.
My revery of the subconscious
was reading everyline
on its own teleprinter :
The poetry of Einstein's brain,
the shadow and voices of the earth, stars,
known and unknown astronauts

quivering boyond the brows of thoughts,
phantasmagoria of the wedding
of distance and imagination
of a perfect, most subtle
and sensitive instrument—"Omniact,"
which would see, hear, smell, touch
and taste anything from any where,
And other devices of that texture and hue,
Then all was flowing in a sheet out side,
with dimmed reflection and fluid reverberation
of every heart and mind, liquid ambition,
with ripples and wobblings of blindness
of other eyes of wisdom and vision
in the blood of the heart of the rain
which the arterier of reelings were connecting
with the giant body of 2200 or 2300 A. D.

ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से जीव तत्त्व पर विचार

पं० केदारदत्त जोशी

ज्योतिष विभाग, संस्कृत महाविद्यालय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अनन्त आकाश में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु और स्थूल से स्थूल महत्तम तत्व अनवरत भ्रमण कर रहे हैं। प्रतिक्षण एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व से; अथवा अपने ही सजातीय तत्त्व से संयोग होता रहता है; अथवा किसी अपने अवयव से वियोग भी स्वभावतः होता है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश तत्त्वों का सम्मिश्रण एक घनीभूत ठोस आकृति में दृष्टिगोचर होता देखा गया है। आधुनिक गवेषणाओं से प्रायः १०० से अधिक तत्त्वों (elements) का परिचय किया जा चुका है। तत्त्वों के मिश्रण और यौगिक भेदों से आज के विज्ञान ने विश्व को बहुत कुछ दिया है।

प्रकृति के जिस पिण्ड में पृथ्वी तत्त्व का बाहुल्य है उसे पार्थिव शरीर कहा गया है। पृथ्वी पार्थिव है, अतः पृथ्वी के सभी जड़ चेतन पदार्थों में पृथ्वी तत्त्व का प्राधान्य है। पृथ्वी अपनी शक्ति से अथवा ईश्वर प्रदत्त शक्ति से अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त आकाश के किसी एक लघुतम बिन्दु पर स्थित है, इसलिए पृथ्वी में ब्रह्माण्ड के सभी धर्म उपलब्ध होते हैं। अतएव कहा भी है कि 'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' अथवा 'यद्ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे'।

जीवतत्त्व—

जीव भी एक तत्त्व है। वह पृथ्वी में कहाँ से आया? कैसे आया? क्यों आया? इत्यादि अनेक संशयों का प्रायः अभी तक कोई प्रत्यक्ष समाधान नहीं हो पाया है, तथापि विज्ञानवेत्ता इस समस्या के हल के प्रयत्न में बराबर अग्रसर हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सम्बन्ध से पिण्डज, अण्डज, स्वेदज अनेक योनियों के जीव देखे जाते हैं। आगम शास्त्रों के अनुसार चौरासी लाख जीव योनियाँ बताई गई हैं। आधुनिक, भूगर्भशास्त्रियों एवं जीवज्ञान विशेषज्ञों अथवा वनस्पतिशास्त्र विशेषज्ञों के मत से चौरासी लाख योनियों में सन्देह नहीं है। आज का विज्ञान जीवयोनियों की गणना में अभी तक किसी स्थिर संख्या का निर्देश नहीं कर सका है। जो भी हो, कहना पड़ेगा कि अनन्त शक्ति के अनन्त जीव हैं। 'यतोऽनन्त शक्तेरनन्ताश्च जीवा' यतो निर्गुणादप्रमेया गुणास्ते नमोस्त्वनन्ताय सहस्र-मूर्तये.........इत्यादि विचार प्राक्काल में व्यक्त किये जा चुके हैं।

सूर्य और चन्द्र—

ब्रह्माण्ड नायक के महान् मन से चन्द्रमा और नेत्र से ज्योतिष्मान् सूर्य का समुद्भव हुआ है। सूर्य का गोल तेजोगोल है जो चाक्षुस प्रत्यक्ष है। चन्द्रमा अमृत पिण्ड है या पीयूष पिण्ड है या नवनीत पिण्ड है जिसे जल पिन्ड या सोम कहा गया है। अतएव सोम एक रस है, मद्य का पर्याय भी सोम है। यह सोम (स्वादु) रसना से प्रत्यक्ष होने के कारण राशन प्रत्यक्ष है। "अग्नि सोमो" यह वैदिक प्रयोग भी उक्त अर्थ में ही किया गया है। आकाश में पृथ्वी के ऊपर चन्द्रमा (सोम) और चन्द्रमा के ऊपर सूर्य (अग्नि) है।

बुध—

इसी प्रकार पृथ्वी के ऊपर सूर्य के नीचे बोधन तत्त्व है, जिसे बुध वाणी या वाक् तत्त्व कहा गया है। प्रायः सौरमण्डल के पश्चिमोत्तर दिग्विभाग में इस तत्त्व की प्रधानता पाई गई है।

मंगल—

यह भी हमारी (पृथ्वी) भूमि की तरह पार्थिव तत्त्व है। भूमि से संबंधित होने से इसका नामकरण भौम; अथवा कु (पृथ्वी) से जायमान होने से कुज भी किया गया है। सूर्य गोल से ऊपर के गोल में इसकी अवस्थिति है।

संभवतः किसी समय सूर्य बिम्ब के कुछ अवयवों में उसके दो महान् अवयव जो अलग हो गये थे उनमें से अपर को गया हुआ अवयव वह कुज या भौम एवं सूर्य से नीचे का जो अवयव नीचे आया उसे भूमि या कु कहा गया होगा? मंगल का वर्ण रक्त है। दूरवीक्षण से ही नहीं खुली आँख से भी आकाश में लाल वर्ण का भौम तारा प्रत्यक्ष देखा जाता है। मंगल ग्रह में अग्नि तत्त्व प्रधान है। सौरमण्डल में अग्नि एवं दक्षिण दिशाओं में इस तत्त्व का प्राधान्य है।

शुक्र—

सूर्य की आसन्न कक्षा में उसके चारों तरफ वर्तुल मार्ग में चन्द्रमा की तरह सोम प्रधान ग्रह है जो तेजस्वी और आकर्षक है। तामस गुण युक्त होते हुये भी ज्ञान से पूर्ण है।

गुरु या पूज्य—

अग्नि प्रधान सूर्य तत्त्व से ऊपर गुरु, ज्ञान और सुख का धाम है। सौरमण्डल के उत्तर में जीव तत्त्वों का भाण्डार है। शान्त, दान्त और गुणाकर है। सौरमण्डल की उत्तर दिशा में सत्त्व प्रधान होकर सौरमण्डल की परिक्रमा करता है।

शनि—

वायु तत्त्व प्रधान है, दुख स्वरुप होने से सौरमण्डल को क्लेश पहुँचाने का स्वभाव है। सौरमण्डल की दक्षिण पश्चिम दिशाओं में वायु प्रधान होकर अवस्थित है। सौरमण्डल की अन्तिम सीमा (पश्चिम में) रहते हुए धीरे-धीरे लगभग ३० वर्षों में सौरमण्डल की परिक्रमा करता है।

पाँचों तत्त्वों के सम्मिश्रण से पाञ्चभौतिक पिण्डों की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक ग्रह पिण्ड का प्रतिक्षण संबंध होता रहता है। वायु प्रधान शनि से नीचे गुरु लोक (वृहस्पति ग्रह) में अनन्त जीव अनन्त आकाश में यत्र-तत्र सर्वत्र फैले हैं। गुरु ग्रह में वजन बहुत अधिक है। अनन्त जीवों का केन्द्र स्थान होने से गुरु ग्रह में गुरुता का होना स्वाभाविक है।

पृथ्वी में सर्व प्रथम कौन जीव अवतरित हुआ?

सर्व प्रथम जलज सृष्टि का रूप सामने आता है जिसमें (१) सर्व प्रथम **मत्स्य** देखा गया है। प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने मत्स्य (मछली) को ही प्रथम शरीरी कहते हुए

उसे मत्स्यावतार कहा है। (२) मत्स्य समुद्र तीर में स्थल पर भी रहता था, अतएव प्रकृति ने उससे जल और स्थल के उभयधर्मों के समन्वय से **कूर्म** नामक जीव का स्वरूप दे दिया। पौर्वात्य पौराणिक वैज्ञानिक इसे ईश्वर का कूर्म अवतार मानते हैं। (३) जल और स्थल के समान विभागज पंक में जीवलोक से आगत जीवाणु ने **वराह** का रूप धारण किया। (४) मनुष्य रूप होने की चौथी पीढी में विकास की ओर जाने वाले जीव ने पशु और नर की **नृसिंह** की आकृति धारण की। (५) नृसिंह के रूप का धीरे-धीरे सिंह आकार लुप्त होने लगा, अतएव केवल नर रूप में ईश्वर की प्रेरणा से अति लघु काय का हमारा **द्विपद** स्वरूप आज से लाखों वर्ष पूर्व **वामन** रूप में था, जिसे वामनावतार नाम से भारतीय ब्रह्मर्षि सम्बोधित करते हैं (६) अब तक विकसित जीव के स्वभाव में प्रायः हिंसावृत्ति अधिक रही। उसे अपने उदर पूर्ति के लिए जो भी भोज्य पदार्थ मिलते थे वे प्रायः हिंसा से ही उपलब्ध होते थे। इसीलिए आज तक मानव में हिंसा का भाव उसके पूर्व के अनेक योनियों के संस्कार से पड़ा हुआ है। ज्ञान केन्द्र में मानव नहीं पहुँच पाया। वह अपनी अस्त्र वृत्ति स्वभाव के त्याग में असफल रहा, इसी लिए मानव का शस्त्र पाणिरूप **परशुराम** अवतरित हुआ। (७) जब अज्ञान मोह और अमर्यादा आदि की और घृणा होने लगी तब जीव अधिक प्रकाश के केन्द्र तक पहुँचने लगा। अतएव अविवेक के साथ युद्ध कर उसे पराजित कर उसने मानव जगत् में ही नहीं समग्र चराचर जगत् में विवेक के साम्राज्य की स्थापना की। विवेकी, गुणी, दृढप्रतिज्ञ, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवाक्, चरित्रवान्, सर्वभूत हितैषी, विद्वान्, सामर्थ्यवान्, सुतरां प्रिय एक दर्शन, आत्मवान, जितक्रोधी, द्युतिमान, परगुणदोषकल्पनाहीन हमारे जीव योनि की सातवीं पीढ़ी में भगवान् **राम** अवतरित हुए।

इसी में मानव ने अपना सुख और ऐश्वर्य समझा। इस दिशा में उसने अपना प्रयाण प्रारम्भ किया। उसने समाज के लिए उत्तम सुख साधनों की गवेषणा के साथ ऊँचे स्तर का ज्ञान भी प्राप्त किया जिससे शरीरस्थ जीव की अनित्यता और स्वतंत्र जीव की नित्यता का उसे बोध हुआ। इस नित्यानित्य के विवेचन में समर्थ मानव ने विश्व के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का भी प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि विकसित मानव ने अपने लिए ज्ञान का संचय प्रारम्भ किया। विज्ञान ने इस क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया। मानव विकास का यह स्वर्ण युग था। यहीं से वेद वेदांग, श्रुतिस्मृति, पुराण महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ रत्नों का सर्जन भी प्रारम्भ हुआ।

(८) इस स्वर्ण युग के संचालक **भगवान् श्री कृष्ण** आज से ५०६२वर्ष पूर्व अवतरित हो चुके थे। संसार में सभ्यता का उद्‌गम काल भी यही था। संसार के गौरव के ग्रन्थों की रचना इसी युग में हुई। "कृष्णस्तु" भगवान् स्वयम् यह युक्ति चरितार्थ हुई। अन्धकार के जगत् को प्रकाश में लाकर उसे विज्ञानमय ब्रह्म का दर्शन भगवान् कृष्ण ने ही कराया। अतएव मानव विकास की अष्टम पीढ़ी में संसार पूर्ण सभ्य हो गया था। (९) इस समय का मानव बहुत सभ्य हो गया है उसका मस्तिष्क इस समय भी वर्धमान है। मानव ने अपने सुख ऐश्वर्य के साधन अत्यन्त अधिक मात्रा में बना लिये हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि उसने अपने परम्परागत आध्यात्मिक वैभव को छोड़ सा दिया है। अतएव मानव की

नवमी पीढ़ी में अभी भी **गौतम बुद्ध** जैसी अनेक विभूतियाँ उत्पन्न हुईं और हो रही हैं और आगे होती रहेंगी। विवेकी मानव भविष्य का भी अनुसंधान कर लेता है। ऐसे मानव को दिव्य मानव, त्रिकालज्ञ मानव और महान् मानव कहा जाता है।

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूलोकमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते वलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते
पौलस्त्यञ्जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यन्नमः।

जीव का हृदय उसमें हंस चार या सोऽहं की भावना—

जीव की श्वास में नियत अग्नि और सोम ये दो तत्व रहते हैं। श्वास के प्रवेश निर्गम काल में ह और स, सूर्य और सोम तत्व क्रमशः प्रवेश और निर्गम करते रहते हैं। स यह सोम या चन्द्र वर्ण है, स के उच्चारण से श्वास नलिका से वायु अन्तः (फेफड़ों) में जाती है। ह यह सूर्य वर्ण है, इससे फेफड़ों की दूषित वायु श्वास रूप में वहिर्भूत होती है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में—

"हकारः कीर्त्तितो सूर्यः सकारः चन्द्र उच्यते"
ह कारः निर्गमे प्रोक्तः सकारोऽन्तः प्रवेशने—इत्यादि।

इसी प्रकार ह और ठ से (हठ योग) ता और ल से 'ताल' शि और व से शिव, रा और म से राम, हं और स से हंस या सोऽहम् इत्यादि स्वाभाविक उच्चारण प्रत्येक जीव का होता रहता है।

भविष्य का ज्ञान=

फलादेश के बहुविध ज्योतिषशास्त्र की पद्धतियों में स्वर शास्त्र का फलादेश सटीक ठीक होता देखा गया है। फलादेश की यह भी एक वैज्ञानिक पद्धति है, जिसका दिग्दर्शन निम्न भाँति किया जाता है।

शिव स्वरोदयं में—

'स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गन्धर्वमुत्तमम्
स्वरे च सर्वं त्रैलोक्यं स्वरमात्मस्वरूपकम्'।

भाष्ये—स्वरमात्मस्वरूपकमस्तीति योगगम्य इति ध्वनिः।

देह में नाभि मूल से अहिस्वरूपिणि कुण्डलिनियाँ दश नाड़िका नाभि से ऊपर एवं दश नाड़िका नाभि से दक्षिण में गई हुई हैं। प्रत्येक नाड़ी से दो दो लम्बी नाड़ियाँ पूर्व पश्चिम को गई हुई हैं। इस प्रकार १०×२=२०+४=२४ मुख्य नाड़ियाँ हैं श्वास नलियों से फेफड़ों में श्वास पहुँच कर समान नामक वायु शरीर में सर्वत्र समान रूप से चलता है। इसी प्रकार सुषुम्णा एवं नासा पुट, कर्ण, चक्षु आदि से द्विविध वायु का शरीर में संचार होता रहता है। नासिका की बाईं ओर से श्वास का प्रचलन चन्द्र या शक्ति या सोम स्वर तथा दाहिनी नासिका से श्वास के गमन का नाम सूर्य या अग्नि स्वर का प्रचलन कहा जाता है।

जैसे—

> इड़ा नाड़ी स्थिता वामे……
> हकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारोऽन्तः प्रवेशनम्
> हकारः शिवरूपेण सकारः शक्तिरुच्यते
> शक्ति रूप स्थितश्चन्द्रो वामनाड़ीप्रवाहकः
> दक्ष नाड़ी प्रवाहश्च शम्भुरूपो दिवाकरः ।

ये सब दाहिनी और बाईं नाड़ियाँ श्वास प्रवाह की सूचिका हैं । (१) बाएँ अथवा दाहिने नासा पुट में श्वास की प्रगति के समय पृथ्वी तत्त्व का प्रचलन होता है । (२) यदि नासा पुट के उर्ध्व भाग से श्वास का प्रवेश निर्गम हो तो प्राधान्येन अग्नि तत्त्व का प्रचलन होता है । (३) नासा पुट के नीचे से स्पर्श करता हुआ श्वास के प्रचलन वायु में जल तत्त्व का प्राधान्य होता है । (४) नासिका के दोनों भागों को स्पर्श करती हुई वायु की श्वास में वायु तत्त्व प्राधान्य होता है । (५) दोनों नासिका के मध्य में (बीच में) संक्रमण कालीन वायु की श्वासा में आकाश तत्त्व का प्रचलन जीवन की जीविका है । जैसे स्वरोदय शास्त्रों में—

> मध्ये पृथ्वी अधश्चाप ऊर्ध्वं वहति चानलः
> तिर्यग्वायुप्रवाहश्च नभो वहति संक्रमे ।

$\frac{५}{२}$×२४ मिनिट=६० पल में प्रायः शरीर में एकत्व का प्रचलन होता है । संजीवन तत्व को शरीर के भीतर एवं निर्जीवन तत्त्व को बराबर बाहर करते रहने का अभ्यासी दृढ़ योगी अमरत्व को प्राप्त होता है । जिस शरीर में संजीवन तत्त्व की श्वास द्वारा न्यूनता होगी उस शरीर रूपी मन्दिर की जीवन रूपी प्रतिमा शरीर मन्दिर से शीघ्र ही पृथक होकर शरीरी को पञ्चत्त्व की प्राप्ति करा देती है । प्रथम २४वें मिनिट के अन्त में पार्थिव तत्त्व की समाप्ति तथा जल तत्त्व का प्रारम्भ होता है । इसी क्रम से २४×५=१२० मिनिट=२ घण्टे में पञ्च तत्त्वों के प्रचलन की समाप्ति द्वितीयावृत्ति की प्रारम्भिक स्थिति रूप संक्रान्ति से अहोरात्र के २४ घण्टे में $\frac{२४}{२}$=बारहों संक्रान्तियाँ एक अहोरात्र (२४ घण्ठे में) हो जाती हैं ।

किसी भी इष्ट समय में श्वास द्वारा शरीर में पृथ्वी, जल, तेज प्रभृत्ति तत्त्वों में किस तत्त्व का इस समय प्राधान्य है, उसे समझ कर प्रत्येक मानव का शुभाशुभ फल विचार किया जाता है । (१) पार्थिव और जल तत्त्व प्रचलन के समय में, अभीष्ट कार्य की सिद्धि, तेज तत्त्व में कार्य में संशय, आकाश और पवन तत्व के समय कार्य विफलता होती है ।

पञ्चतत्त्वों के प्रचलन से हृदय का स्पन्दन और उनका प्रभाव—

जीव का हृदय आम्र फल की तरह है, यह काय और शल्य चिकित्सकों ने प्रत्यक्ष देखा है । स्वर शास्त्राचार्य तो हृदय के वस्तु स्वरूप के ८ आठ विभागों में प्रत्येक विभाग के दो-दो विभाग मानते हैं । इस प्रकार हृदय के अष्टदल कमल के १६ विभाग होते हैं । प्रायः वर्तुल आकार के हृदय में पूर्व अग्नि दक्षिण प्रभृति आठ दिग्विभागों को नियत समझ

कर आग्नेय दिशा के हृत्कमल के प्रथम पत्र के दो विभागों में हृदय के केन्द्र बिन्दु से प्रारम्भ कर पञ्चतत्त्व प्रचलन की विधि निम्न भाँति समझी जानी चाहिए।

हृदयकमल में "हंस" चार
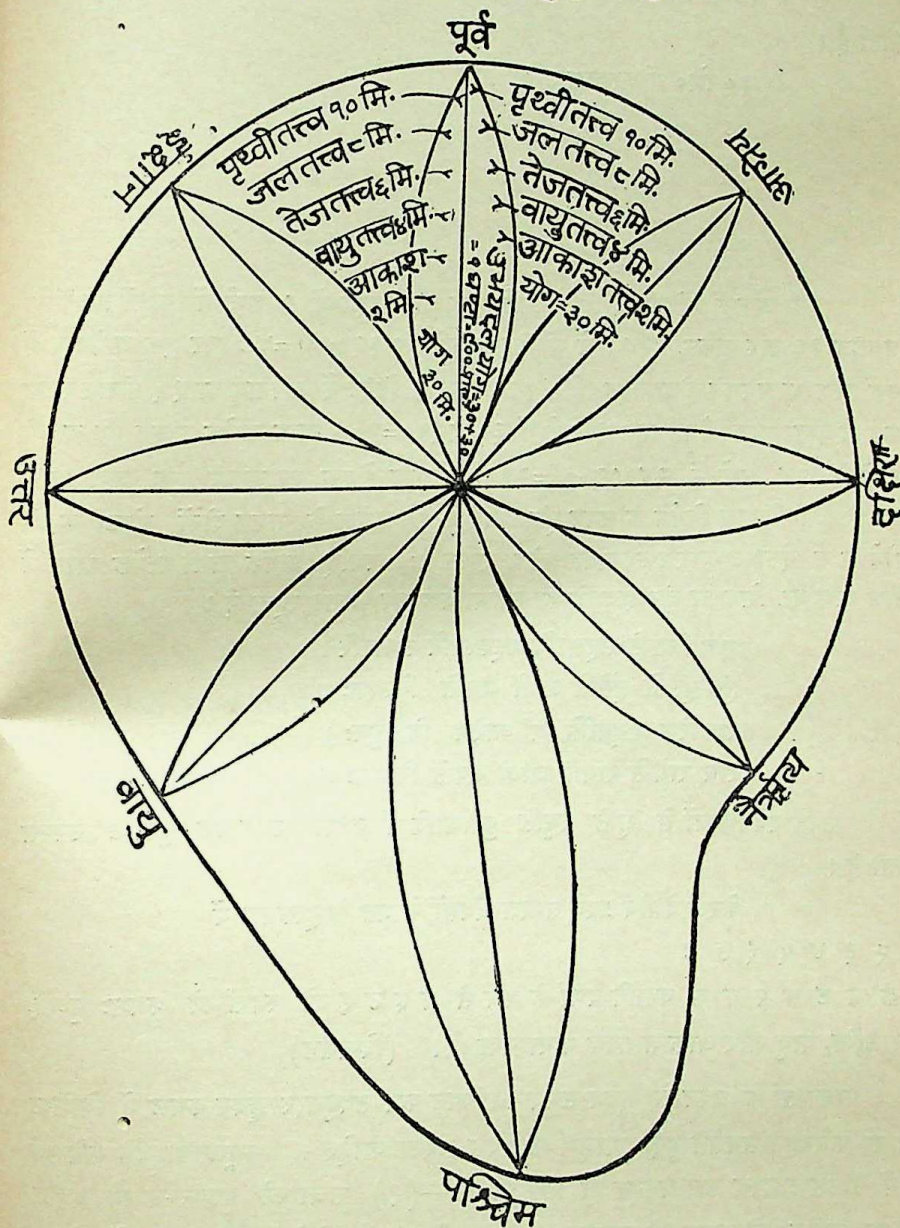
आग्नेय दल के पूर्वार्ध में ३० मिनिट में पाँचों तत्त्वों का प्रचलन आरोह क्रम से होता है।

२ मिनिट तक पृथ्वी तत्त्व
४ „ जल „

६ मिनिट तेज ,,
८ ,, वायु ,,
१० ,, आकाश

आग्नेय दल के उत्तरार्ध में भी ३० मि० में पाँचों तत्वों का प्रचलन आरोह क्रम से होता है।

१० मि० में आकाश तत्त्व
८ ,, वायु ,,
६ ,, तेज ,,
४ ,, जल
२ ,, पृथ्वी

इसी प्रकार दक्षिण से........पूर्व तक आठों दलों में ८ घण्टे में पाँचों तत्त्वों का प्रचलन १६ बार होकर, २४ घण्टे में तीन आवृत्ति से १६ × ३ = ४८ बार एक अहोरात्र में एक तत्त्व का प्रचलन होता रहता है। इसी प्रकार १ मिनट में प्राणवायु का १५ संचार श्वास क्रम से होता रहता है। अतः १ घण्टे में ६० × १५ = ९०० श्वास प्रत्येक मानव की चलती रहने से २४ घण्टे में २४ × ९०० = २१६०० श्वासाएँ एक मानव की एक अहोरात्र में चलती हैं। श्वास निर्गम के समय मुँह खुलने से रा, प्रवेश के समय दोनों ओष्ठों के बंद होने से म ऐसा उच्चारण स्वभावतः होता रहता है; अर्थात् प्रत्येक प्राणी प्रत्येक श्वास में राम नाम या, शिव या हंस इत्यादि का स्वाभाविक जप करता रहता है।

एक विंशति सहस्राणि षट्शतानि तथोपरि ।
हंस हंसेति हंसेति जीवो जपति नित्यशः ॥
राकारेण वहिर्याति 'म' कारेण विशेत्पुनः ।
राम रामेति रामेति जीवो जपति नित्यशः ॥

उक्त गवेषणाओं से श्रुति स्मृति पुराणादि में कथित उक्त पद्य सुस्पष्ट उपपन्न होता है।

केरल देशीय प्रश्न तन्त्रज्ञ दैवज्ञों के मत से हृत्कमल में

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
अ क च ट त प य श वर्गादि वर्णों के क्रम से अ इ उ ए ओ स्वरों को क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्व माना गया है। (दिग्दर्शन)

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न के सूक्ष्म समय को जान कर तदनुसार हृदय कमल में विशिष्ट तत्त्व का परिवहन समझते हुए शुभाशुभ फलादेश करना चाहिए। स्थूलतया जैसे यदि पूर्व दल में विशिष्ट तत्त्व का प्रवहन हो रहा हो तो—(१) राजा को युद्धारम्भ की इच्छा साधारण व्यक्ति, को कलह की इच्छा। (२) अग्निदल में विशिष्ट तत्त्व वहन में भोजन की इच्छा होती है। (३) दक्षिण दल में विषय वासना की इच्छायें मन में उत्पन्न होती हैं। (४) नैऋत्य दल में अत्यन्त कोप का प्रादुर्भाव होता है। (५) पश्चिम में अत्यन्त प्रसन्नता होती है। (६) वायु दिशा में किसी अभीष्ट दिग्गमन की इच्छा होती है। (७)

उत्तर में चित्त में अत्यन्त करुणा उत्पन्न होती है। (८) ईशान में, किसी ऊँचे पद पर जाने की इच्छा होती है। स्वरशास्त्र के ग्रंथों में इसी प्रकार उत्तरायण, दक्षिणायन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, घटी, पल प्रभृति स्वरशास्त्रोपयोग के निर्मित पंचांगों तथा अग्नि सोम तत्त्वों के विचार से जीव के यावज्जीवन का शुभाशुभ फलादेश किया गया है। इस स्वरशास्त्र की ज्ञान विधि से हृत नष्ट चौर्य्य प्रभृति पदार्थों का भी सम्यग्ज्ञान किया गया है तथा **चौरनाम स्फुटं भवेदि**"त्यादि से चोर का नाम भी ज्ञात किया गया है। मानव की हृद्गति में तत्त्व विशेष के प्रचलन से रक्त चाप की न्यूनाधिक गति से ऊर्ध्व रक्त संचार तथा एवं अधोरक्त संचार का भी सटीक ज्ञान तथा उसको प्राकृतिकता पर लाने को अनेक यौगिक क्रियाएँ भी बताई गई हैं।

उक्त क्रम से मानव की ठीक आयुष्य भी जानी गयी है। जिस शरीरी के शरीर में वायु तत्त्व के समय जल तत्त्व या जल तत्त्व के समय वायु तत्त्व या तत्वों का व्युत्क्रम होता देखा जायगा, उस शरीरी की नाड़ियों की गति में पर्याप्त अन्तर पाया जायगा।

प्रायः वात तत्त्व की प्रधानता में शनि ग्रह के प्रकोप से शनि ग्रह की सार भूत स्नायु सार रक्त प्रवाहिका धमनियों में तीक्ष्णता हो जान से वे दुर्बल हो जाती हैं। अतएव शरीरी की यह स्थिति चिन्ताजनक हो सकती है। ऐसी स्थिति में अधिक ऊर्ध्व की श्वास-गति को प्राणायाम से प्राकृत रूप में लाकर शरीरी सुखानुभव करता है। स्वर और प्राणायाम के अभ्यासी मानव अपने शरीर में तत्वों का सन्तुलन रखते हुए स्वयं अपने सात्त्विक आहार की भी गवेषणा कर तदनुकूल आचरण से दीर्घजीवी होकर संसार की या समाज की नहीं तो अपने परिवार की उत्तम सेवा कर सकता है। प्राची प्रतीची विद्याओं के उत्तम लाभप्रद सिद्धान्तों के समन्वय से हम एक अच्छी स्थिति प्राप्त कर संसार को लाभान्वित कर सकते हैं। अतएव भारतीय ज्योतिष के स्वर शास्त्रों के बहुमूल्य अनुपम ग्रंथों के प्रकाशन और उनसे ज्ञानवर्द्धन द्वारा लोकोपकार के अनेक सुख साधनों को प्रस्तुत करने की दिशा में अपनी सीमा से सभी की सहायता जो अपेक्षित है, करनी चाहिए।

PRODUCTIVITY AND INDUSTRIAL STRIFE.

Dr. D. P. N. SINGH

Deptt. of Commerce

The term productivity denotes the idea of utmost utilisation of available resources of men, machinery, material, money-power and land, etc., the end in view being the highest possible production at the lowest possible economic and social cost. But the technical term as under-stood in industries signifies the "ratio between the production of a given commodity measured by volume, and one or more of the corresponding input factors, also measured by volume."[1]. Here productivity of any factor of production or any combined factors of production can be taken into consideration. Under the factors of production, come Labour, Capital, Power, Raw materials etc. It is very difficult to measure the productivity in general of all the factors of production at a time, although the volume of production is a combined out-come of all the factors of production.

Economists have taken Labour as a prominent factor of productivity in the earlier stages of productivity measurements in the industries. Complications were not visualised in the earlier studies, and Labour as a factor of production was assumed to be grinding force to study this concept. So Labour-productivity was taken up as the ratio of output to labour input. Gradually complications increased due to the increasing importance of automation, raw material and other equally essential factors, influencing the overall productivity. A note of warning has been issued while defining the labour productivity "that Labour productivity data should be interpreted with utmost caution." In fact one has to guard against two possible dangers in analysing such data—(*a*) Danger of placing undue emphasis upon what can be done by workers to increase production. (*b*) Danger of giving insufficient attention to problem of what can

[1] Measurement of Productivity—1952 OEEC.

be done to increase production[1]". This issue has pinched the experts on productivity studies and expressed doubts on accepting Labour as a main and dominating factor of productivity. For instance Prof. H. S. Davis doubted the efficiency of Labour by putting a question "Can the efficiency of industry be fully measured by the ratio of physical output of labour effort put forth, including the sum total of actual and embodied Labour? Partially, the answer of this doubt was given by Prof. Bye when he identifies the basic elements of production as "(1) efforts, (2) ability, (3) savings, (4) land space, (5) natural material and (6) riskbearing." Of these six elements, man-hours can be used to measure only the expenditure of effort and ability and even the man-hours can only be rough measure of these elements, since they do not register variations in the degree of effort or grade of ability expended[2]. Unfortunately, no practical method has yet been devised to measure the total input of all factors. That's the main reason, why most of the discussions in the highly developed countries are limited to Labour productivity i.e. the amount of goods and services per-man hour of labour.

From the earlier analysis, one should not conclude that Labour as a factor of production, influences the overall-productivity of an industry in a lesser degree. It plays an important role in the measurement, and advancement of productivity in the industry. In developed countries, Labour is scarce, and in our country, comparatively in large number. This number might give an opportunity to the productivity experts to evaluate on comparative basis and give verdict that its importance is more in developed countries and less in India. Another reason of undermining the significance of labour in our country is the poverty of our resources with greater scarcity value which calls for greater attention and care in their utilisation. Inspite of all this, much can be said and can be discussed on eco-

[1] I. L. O. Higder Productivity in Manufacturing Industries. Studies and Report—New Series No. 38,1954.

[2] Davis H. S. The Industrial Study of Economic Progress, University of Pennsylvania Press. Philadalphia, 1947.

nomic-cum-technical aspects of productivity of labour and other factors of production.

The main issue for our discussion lies in the "Labour Strife". We have to judge whether 'Labour Strife' affects the efficiency of Labour of an industry or not? In other words whether industry looses its productivity due to such labour-movements. The goal of all discussions and improvement in the industries lies in the betterment of the labour employed in the industry. Betterment signifies increase in the standard of living, improvement of good relations and the development of co-operative spirit in the industry. History of scientific advancement and rapid speed of progress is an eye opener of the mankind. People will not like to remain backward economically when they know that science and technology can help them to go to higher levels. But unfortunately 'Labour' is treated by the owner of industry as a 'factor' of production. Labour gets, in our country in particular, less importance, than a machine or capital. When economists (Materialistic concept) start taking productivity as a whole, they put man's 'physical power' as a productive factor. Flesh and blood bacomes an item of comparison with the power of machine which runs by steam or electricity. The ideals remain on paper and the reality comes forward in the shape of denouncement of labour as a productive force. He gets the rewards of what he is capable to produce or even less based upon bargaining factors. In other words, labour is ruled by the materialistic conception and it is not regarded above the machine in the work. Workers have to abide by such rules etc. prepared by the owner of the industries, but one cannot change the nature of man. Human nature is a convenient term for designating "the totality of motives contradictory and often mutually exclusive in action, which constitute the electric current so to speak which charges the human being with aliveness and *continuing action*."[1]. *Human* nature constitutes the basic or innate traits as, reflexes, instincts and proclivities to certain

[1] Tead, C. Human nature and management, p. 15.

types of activity.Dr. R. L. Soman, in his theses of "Peaceful industrial relations, their Science and Techniques", discussed at length the psychological approaches and solutions for the evils brought by machines. According to his approach, "the conspicuous human desires which are seeking constant expressions are the positive characteristics of love of family, of association, of creation, of assertion, and of group approval. Thus human personality finds its expression, development and fulfilment in the demand for fullness of life, creative power, comradeship and love. This fulfilment of personality liberates in the individual those qualities which make him free, active and energetic. This naturally enhances the industrial production.[1] Suppression of human traits naturally leads to pyhsique revolt against those conditions and persons responsible for suppression. Effort should therefore, be made in the interest of the industrial peace, efficiency and progress so that the natural and legitimate channels through which this self is expressed shall not be blocked but are allowed to follow without interruption.[2]

The fellings and inherant-gifts can never be suppressed. The owner of the industry, when he realises a bit of such felings tries to console them by giving certain facilities, it might be incentive bonus or housing or medical or any such things, to show sympathy towards them. In return they expect better results, more work and more efficiency. Here lies the real problem, when an economist analyses the issues, a question is asked "Can less or more incentives of production, satisfy the Labour ? Answer is no. He thinks in terms of equality of opportunity, equality in engagement, and equality in profit, etc. Participation in the management, control and progress of industry is the keen desire of all the labourers in the industry. In the true sense, Labour dreams of socialised industrial control and not one man's control and others to work as his servants.

[1] pp. 158.
[2] Ibid. 160.

So long their dream which can be called the goal is not realised, the discontent will always exist in Labour. Instances are many in India. Tata Iron and Steel Company Limited (TISCO) is paying to its skilled and unskilled workers, much more than any ordinary or average industry of India. As regards their incentive bonus, that too is incommendable. Over and above this, other facilities are also granted in this industry which are dreams for workers in the other industries. Still strikes and discontent or threats by the workers to the management are there. It is another thing to say that comparatively the position of production and good relations is better in TISCO than in other factories. In most of the factories the position of labour, according to the terms of employment is in no way better so far as fair wage is concerned.

Taking into consideration the present position, experts on productivity have suggested for our country employment of other factors of production which are scarce. Scarce factors will push up the overall productivity in the industry. Example of American automation schemes and their improvements is cited without taking into consideration the resources on which the labour of our country has to fall upon. Inspite of two five-year plans, nearly 1½ crores persons are either unemployed or partially employed. If the suggestions for technical improvements and replacement of labour for the increased efficiency of over all industry, are to be entertained, the problem of displaced person has to be solved not theoretically but with concrete and suitable methods. In this direction a sound and sincere policy of late Mr. Kennedy, ex.-U.S. President who declared his twelve-point programme on 2nd February, 1961 to fight the recession in U.S.A. particularly caused by automation and unemployment can be cited as an example. Main points in the anti-recession programme are :—

(1) A reduction in the rate of long-term interest to encourage investment.

(2) Raising of federal and local expenditure for building, and of national expenditure for defence.

(3) A group of measures to aid the unemployed and distressed areas.

(4) Higher social security benefits for 4,500,000 widows, invalid old peoples.

(5) Higher minimum wage.

With the above powerful policy, he declared to set up committees on the national basis, an Advisory Committee on Labour Management Policy on which trade unions, employers the Government and the public would be represented, and which would deal with automation, productivity, prices and industrial peace. This will give moral support to the cause of productivity and not otherwise. As pointed out earlier, strife comes when the legitimate share of labour is denied and his future is darkened.

We have reaslised the importance of productivity and for the proper utilisation of all the factors of production re-adjustments with more opportunity to the labour have to be made. In this direction National Productivity Council with the help of productivity experts and from time to time taking the advice of foreign experts, is giving help to the industries. This is in the right direction. But this organisation is in infancy and the task before it is tremendous. Now from the earlier discussion, we can easily discuss the direct effect of industrial strife on productivity. How far productivity of the industry will be affected by labour ? The loss can be measured from the output but the great loss of efficiency comes in. It will damage the economic-cum-technical advancement and naturally productivity too. Productivity to-day in western countries has become the order of the day. A labour feels proud to increase the efficiency of operations, by which he can imporve his own efficiency. In an economy such as ours—operating at such low levels of productivity, it should be immediately possible over a fairly wide front to link-up increased productivity and higher remuneration for workers. The Productivity Team which went to U..K., U.S.A. and Germany, has cited the example of a bus driver. They say, If a bus driver works as a con-

ductor also, he should be straightway entitled to at least a part of remuneration payable to the conductor. As road transport is going to expand very considerably, there should be no fear of reduction in the volume of employment. This proposition may be difficult for some time, but the combination of a bus driver-cum-mechanic may have to be soon adopted and worked up, because the losses on account of bad and inefficient operation of machines of all sorts are so enormous that any efficiency bonus payable to drivers and operators would be a small part of the losses being incurred. A public bus in India costs 40 to 50 thousand but it becomes just a wreck after 2 to 3 years, mainly because of bad driving and lack of attention to maintenance. We lose capital investment of Rs. 40 to 50 thousand in two or three years. In the U.S. and West Germany a bus lasts for more than 10 years and is saleable to under-developed countries afterwards. We do not pay more than Rs. 150 per month to a bus driver, and actually the depreciation loss exceeds Rs. 800 per month. If the life of the bus could be doubled the depreciation cost will be reduced to Rs. 400/- or less in a month, a part of this saving in depreciation can be given to the driver as an incentive and fair wage. It appears inevitable that the economy will either develop along these lines or will be made to do so. It would, (as suggested in the end) of course, be wiser that such a situation should be brought about by mutual understanding and proper- co-operation and not after the bitter experience of capital waste and inefficiency.

A very interesting case of Ahmedabad Textile Labour Association can be cited. Association has entered in an agreement with the Textile Industries Management, to co-operate, discuss and prepare ground for participation in the management. Moderate facilities to the worker has been provided for accommodation, welfare and education. The outcome of all these can be studied from the following comparative figures of Ahmedabad Mill workers and of Bombay Mill workers as follows:, "The production in Ahmedabad per worker per month was about 800 yds. (1956). The absenteeism figures for Ahmeda-

bad since 1947 till Sept. 1955, are the least among the three textile centres of the Bombay State. The percentage of deficit budget (1948) in Ahmedabad was 20/ while the same in Bombay was 33.5.%. The dearness allowance till 1953 was generally greater in Ahmedabad than in Bombay. The bonus sums (1955) in Ahmedabad and Bombay were respectively Rs. 90 and Rs. 64-4-5-.[1]

This example cannot be given as an ideal to our country but it can be appreciated for encouraging the over-all productivity in the industry. If the schemes of automation, better training to worker and facilities to live and work is provided, we are sure to improve the efficiency of men and material. An other instance of Tata Iron & Steel Works can be given, where a school for management training is running to impart a scientific knowledge to the supervisory staff and the employees. They have seen the outcome of such courses in their improved efficiency of labour and machine.

Dr. P. S. Lokanathan has remarked on the attitude generally taken by our industrialists, "if increased productivity is due to installation of a new or more efficient machine, all benefits should go only to capital. Even assuming that snch a view is correct, it is not fair. The very fact of increased productivity should be the basis for sharing the prosperity of the concern. The attitude towards this should be one of co-operativeness. It is obvious that the mere introduction of a new machine cannot by itself bring about increased productivity, unless the workers co-operate to use the machine and maintain it properly. The idea that capital investment can be separated from the co-operative work of labour is unrealistic. There is hardly any work which is not the resultant of all the factors of production of which labour forms a mojor part."

The attitude of labour and his employer has to be changed. The paramount social objective is to build up a progressive economy. The working class surely has no incentive to work unless it gets a commonly accepted minimum. The worker

[1] Report—N. P. C.—p. 3, Oct.,—Nov., 1960.

must get his share for better standard of living. This will help to raise the industrial productivilty and check the strife. Fellow feeling and co-operative spirit has to be developed in the real sense. In general good relations, co-operative attidute and willing assistance between employer and employee along can bring a solution to the problems of higher productivity increased efficiency and better utilisation of machine, capital, raw, material and, over and above, labour itself.

In conclusion it may be stated that Labour, although a factor of production and affecting productivity as a whole, has to be treated in a different way as compared to machine and capital. Due importance to labour has to be given so that there is no strife and the basic ideals of increasing productivity and increasing the efficiency of all the factors of production may be achieved.

संस्कृत राष्ट्रभाषा भवितुं अर्हति न वा

डा० भक्तिसुधामुखोपाध्याया
महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संस्कृतभाषा भारतस्य चिरन्तनीनां शिक्षासाधनाज्ञानसंस्कृतीनां धारिका अस्ति। अनया भाषयैव रामायणं, महाभारतं, तन्त्रं, पुराणानि, दर्शनानि, काव्यानि, व्याकरणं, आयुर्वेदो, नाटकानि नाट्यसंगीत ज्योतिषवास्तुप्रतिमानिर्माणशास्त्राणि, इतिहासाः कथाश्च सर्वं विरचितम्। 'क्राइस्ट' शताब्द्या षट्शताब्दीपूर्वमेव भारतस्य सर्वेषु प्रान्तेषु प्राकृतभाषा उदपादिषन्त। संस्कृतस्य अवनतेः पश्चात् तस्या भाषाया विकारेण एता दैनन्दिनजीवने व्यवहार्याः प्राकृतभाषा उत्पन्नाः। पुनः विकृतिमापन्ना एता क्राइस्टोत्तरनवमशताब्दीकल्पे काले अपभ्रंशनाम्ना आसत। तदनु अधुनिका हिन्दीबंगालीमराठीप्रभृतयो भाषास्ताभ्यो नानाविधाभ्योऽपभ्रष्टभाषाभाषाभ्य एव उत्पन्नाः।

एतावत्परिवर्तनमध्येऽपि संस्कृतस्य पूर्वगौरवं महत्त्वं वा अक्षुण्णमेवासीत्। यवनराजत्वकाले 'फारसी' ति नाम पारस्यदेशभाषायां राजभाषारूपेण गृहीतायामपि संस्कृतस्य माहात्म्यं सर्वैः स्वीकृतमासीत्। अष्टादशशताब्द्यां पुनः आंग्लशासनपद्धतेः प्रवर्तनेन सह आंग्लेशिक्षासंस्कृत्योः प्रभावेण संस्कृतं प्रति भारतीयानां श्रद्धा अन्तर्हिता। ततः प्रभृति गीर्वाणवाणी महतीमवनतिं प्राप्ताः।

उनविंशशताब्द्यां संस्कृतभाषा पाश्चात्यपण्डितैः यूरोपमहादेशे प्रचारिता। सर्वे जगद्वासिनः एतायाः शक्तिमत्त्वं, लालित्यं, अर्थगौरवं, एतद्भाषानिबद्धस्य साहित्यस्य मनोहारित्वं, दर्शनादीनां शास्त्राणां बुद्धिकौशल्यपूर्वकं प्रतिपादनं इत्यादिकं दृष्ट्वा परं विस्मयमापन्नाः। संस्कृतं प्रति श्रद्धानाश्च बभूवुः। वैदेशिकानां एतावन्तं संस्कृतानुरागं दृष्टवा भारतीया अपि संस्कृतचर्चामारेभिरे।

यदा जातीयताबोधस्य देशात्मभावनायाश्च प्रेरणा भारतीयान् नवीनभावेन उद्बोधयामास, देशमातृकायाः सेवकैर्देशजनन्या वन्दनारचनाया आवश्यकीयतानुभूता तदा बंगगौरवश्चट्टोपाध्यायोपाधिको बंकिमचन्द्रः संस्कृतभाषया 'वन्देमातरम्' इतिराष्ट्रगीतस्य रचनां चक्रे।

अधुना स्वतंत्रभारते संस्कृतस्य गौरवं सर्वैः स्वीक्रियते। भारतीयशासनतंत्रेण अस्य देशस्य 'इण्डियर' इति नाम परित्यज्य भारतं नाम स्वीकृतम्। उपनिषदः वाक्यं 'सत्यमेव जयते' राष्ट्रस्य आदर्शवाक्यरूपेण गृहीतम्। संस्कृतबालया बंगभाषया विरचितं 'जनगणमन' इतिगीतं राष्ट्रगीतरूपेण स्वीकृतम्।

सामाजिकदृष्ट्यापि संस्कृतस्य माहात्म्यं शाश्वतिकम्। यद्यपि षोडशसंस्काराणां बहवोऽद्यत्वे परित्यक्ता विस्मृतप्रायाश्च तथापि अन्नप्राशनचूड़ाकरणोपनयनविवाहादिकाः संस्कारा इदानीन्तनकालेऽपि सम्पाद्यन्ते। दुर्गोत्सवादिष्वनुष्ठानेषु रामनवम्यादिषु व्रतेषु संस्कृतमंत्रोच्चारणेन अर्घ्याञ्जलिप्रणामादिभिः पूजा क्रियते। अन्नप्राशनादिषु संस्कारेषु

व्रतपूजादिष्वनास्था चेद् विवाहे अनादरः तद्वर्जनं वा प्रायेण न दृश्यते। प्रत्युत 'रजिस्टर्ड मेरेज्' व्यापारेष्वपि बहुशः विवाहस्य पञ्जिकान्तर्गतकरणानन्तरं परम्परागतरीत्या पुरोहितेन मंत्रोच्चारणक्रियान्वितो विवाहसंस्कारः क्रियते, तथाविधमुत्सवादिकं च विरचय्य हर्षप्रकर्षः लभ्यते।

सत्यपि जडवादभोगवादप्रपूरिते विश्वे सन्ति हि अद्यत्वेऽपि भारतीयसंस्कृत्यनुसारिणो जना ये नित्यमिष्टदेवपूजनं कुर्वन्ति, संस्कृतस्तोत्रेण देवान् स्तुवन्ति संस्कृतमंत्राण्युच्चार्य प्रणमन्ति च। संस्कृतज्ञानहीनैरपि 'शुभस्य शीघ्रं' 'येन केन प्रकारेण' 'कथमपि' इत्यादि संस्कृतखण्डवाक्यानि व्यवह्रियन्ते। अतः संस्कृतस्य क्षेत्रं विशालं, प्रसारितं च तद्दिशि दिशीति स्वीकर्तव्यमेव सर्वैः। एतदपि स्फुटं यन्नास्ति कोऽप्येवं भारतवर्षे यः कदापि केनापि प्रकारेण संस्कृतसम्पर्कं नायातः।

यदुच्यते बहुभिः संस्कृतभाषा मृतभाषा, एषा व्याकरणनियमशृंखलाभिः भृशं प्रपीडिता हृद्गतभावानामवबोधनेऽसमर्था, संस्कृतभाषानुशीलनमतिकठिनं चेति तत् सर्वथालीकम्। संस्कृतभाषा कथमपि मृतभाषेति कथयितुं न युज्यते, यद्येषा मृताभविष्यत् तर्हि प्राकृतभाषोत्पत्तेः द्विसहस्राधिकवर्षकालपश्चात् सत्यपि एतावत्कालमध्ये बहुधा वैदेशिकाक्रमणे प्रतिष्ठिते च तेषां शासनेऽस्याश्चिह्नमप्यवलुप्तमभविष्यत्। किन्तु प्रागेव दृष्टमस्माभिः कथं संस्कृतमज्ञाततयापि व्यवहारेषु प्रयुज्यते। अतः देवभाषा मृता न किन्तु पुत्राणां अवहेलनया अनादरेण वा यथा वृद्धा जननी मृतप्रायैव तिष्ठति अस्या दशापि तथाविधैव। रसायनसेवनेन शारीरिकव्यायामेन संवाहनादिना वा यथा शरीरे शोणितसंचालनं भवति, अस्वस्थतया चान्तर्धायिते तथैव एतायाः संस्कारः, प्रचारः, सरलीकरणं, नित्यकर्मेषु प्रयोगश्च क्रियन्ते चेदेषा जननी, स्वास्थ्यं, पुष्टिं, शरीरदाढ्यं च प्राप्स्यति। बहुभिरुच्यते एताया अनुशीलनं न सुकरम्। एतदप्ययुक्तम्। सत्यं, सन्ति हि बह्वो व्याकरणविधयो येषामभ्यासः प्रयोगश्च दुष्कर एव। किन्तु किमुच्यते आंग्लभाषाशिक्षाविषये? अस्माकं भाषाणां तत्समशब्दाः संस्कृतशब्दा एव अतः संस्कृतरचनाकाले तत्समशब्दप्रयोगे नास्त्यस्माकं किमपि काठिन्यं, तद्भवोऽपि सौकर्येण मूलशब्देषु परिवर्तयितुं पार्यन्ते केवलं देशीशब्दानां परिवर्तन एव आयासः कर्तव्यः। आंग्लभाषायाः शब्दास्तु नितान्तवैदेशिकाः। नास्ति तेषां किमपि सादृश्यमस्माकं शब्दैः। व्याकरणनियमानामभ्यासः प्रयोगो वा द्वयोरेव भाषयोः शिक्षितव्यः। किमुच्यते, तथापि संस्कृतानुशीलनमेव दुःसाध्यतरम्?

सत्यामपि एवंविधायां स्थित्यां आग्लभाषाऽपि अनेकसंख्यकजनैः शिक्ष्यते। उच्यते चेत् 'आंग्लभाषायाः स्वतंत्रभारते माहात्म्यं खर्वीकृतं अस्य तावान् प्रचारः प्रसारो वा नास्ति अभ्यासपाटवसंस्कारादिभिः समर्थसुयोग्यजनैरेवैतायारनुशीलनं क्रियते अन्यैश्च परिवर्ज्यते तदप्ययुक्तम्। काममस्त्वेवमिदानीन्तने काले किन्तु पुरा एषा भाषा विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु चानिवार्या आसीत् न केवलं भाषा, अस्याः साहित्यं वा जनैरधीतं किन्तु शिष्टजनानां शिष्टानुकारिणां वाक्यालापोऽपि आंग्लभाषायामेव सीमित आसीत्। नानाशास्त्राणामध्ययनाध्यापनमाध्यमोऽपि आंग्लभाषासीत्। कैश्चित्तीक्ष्णधीभिरेषा नैपुण्येनानुशीलिता, व्युत्पत्तिश्चार्जिता अस्यां, इतरैः सामान्यजनैरप्येषा कथमप्यधीता छात्रावस्थायां विभिन्नशास्त्राणां माध्यमस्वरूपेण व्यवहृता दिनयात्रायां सर्वैरेषां बहुशः प्रयुक्ता।

कथमेतत् संवृत्तम् ? उच्यते । आग्लभाषाभाषिणः श्वेतांगा अस्माकं शासका आसन् । शासकजातिं प्रति श्रद्धया अनुरक्तया मोहने वा स्वदेशं स्वजातिं प्रति चानादरात् आत्मनः हीनंमन्यतया वा वयं सर्वेषु व्यापारेषु तेषां सर्वथानुगामिन अनुकारिणः प्रशंसकाश्च संजाताः । तेषां व्यवहारवर्तनादिभिः वयमेवं प्रभाविताः यद्यापि वयं गृहेषु विद्यालयेषु, सामाजिककार्येषु तानेव अनुकुर्मः । पाश्चात्यसभ्यतेन्द्रजालसम्मोहितैरस्माभिरांग्लभाषाशिक्षायाः सर्वं आयासः सुतरां स्वीकृतः, अद्यापि स्वीक्रियते च । आत्मावहेलनपराः वयं स्वभाषां न्यक्कृत्य परभाषां स्वीकृतवन्तः, अतएव नितरामुपेक्षिता अस्माकं भाषा मृतप्राया संजाता न पुनर्मृता ।

अतः संस्कृतं यदि आधुनिकभारते पुनः राष्ट्राभाषारूपेणोररीक्रियते तर्ह्येव जनन्याः देववाण्या एतावतः परिखेदस्य योग्यं वेतनं स्यात् । संस्कृतशिक्षा विद्यालयेषु अनिवार्या कर्तव्या । कथम् ? उच्यते, संस्कृतज्ञानं विना अस्माकमात्मीयसंस्कृतिसम्पर्कें ज्ञानं न सम्भवति । देवभाषा सर्वासां प्रान्तीयभाषाणां जननी । यद्येषा सम्यगधीयते तर्हि स्वभाषापि उन्नता भवति । संस्कृतं यदि राष्ट्रभाषा भवेत्तर्हि चत्वारिंशकोटिभारतीयैरेकभाषा-स्वीकारेण महान् एकजातीयताबोधः जातीयजागृतिश्च सम्भवतः ।

स्वतंत्रभारते प्राचीनभारतस्य गौरवानां ज्ञानाय तेषां सम्यगवबोधाय च बहूनि अनुसन्धानकर्माणि कर्तव्यानि किन्तु संस्कृतज्ञानं विना तानि न सुसंपाद्यानि । अतः सर्वैः संस्कृतस्याभ्युदयाय यतितव्यम् । कृतं हि कियन्मात्रं संस्कृतसम्बन्धि कर्मं स्वाधीनभारते ? संविधाने याश्चतुर्दश भाषाः स्वीकृता देवभाषा तासामन्यतमा । अन्येऽपि बहवः उपायाः संस्कृतस्य उन्नत्यै स्वीकर्तव्याः ।

विश्वविद्यालयानामुपाधिवितरणकाले संस्कृतमेव व्यवहृतव्यम् । वैदेशिकेभ्यः संवादादानप्रदानकाले प्राक्कालप्रयुक्तामाग्लभाषां परित्यज्य यदि प्रान्तीयभाषा कापि व्यवहर्तुं प्रस्तूयते तर्हि तत्स्थाने संस्कृतमेव प्रयोक्तव्यम् । पाश्चात्याः भारतीयानां भाषां संस्कृतमिति जानन्ति । देवभाषा न केवलं भारतीयजनानां भाषा; एषा सुललिता सुश्लिष्टा भाषा भाषाविज्ञानकौशल्यस्योदात्तभावनाप्रकाशसामर्थ्यस्य अशुद्धप्रयोगराहित्यस्य च हेतोः देवभाषेति कथ्यते स्वीकृतमेतत् भारतीयैः पाश्चात्यैरपि च । प्रतीच्यपण्डितेन उइलसनमहोदयेन उक्तं हि संस्कृतस्य माधुर्यसम्पर्के—

अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम् ।
देवभोग्यमिदं यस्माद्देवभाषेति कथ्यते ॥

यदि वैदेशिकैरपि अस्मै एवं महत्त्वं दीयते, अधीयते चैषास्तैः परमादरेण तर्हि कथमस्याः अपरिहार्यत्वमनिवार्यत्वं वा भारतीयगणैर्नांगीक्रियते ? भारतीयशासनतंत्रेणापि अस्मिन् विषये समधिकः मनोनिवेशः कर्तव्यः । यथा तेन सम्प्रति हिन्दीभाषायाः कृते भृशं यत्यते तथा संस्कृतस्य उन्नत्यावपि कर्तव्यमिति शम् ।

THE LEGEND OF CYAVANA

Dr. U. C. PANDEY,
College of Indology

One of the most important and interesting vedic legends is the legend of the sage Cyavana and king Saryāta. It is narrated at length in the *Śatapatha-Brāhmana* (IV. 1·5) in course of the treatment of 'Aśvina-graha' of the Soma-sacrifice.

"Now when the Bhṛgus, or the Aṅgirases attained the heavenly world Cyavana the Bhārgava or Cyavana the Aṅgiras was left behind here (on earth) decrepit and ghostlike. But Śaryāta the Mānava just then wandered about here with his tribe and setelled near by that same place. His boys, while playing, setting that decrepit ghostlike man at naught, pelted him with clods. He was wroth with the Śāryātas and sowed discord among them; father fought with son and brother with brother. Śaryāta then bethought him—'This has come to pass for something or other I have done. He caused the cowherds and shepherds to be called together and said, 'Which of you have seen anything here this day ?' They said,—'Yonder lies a man decrepit and ghostlike; him the boys have pelted with clod setting him at naught.' Then Śaryāta knew that this was Cyavana. He yoked his chariot, and putting his daughter Sukanyā thereon he set forth and came to the place where the Ṛṣi was. He said, 'Reverence be to thee O Ṛṣi, because I knew thee not, therefore have I offended thee; here is Sukanyā (the fair maiden), with her I make atonement to thee, let my tribe live at peace together.' And from that same time his tribe lived at peace together. But Śaryāta the Mānava departed forth lest he should offend him a second time."[1]

[1] Śat. Br. IV. 1.5.1-7. Translated by Eggeling, SBE. XXVI, pp. 272ff.

Now the Aśvins who wandered on the earth as physicians beheld the extremely charming Sukanyā and were enamoured by her seductive grace. They persuaded her to leave the decrepit, ghostlike Cyavana and accompany them. The faithfull lady said, '—To whom my father has given me, him will I not abondon, as long as he lives.' Ṛṣi Cyavana became aware of the demeanour of the Aśvins and inquired of Sukanyā, who told him all that had happened. Cyavana told Sukanyā, "If they speak to thee again, say thou to them, 'But surely you are neither quite complete nor quite perfect and yet ye describe my husband,' and if they say to thee, 'In what respect are we incomplete, in what respect imperfect?' Say thou to them, 'Nay, make ye my husband young again and I will tell you."[1]

When Aśvins came next time, Sukanyā told them as she was instructed by her husband. The Aśvins eager to know their imperfection told her to take her husband down to a pool[2] nearly from where he would come forth with whatever age he desired. The Ṛṣi did accordingly and came forth as a young and handsome man. The Aśvins then inquired of Sukanyā as to why she called them imperfect. The Ṛśi himself replied, 'In Kurukṣetra yonder the gods perform a sacrifice and exclude ye two from it; in that respect you are incomplete, in that respect imperfect.'

The Aśvins forthwith rushed to the Kurukṣetra where gods were performing a sacrifice after chanting Bahiṣpavamāna. They said to the gods, 'Invite us thereto.' The gods said, 'We will not invite you, for you have mixed much among men, The Aśvins then said that the gods were performing the sacrifice without the head of the sacrifice, which can be restored only by Aśvins. Gods invited them and they drew Aśvinā cup; thereby they restored the head of sacrifice and became Adhvaryu priests of the sacrifice.

This legend ultimately tells the reason why Aśvina cups are drawn at the chanting of the Bahiṣpavamāna in the sacrifiee

[1] Eggeling, op. cit., p. 274, ŚB. Iw. 1.5.1-10.
[2] This pool is not mentioned in the Kāṇva recension of the ŚB.

and calls these cups the head of the sacrifice obviously to emphasize their proper offering.

For the first time the legend is met with in the *Ṛgveda* at several places,[1] where it is related in course of the description of the miraculous deeds of Aśvins. Cyavana or Cyavāna, as the variant is also used for him, is represented in the *Ṛgveda* also as an old decrepit man Thus we read in the RV. I. 116.10:

Jujuruso Nāsatyā uta vavriṁ
pra amuñcataṁ drāpim iva Cyāvānāt
Pra atiratam̐ jahitasya āyur dasrā
ād it patim akṛnutam kanīnām

"You removed the outer shell of the aged Cyavāna like on armour, O true ones; you extended the life of a man who was abandoned, oh miracle—workers, and subsequently you made him the husband of young maidens.'[2]

In all the references to Cyavana in the RV he is said to have been made young and given young maidens as wives. But he does not appear with Saryāta or Sāryāta anywhere. Nor is the name of Sukanyā mentioned at all. There is, however, one more legend in the *Ṛgveda* abcut Cyavana in which he opposes the Paktha prince Tūrvāyaṇa, a worshipper of Indra and lays emphasis on the worship of Aśvins.[3] Since Sukanyā is not there in the Ṛgvedic versions of the legend, the lascivious intention of the Aśvins to entice her is not to be seen.

Among other *Brāhmaṇas*, *Jaiminīya-Brāhmaṇa*[4] relates a legend about Cyavana which though entirely different from this is mainly related with his opposition of Indra-worship. But in the *Aitareya-Brāhmaṇa*[5] he consecrates King Saryāta with the great Indra consecration (*aindrena* mahābhiṣekena) and on this ground Macdonell and Keith think that "a reconci-

[3] RV. I. 117.13, 108.6; V. 75.5; VII. 71.5; X 39.4; etc,
[1] Translated by Peterson; *Hymn the Ṛgveda*, Second Series.
[2] RV. X. 61.1-3.
[3] JB. iii. 121-128.
[4] viii. 21.4.

liation of Indra and Cyavana must have taken place.[1]" In the *Pancavimsā-Brāhmaṇa*[2] he is referred to as a seer of the *Sāmans*. In the *PB*, however, this legend is briefly narrated.[3]

The legend does not occur in the *Bṛhaddevatā* at all. This legend is of such a nature as might have been fittingly dealt with by Śaunaka along with other legends of this sort, which are associated with Aśvins. Surprisingly the name of Cyavana or Cyavana does not occur in it. However, the name of Śāryāta is mentioned twice.[4]

Cyavano is called a Ṛṣi and the etymology of his name is given in the *Nirukta*,[5] which explains RV. X : 39.4. Already in the *Nighantu*[6] Cyavana and Cyavāna names are mentioned.

The old-age is the most miserable of all the things, says the *Nitimañjari* in reference with the legend of Cyavana ;

> *sarvesām éva jantunām sarva-duhkhādhikā jarā*
> *Cyavano' py Aśvinau stutvā yayārtto, bhūt punar yuvā*
> (verse 38)

If also cites RV. I. 116.10 and the following lines :

> *Yuvaṁ Cyavanam sanayaṁ yathā rathaṁ* (RV. X.93.4)
> *Yuvaṁ Cyavanam Aśvina jarantaṁ* (RV. I. 117.73)
> *punaś Cyavam cakrathur yuvānam* (RV. I. 118.6)

The story is related in the most interesting manner and with addition of many details in the *Mahābhārata*,[7] There is in this legend considerable deviation from the Brāhmaṇa narratives. In this version we are told that Cyavana the son of Bhṛgu, practised severe austerity on the shore of a lake. After

---

[1] *Vedic Index of Names and Subject*, Vol. I, p. 265.

[2] xiii. 5.12 ; xix. 3.6 ; xiv. 6.10 ; xi. 8.11.

[3] *Cyavano vai Dādhīco Aśvioh priyā āsīt So' jiryattametena* (*vīrikena*) *sāmnā apsu vyairikayatāntam punar Yuvānam akurutām* PB. xiv. 6.10.

[4] Bṛhaddevatā. ii. 129; iii. 55.

[5] IV. 19. cyavanah ṛṣir bhavati cyavayitā stomānām. cyavānam ity apy asya nigamā bhavanti.

[6] IV. 1.38 ; II. 4.2.

[7] III. 122-125. Cf. *History of Indian* Lit. Vol. i, p. 391 ; J. Muir, Original Sanskrit Texts, V. p. 250f.

some times he became encrusted with anthills. Saryāti came to the spot with his army and only daughter Sukanyā. Out of wantonness Sukanyā poked out the eyes of the ascetic. Filled with anger, the saint caused retention of urine and constipation in the army of Śaryāti. The king at last came to know the cause of this misery and besought Cyavana to excuse him offering his daughter Sukanyā in marriage. The young princess became the wife of the old sage. One day she was stepping out of her bath, when Aśvins met her and persuaded her to choose one of them as husband. She refused. Then they proposed to her to make Cyavana young and then told that she should choose among them any one as her husband. Therefore the Aśvins led Cyavana to a lake, they stepped into it and came up all alike, young and handsome. Sukanyā, however, chose her rejuvenated husband. Cyavana, as a token of his gratitude promised them a share in Soma-sacrifice. At a sacrifice, which he performed for Śaryāti he presented the Aśvins with Soma. Indra disliked it and hurled thunderbolt on him, The ascetic paralysed it by the power of his asceticism, and created a terrible monster Mada, which threatened Indra. The terrified Indra implored the sage, who condoned him transforming the monster into Surā, women, dice and the chase.

The difference may be noted. Here Cyavan is said to be covered with anthill whereas in the *Brāhmanas* he is described as an 'old, ghost-like saint'. In the *Brāhmaṇas* it is the lads, and not Sukanyā, who pelted the sage with clods, and did not poke out his eyes as the princess is said to have done. The saint caused strife in the royal family and no disease as in the *Mahābhārata*. According to the *Mahābhārata* Aśvins met Sukanyā when she was stepping out of her bath. No such mention is made in the *Sātapatha-Brāhmana*. It is Cyavana himself who, askes Sukanyā to propose for his rejuvenation in the *Śatapatha*, but in the Mahābhārata it is Aśvins who propose. There is no choise before Sukanyā in the ŚB, whereas in the Mahābhārata Sukanyā has to choose her husband out of the Aśvins and the rejuvenated Cyavana-a description which bears some similarities with a similar occasion in the Nala and Dama-

yanti legend of the same epic. Though the sacrificial element is also present in the epic version of our legend, yet many new things and ethical details have made the story very interesting. The legend of the *Jaiminīya-Brāhmana* (III. 120) has a few resemblances with that of the *Mahābhārata*. In it also Sukanyā is to choose her husband from omong the Aśvins and rejuvenated Ṛṣi, who had already given Sukanyā a sign by which she recognized him. The Ṛṣi creates 'Nada' in the J.B. also, but exclusion of Indra from the sacrifice makes it futile and Ṛṣis pray Indra again. Indra is, thus, not so much humiliated as in the *Mahābhārata*.

The development of the Brāhmaṇical ideas in the epic is apparent in the above legend. The characteristics of this later Brāhmanical poetry is, in the words of Winternitz "exaggeration, lack of moderation in general, and especially immoderate exaltation of the saints—Brāhmaṇas and ascetics-over the gods."[1]

Now sage Cyavana, who is called a Ṛṣi in the *Ṛgveda* might have been certainly an actual Ṛṣi and no mere mythical figure. He must have been a worshipper of Aśvins and would have introduced the worship of Aśvins along wtih that of Indra and Agni. To emphasize the importance of Aśvina-worship and glorify these deities some stories must need be invented and accordingly we have the legend of rejuvenation of the old Cyavana along with other miraculous deeds of the Aśvins The legend of Cyavana in the *Satapatha-Brāhmana* presents more than the later versions the actual state of things which gave ground to this legend, Cyavana must have been a decrepit and ugly ṛṣi and the sons of king Saryāta rather than Sukanyā would have insulted him. Some in the king's court would have taken the side of sage Cyavana who would have succeeded in getting proper obeisance from some members of king's family and have sowed civil war in king's family. The old days of king may well stand for some rascal skin disease of which he would have got rid through medicine and this all have been attributed to Aśvins.

[1] RV. I. 112.17 Śaryātam ; I. 51.12 Śāryātasya ; III. 51.7 Sāryāte,

Moreover, the legend may also suggest the contentions between the Brāhmaṇas and the Kṣatriyas in which the latter might have succumed taking some unforeseen calamity to be the result of offending the former. Or, the priests might have devised the humiliation of the Kśatriya king to prove their superiority and power of penance.

However, king Śaryāta or Saryāta or Saryāti is a very old king. He is mentioned in the RV at places,[1] though not in connection with this legend. In the *Purāṇas* he is called one of nine sons of Manu Vaivasvata.[2] Ānarta has been said to be the son and Sukanyā the wife of cyavana, is said to be the daughter of Saryāti.[3] Thus, King Saryāti is certainly a very old king, who has therefore become more or less mythical figure. The legend of King Saryāti, sage cyavana and the gods Aśvins possesses historieal value which cannot be denied.

In his article 'The Fountain of Youth',[4] E.W. Hopkins deals with the legend of Cyavan at length. He has traced parallel passages of the legends of rejuvenation in many mythologies. He observes, "Found in many parts of the world, myths of rejuvenation are of varied sorts. Some of these appear to be unique in kind, such as that of the curse of recurrent youth involved in the fate of Cartaphilus, or the Icelandic saga of the man who shed his skin every few centuries and always came out thirty years old. Many of the myths are at last so dissimilar that there is no danger confusing them, or of fancying that they were originally identical and subsequently differentiated".[5]

In the *Taittirīya-Brāmana* (III) 10.11.3) the god Indra is said so have given a life-renewing science or formula to sage

---

[1] *Adi Pu.* 273.5 ; *Brahmānda-Pu.* II. 60.2, *Harivamsā* V. 613, cf. kirfel, *Purāña-Pañca-lakṣana*, p. 299.

[2] *Śaryater mithumaṁ to āsīt Anarto nāma viśrutah putrah Sukanyā kanyā ca yā patnī cyavanasya ha* kirfel, op. cit, p. 305, V. 25, Cf. *Adi.* Pu. 273. ii; *Brahmānda* II. 61.18; Harivamsā, V. 642i

[3] JAOS. Vo.. 26, pp. 1-67.

[4] *Ibid.* p. 2.

[5] JAOS, Vol. 26, p. 2.

Bhāradvāja, and in the *Mahābhārata* Yayati, an aged king, persuades a son to exchange royalty for Youth.

In Grecian Myth rejuvenation is implied in the tale of Tithonos. At a later date Aphrodite is said to have changed an old man, who had served her, into the beautiful youth loved by Sappo. In Northern legend, Olger the Dane is changed from one hundred to thirty years of age by virtue of a ring bestowed by the fairy Morgana.

Similar stories are to be met with on European soil. Writers of the romance in this land, according to Hopkins, took the myth from the East as it is indicated by the fact that they locate the mysterious fount in the orient. "In all these stories." the same scholars write, "India is usually the land where is located the Fountain of Youth from Paradise". This European idea starts with the patristic identification of one of the rivers in Paradise with a river of 'India'. logically resulting in the location of the water of life in the same country and romantically continuing along the tale of Alexander"[1]. Tradition ascribed to Alexander also the story that he came to India to search for the water of life and found apples, the eating of which gave the Hindus a life of four hundred years.

In these European stories it was believed that Paradise is situated in India and the river of Paradise Phison was Indus or the Ganges. "I am", writes Hopkins, "therefore inclined to regard India as the home of the European fable, but to consider the fable as brought thence not by the Arabs but by the Nestonans through whom it might have reached Syria".[2]

It is however, interesting to note in Hopkins' article that the modern Amṛtasara "lake of imomortality" is said to owe its name to a cure of a leper in a lake[3]. Such beliefs are common even in our days.

---

[1] Jaos. Vol. 26, p. 19.

[2] ibid., p. 32-33.

[5] ibid., p. 51.

IN THE SEARCH FOR AN IDEAL

RAVINDRAKUMAR SHRINGY
College of Music and Fine Arts

It is observed that, being unhappy and dissatisfied with the existing order of things man is always in the search for an ideal state of affairs and his efforts towards this end are voriously termed as pursuit of Peace, Happiness, Truth, Knowledge, Beauty, Progress and Advance etc. Obviously, human activity is inspired by a seeking for something other than what is perceived to be in actual experience ; and, as far as this characteristic is concerned, the seeking for what may be termed as the 'Unknown', is common to all. Also it is observed that this 'Unknown' object of the seeking is differently conceived by different people, so much so that no two persons may agree, in particular, regarding what they consider to be the ideal of existence cherished by them. It is also a fact that, not all are aware of this mental phenomenon going on within their minds, but invariably they are observed to be acting from a viewpoint which ,although being relative, is yet, personally, being considered to be absolute by the individuals concerned. This gives rise to a difference of opinion regarding the aim of life, and thereupon arise such questions as, 'What is life' or, , 'Truth' and 'Reality', etc. Thus the seeking is not only for the unknown but, for the unknown that may comprehend all that is known and exceed it to cover its insufficiency. Since personal or individual ideals are generally observed to be too narrow to satisfy the two above conditions, often enlightened opinion seeks for an impersonal ideal that may submerge all individual opinion and provide a substratum common to all. This aspect of the seeking has been termed as the search for 'Truth, Knowledge and Beauty' or 'the pursuit of good' in the realm of philosophy.

In every-day life, all events are observed to be in a relationship which from the space-time relative point of view, is perceived to be a relationship of cause and effect. Ordinarily it is taken for granted that everything being an effect must

have a cause and therefore, the process of thinking may be said to be consisting in relating the effects to their respective causes. Thus relative knowledge may be defined as the understanding of the relationship obtaining between the particulars of perception. Since unhappiness or dissatisfaction which is given to be the fact of day-to-day life signifies a mental state of unrest which appears in the form of the seeking for the unknown, it provides the starting point of the enquiry regarding the true ideal of life, which may comprehend the personal differences and provide an impersonal substratum in order to bring home the appreciation of the situation proper to the time in being. But it is further observed that, however impersonal an ideal we might individually be cherishing we are seldom successful in riding ourselves of the limitations of our individuality. Thus, though the ideal cherished generally is personal and subjective, it is fancied to be impersonal and objective. So it comes to pass that, the 'Relative' is taken for the 'Absolute'; and this fundamental mistake in understanding, results in duality of thought giving rise to the notions of 'Right and Wrong', of 'Justice and Injustice', of 'Good' and 'Bad' and so on.

Actually if the Absolute is properly understood, there remains no room for either thought or speech. The Absolute is ever present and cannot be an object of any deliberation. Thought or speech is operative only in the relative world of individuals. If, for a moment, the limitations of individuality be forgotten or ignored somehow, the state of consciousness then obtaining can hardly be described; it is so overtaking in the content of joy that it can only be enjoyed and there remains no division of time in it, in which, it may be transalated in the terms of limited personality. Such is the experience of the Absolute; but, we in our ignorance, are out to define it in the terms of relative experience.

It may be clearly understood that, to define is to delimit. But, because of the fundamental mistake that is committed at the very outset of the enquiry, namely that of taking the Relative for the Absolute and *vice versa*, we keep on imposing the

attributes of individuality upon God and thus seek to find Him in the objects of desire. Now since God, being impersonal in essence, can never be limited ; the limitations imposed by us go, only to separate us from Him and that too, due to our own notions. Since God is indivisible, all the divisions created by us are false and arbitrary and therefore not real but only conventional. However, till this fundamental mistake persists, this phenomenon is never comprehended and, due to the limitations of our ideals, we are frustrated in our seeking for God or the Absolute. This creates a viscious circle of 'Becoming', a process of unending bitter experience of trials and tribulations of the mundane existence of relativity. In the everyday life this phenomenon can be observed in the passion for becoming this or that, the goal of becoming wherein, is observed to be ever receding with the achievement of particular forms. No limitations, however wide, can comprehend the unlimited and can bestow the unceasing joy of the 'Absolute'. Thus the frustration so obtained is felt, in other terms, as mental unrest, emotional dissatisfaction and spiritual unhappiness.

To think of the horror of the process of becoming is aweful and tantalising. We constantly endeavour and take all possible pains to achieve a certain ideal and when we are successful, a momentary joy-is what passes between the achievement and the dis-illusionment consequent upon it ; for, what cannot be limited, can never be limited even for a while. That momentary joy also, is derived out of our own imagination of having delimited the underlimited ; which, no sooner than it is conceived, is proved to be false and unreal and the goal of becoming recedes further, giving room to yet another ideal, and so on it goes till eternity as it were.

But at the same time, the process of becoming is also the process of dis-illusionment. No one consciously commits a mistake even in day-to-day life, what to speak of the fundamental mistake involved in Becoming. The mistake has been considered in the terms of ignorance ond illusion in Védānta philosophy. The mistake is a given fact, and is perceived to be so, and therefore, any consideration of its

how and why, apart from what has been understood of it, is impracticable. The 'Ideal', being opposed to the Actual', creates the illusion of comprehending the undelimited in a delimited form, and however unreasonable an attitude it might appear to us on being enlightened about it, prior to that, its absurdity never occurs to us. This is perhaps the most charming point of the sad affair.

The process of disillusionment has been described in the upanishads as '*neti-néti*' After repeated experience with all conceivable ideals, every ideal is rejected as an insufficient substitute for the 'Absolute', and the general conclusion that, 'No ideal, whatever its particulars be, can satisfy the fundamental seeking of mind the basic craving of the heart', is brought home by the seeker. This puts an end to all becoming, duality and desire born of it, and to all seeking ; and the individuality of the seeker, being comprehended as a relative entity, is merged in the knowledge of the 'Absolute', which is its only substratum.

An ideal seeks to define, in relative terms, what is absolute in nature. The task of placing an ideal, that is simple as well as true, and therefore, precise and intelligible, is indeed a difficult one. It is quite obvious that the beauty of Rose is enjoyable in it, in excess of its chemical composition or physical structure, or both together comprehended ; for, it involves a factor foreign to both i.e. the 'perspective', in which it stands related to the observer. This unity of the observer and the object of observation, observed in the act of observing, has to be the very essence of any such ideal. Language is employed to state a subject-object-relationship of a situation in space and time. The statement has to be of such a nature as, it may truly relate the particulars to each other and also may prove thereby, their essential unity that exceeds the relationship under observation ; while by unity is not meant the negation of diversity. In other words the 'Simple' does not admit of any analysis ; and therefore, every definition of the 'Real' is bound to be logically absurd and formally inadequate, whatever the terms of a definition be.

If this be a true reflection on the situation under observation, then indeed, it is in vain that we may be seeking for an ideal. Never-the-less, the search for the ideal is there and asserts itself in the form of the ceaseless activity of the mind. So the mind represents the ideal, the definition of which keeps on constantly varying, the variation however being only formal. However much, it may be obvious to Reason that, the essence of existence being abstract is beyond all name and form and being simple and infinite is not subject to measure and definition ; to mind, there appears to be no other task, more pleasant and engaging than, to fashion ever new fabrics of name and form, in its unending and ceaseless endeavour to adorn and encompass the nameless and the formless. The finer the drapery the more transparent it becomes.

Now, since definitions of every kind concerning the 'Absolute', are bound to be logical absurdities and are always subject to endless disputation of the masters of the language employed, any attempt at giving positive form to the ideal will only be too grotesque to satisfy even the coarsest of the intellects ; but, on the other hand the only course left to a refined and reasonable effort is, to point out the false and leave the 'Real', as self evident. Perhaps there cannot be anything as false as any definition, positive or negative, of the 'Spirit', that is eternal and that puts on innumerable forms in the infinite space of time.

It appears that Man, aroused from the slumber of inertia, is still suffering from the tendency to relapse once again into the inactivity of the past and be dead and insensitive to the charm and changing beauty of the 'Eternal Spirit', to which his Manhood awakens him every now and then. Man wants to create, in the form of an ideal, a nest, a shell in which, having imprisoned himself, he can be indifferent to the passing winds of the spring and the autumn, and the light of the sun and the moon alike. The mind always dwells on the invalid forms of the spirit and conjures up the obsolete particulars of name and form to weave out a mask for the everfresh and self-effulgent Spirit, only to be weary and exhausted in its own sipirits. The knowledge, that

is content with its negation; and the ideal, which seeks its fulfilment in the very abolition of its generality; and a definition, which seeks its validity in surpassing its spirit of delimiting its object; seem to provide the only solution, free from any objection, intellectual and spiritual.

Man, earnestly in the search for an ideal, seems to have arrived on the threshold of the infinite spirit beyond the essential limitations of every frame of mind. The view presented here, sets up an ideal that finally is destined to sacrifice its form on the altar of its spirit. Perhaps there can be no better reward for the exertions of the mind in quest for the 'Ideal', than the dawning of the knowledge, to the absence of which, it rightly ows its origin. Happiness which may be conceived to be the essence of the 'Ideal', is not an object of desire, and therefore, of achievement; rather, it consists in the consciousness of the invariability of the relative alternation of the joys and sorrows attending upon the subjective phenomenon of desire. The phenomenon of Desire signifies the positive ignoring of the fact that, 'the duality in consciousness', in the terms of 'Subject-object-relationship', is formal and not essential. To see through this phenomenon of Desire, the essential unity of the Subject and the object, is to know what 'Happiness' is.

The Reality is of such a nature that, the more we try to possess it, the more it evades our grasp; and the more we give up the tendency of defining, delimiting and idealising and intellectually enchaining it, the more it enlightens our confused minds and offers us to partake of its infinite bounty and inexhaustible treasure of 'Happiness', which is categorically different from whatever is given to the relish of the senses and the mind.

The very ignorance of the 'Real', is the source of the search for it. The search for the ideal is the search for the formula, the definition and the form in which the limited mind seeks to comprehend the 'Unlimited'. The paradox of the perplexed search for the 'Unlimited and Infinite', in the limited frame of mind, in the form of an ideal; is only a reflection of

the tendency of the mind that reveals itself in its ceaseless effort of conceiving everything in its own shape. The paradox is sustained by the ignorance of the distiction between the form and the spirit. By no means can the spirit be chained and limited; for, every form imposed on it, is momentary and miserably inadequate.

The search begins in ignorance and spiritual poverty, and ends in 'Knowledge', the 'Infinity', and the unending bounty of the 'ABSOLUTE'.

Although, all such deliberation and reason may, for a while, satisfy the intellect; the question, 'what to do in order to achieve knowledge or Happiness, or whatever name may be given to the Unknown' still persists with us. If it is pointed out that, the true Ideal is perhaps the very negation of the essential characteristic of any idea and therefore cannot be conceived in any frame of name and form, it is very pertinently asked, 'what to do in order to achieve that negation ?" In short, the mind can think only in terms of achievement and possession; for, the mind exists in the duality of the possessor and the thing possessed.

However, in the light of above observations, it is quite obvious, how absurd such questions are. Inspite of this being so, it is at least necessary, to realise it to be so. How then to bring about this realisation—submitting to the natural tendency of mind, it may be stated that threefold path of realisation is spoken of in the Védānta philosophy viz. Dharanā, Dhyāna and Samādhi. It is not the purpose here, to indulge in the academic exposition of this philosophy but, it will suffice to point out that in keeping with its terms, the 'Vritti of mind' i.e. the frame or the ideal, which is capable of destroying its own limitations—which in fact are only formal-and thus of merging itself in the Infinite, has to be developed first. The intellectual grasp and faith in the form of conviction in such an ideal, is called Dhāranā. When this sort of Dhāranā has been formed, the mind again and again revolves around it and the realisation which is intellectual in the beginning, begins to gather emotional content and when it becomes natural and is firmly established as the only

truth, it provides for the launching pad of the spiritual rocket to shoot in the Infinite, crossing all barriers of the duality in consciousness, which forms the essential atmospher or the phenomenon of Desire to thrive. Such unwavering faith, is called Dhyāna, which takes the aspirant beyond itself and enables him to merge his limitations in the 'Limitless'.

Now, as we can clearly see, the essentials of the Dharana consist in, the realisation, in consciousness, of the formalism obtained in the Subject-Object-relationship and, the cognition of the essential unity behind this phenomenon, which frees the mind from the bondage of Desire.

Various means are suggested by realised souls, in keeping with the particular bent of the mind and the order of spiritual evolution. We are differently brought up under varying conditions and are trained in various ways. The influence of such training and the conditioning of the mind is so great that it cannot be overcome all of a sudden. What is therefore obtained in Dhyānā is placed as the final goal in the form of God, the Universal Spirit inhabiting the entire expanse of the universe and acting as the prime force of all change ; and the individual aspirants are charged with devotion to this universal being and are inspired to surrender their individuality to Him. Thus they in effect, realise the essentials of the Dhāranā and thereafter, having drunk from the divine cup they are mad with the selfless Spirit and finally get merged in the Absolute. This has been known as the path of Bhakti. The other path popularly known is that of Karma. In order to banish duality from consciousness, individual effort is sought to be harmonised with the Universal Movement and the Vritti of mind is universalised by eliminating the limitations of any cravings for the fruit. That is to say, that freedom from desire is, in spirit, realised by ceaseless acting. But whatever be the form of Sādhanā, what is essential to the search in order to be fruitful is the realisation, in consciousness of the formalism of the phenomenal duality which is accompanied by freedom from Desire and delimitation of Individuality.

THE ESSENTIALS OF A LIBRARY CATALOGUE

JAGPAL S. TIWANA

Deptt. of Library Science

Every book has its peculiar features which distinguish it from the rest of its kind ; namely its author, title, thought content editor, translator, compiler, commentator, Publisher, place of publication, series, edition, size, pages, colour, binding etc. Usually a reader knows the name of the author, its title, subject it deals with or series and sometimes collaborator's name. For other items he does not care much to remember. Therefore, there must be a tool in the library which should guide the reader who comes with scanty information about the book, in locating the book on the shelves of the library. Every library has such a tool and it is called the "*Catalogue*".

1. *Modern Library Catalogue and its Role :*

The modern Library Catalogue is a systematic arrangement of a number of cards in drawers of a wooden or steel cabinet or cabinets bearing information about the books and their places on the shelves of the library. It is the most important reference tool in the library. It serves as a key to unlcok the contents of a library. In fact, the reputation of a library depends on it. The true measure of the value of a library is not its number of books, nor its large and magnificient building, nor its vast financial resources, but its usefulness to the reader. The usefulness is possible only if the catalogue is well planned and well constructed. A reader wanting a particular book and not being guided to its exact place on the shelf at once, often condemns the whole system and the librarian with it. The catalogue should not offer such opportunities to the reader to fret and fume. It should anticipate all kinds of essential approaches of the reader and supply the required information.

In a university library, majority of the readers come to study a particular topic ; may it be for instance, "The working of representative Governments in the West" or "The evolution of mankind". or "Space travelling" etc. He needs many books at a time dealing with these topics. The catalogue must present all the cards for the related topics at a glance. On the other hand, provision should also be there that if a reader comes by author or title approach, he should get immediate information about his books.

2. *Structure of the Catalogue :*

Thus a catalogue should consist of two parts ; the one called the alphabetical part and the other classified part. In the former, all the cards bearing on the top line the names of the author, editor, translator, title, subject, series etc. should be arranged together in the alphabetical sequence. This can be of immediate help to a reader who comes with author, title or series approach.

In the classified part, the cards bearing the names of the subjects and their sub-divisions should be placed in such a way that not only the cards of one subject should come together but even they should fall in close proximity with other related subjects. For instance, a card for a book "On Evolution" should be found among other cards dealing with the same subject ; which form part of a wider group of cards dealing Biology ; and these in turn would be part of even wider group, forming the whole class known as "Natural Sciences". Thus this part should show how many total number of books the library has on one subject. Such a catalogue would be able to meet all the essential approaches of a reader in a university library.

3. *Physical Outlook :*

The catalogue should attract the readers. It should contain in its front instructions and guidance in its use. It should be

simple, uniform and consistent. Places assigned to a call number, name of the author, title etc. on the card should be fixed and be same in all the cards giving similar information.

4. Up-to-dateness :

Since the Library is ever growing and the stock is ever changing, catalogue must be kept up-to-date along with it. Every new book added in the stock must have its card in the catalogue. And equally important is that the cards for lost or withdrawn books must be weeded out of the catalogue, otherwise the catalogue will show that the library has these books, while the reader will not find them on the shelves, and hence will curse the library. This is clear from an example when a couple of years back, there was a general complaint about the non-availability of books in the B.H.U. Central Library. The result was that the number of readers to the library started decreasing. It however, did not continue for long and the worried librarian detected at the annual stock-taking that about five thousand books were missing, but their cards in the catalogue continued to direct the readers to the shelves. Clearly it was the root cause. An order for the immediate withdrawal of such cards was issued and along with disappeared the complaint about the non-availablity of books.

5. Duties of a Cataloguer :

Cataloguer must be very careful in preparing cards for books. He has to go through a number of confusing cases. For example.

"Things Ancient and Modern" by C. A. Alington is not a volume on Archaeology, but is a book on education in public schools. Its card is therefore, to be put with those representing the books on "Education" and not those representing the books on Archaeology, though the title of the book is creating dubiety.

6. Appeal to the user :

Reader also owes a responsibility to the efficient working of the catalogue when new techniques are introduced to facilitate the readers in locating the books. One should not run away from them calling them complex and intricate. With little effort, he can follow the new changes. Apart from it, there is a "Readers Advisor" always by his side to guide and help him. In fact, it is the catalogue which can unfold before him the *vistas* of knowledge preserved in the stacks of the library.

काव्य-गुण विवेचन

शिवनाथ शर्मा पाण्डेय; शोध-सहायक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

काव्य-विवेचनकाल के प्रारम्भ से ही काव्य-गुणों का उल्लेख होता आया है। आचार्य भरत ने माधुर्य तथा औदार्य प्रभृति गुणों की चर्चा की है, और इनके स्वरूप का भी निरूपण किया है। अलंकारवादी आचार्य भामह के समय से तो गुणों के स्वरूप-विवेचन तथा संख्यादि-निरूपण का युग ही आरंभ हो जाता है। सर्वप्रथम रीतिवादी आचार्य वामन ने गुणों एवं अलंकारों के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया। आगे चलकर ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा तो उसके सूक्ष्म-भेदों का भी दिग्दर्शन कराया गया। काव्य-गुणों के विषय में आचार्य मम्मट, ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन के मत का ही अनुसरण करते देखे जाते हैं।

गुण, रस के उत्कर्ष-विधायक धर्म माने जाते हैं। जिस प्रकार मानव-शरीर में आत्मा की स्थिति है, उसी प्रकार काव्य में प्रधानतया स्थित रहने वाला तत्त्व 'रस' है। शौर्यादि गुण, जीवात्मा के धर्म माने जाते हैं, अचेतन शरीर के नहीं; ठीक इसी प्रकार काव्य-गुण, रस के धर्म हैं; शब्दार्थ रूपी काव्य-शरीर के नहीं। इन्हें रसोत्कर्षक माना जाता है। इनकी स्थिति रस के साथ अचल मानी गई है[1]। इसका तात्पर्य यह है कि गुणों की स्थिति रस के बिना संभव नहीं है। यदि ये काव्य में रहते हैं, तो रस के उपकारक अवश्य होते हैं।

अलंकारों का न तो नियत रूप से रस के साथ रहना आवश्यक है; और न तो उनका नियतरूप से रसोपकारक होना ही। जिस प्रकार हारादि अलंकार पहले शरीर के किसी अंग विशेष की शोभा बढ़ाते हैं, तदनन्तर आत्मा को भी उत्कर्ष प्रदान करते हैं, ठीक इसी प्रकार जो धर्म काव्य रूपी शरीर की शोभा बढ़ाते हुए आत्मभूत रस का भी उपकार करते हैं, उन्हें 'अलंकार' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है[2]। जिस काव्य में रस का अभाव रहता है, वहाँ ये अलंकार उक्ति वैचित्र्य मात्र के ही प्रदर्शक होते हैं। कुरूपा स्त्री के अंग पर, हारादि अलंकार उसके लिए सौन्दर्यवर्द्धक न होकर केवल दृष्टि वैचित्र्य मात्र के ही उत्पादक होते हैं, ठीक इसी प्रकार रस के अभाव में (नीरस काव्यों में) ये अनुप्रासोपमादि अलंकार, केवल चमत्कार उत्पन्न करके ही रह जाते हैं। अलंकार, काव्य में रहकर रस का उपकार ही करें; ऐसा भी आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार भारी अलंकार, सुकुमार नायिका के शरीर की शोभा नही बढ़ाते; बल्कि उसके शरीर पर भद्दे लगते हैं; उसी प्रकार रस के अभाव म अलंकार काव्य की शोभा नहीं बढ़ाते; बल्कि अनुचित प्रतीत होते हैं। इसीलिए अलंकारों को अनियत स्थिति वाला (चलस्थितयः) कहा जाता है।

---

[1] "ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते **स्युरचलस्थितयो गुणाः**॥" का० प्र० ८। सू० ८६

[2] "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।" का० प्र० ८ सू० ८६

प्रश्न उठता है कि माधुर्यादि गुणों को रस का धर्म क्यों माना जाता है ? इसका कारण यह है कि ये (गुण) अव्यभिचरित रूप से रस के साथ रहते हैं। जो वस्तु किसी के साथ नियत रूप से रहती है, वह उसका 'धर्म' कहलाती है। उदाहरण के लिए—धूम अग्नि के साथ नियत रूप से रहता है, इसीलिए उसे अग्नि का 'धर्म' माना जाता है। धर्म के सदृश गुण भी रस के साथ नियत रूप से रहने वाले हैं। जहाँ रस होता है, वहाँ ये अवश्य विद्यमान रहते हैं; अतएव इन्हें रस का धर्म माना जाता है। अन्वय-व्यतिरेक से गुणों का रस-धर्म होना स्वयं सिद्ध है। ये गुण अनुकूल वर्णों के रहने पर प्रकाशित होते हैं; किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये एकमात्र वर्णों पर ही आश्रित हैं। लोक में कहीं-कहीं शूरता आदि गुणों के योग्य शरीर के डीलडौल को देखकर कहा जाता है कि 'इसका तो आकार ही शूरवीर जैसा है।' इस प्रकार हम कायर को भी शूर कह बैठते हैं। इसके विपरीत कहीं-कहीं शूर पुरुष को भी डीलडौल में छोटा देखकर 'यह शूर नहीं है' ऐसा भी कह देते हैं; और इसी प्रतीति के आधार पर निरन्तर व्यवहार भी करने लगते हैं।[1] यही स्थिति काव्य में भी देखी जाती है। माधुर्यादि गुणों के व्यंजक कोमल वर्णों को ही देखकर लोग वहाँ माधुर्य गुण की स्थिति स्वीकार कर लेते हैं, चाहे वहाँ माधुर्य गुण रहे या न रहे। इसके विपरीत इसके अंगीभूत माधुर्यादि गुणों की स्थिति रहने पर भी यदि उनकी व्यंजना करने वाले कोमल वर्ण नहीं रहते, तो लोग वहाँ गुणों का अभाव मान लिया करते हैं।[2] वास्तव में स्थिति ऐसी है नहीं। माधुर्यादि गुण, कोमल वर्णों के रहने पर प्रकाशित होते हैं; यदि अनुकूल वर्ण नहीं रहते, तो वे प्रकाशित भले ही न हों; किन्तु उनकी स्थिति वहाँ अवश्य मानी जाती है। इसलिए इन गुणों को एकमात्र अनुकूल वर्णों पर ही आश्रित नहीं कहा जा सकता।

भट्टोद्भट का कथन है कि "लौकिक गुणों तथा अलंकारों में तो भेद किया जा सकता है; किन्तु काव्य में नहीं। वहाँ गुण तथा अलंकार, दोनों समवाय सम्बन्ध से स्थित होते हैं। अतः गुण तथा अलंकार में भेद नहीं है।" इसीलिए इनका मत अभेदवादी मत के नाम से प्रसिद्ध है।

रीतिवादी आचार्य वामन को गुण तथा अलंकार में भेद स्वीकार है। उनका कथन है कि काव्य-शोभा के विधायक धर्म 'गुण' कहलाते हैं। इस शोभा को जो धर्म, अधिक उत्कर्ष युक्त करते हैं, वे 'अलंकार' कहे जाते हैं।[3] ओज-प्रसादादि गुणों की गणना अलंकारों

---

[1]. "आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारात्, अन्यत्राशूरेऽपि वितताकृतिमात्रेण 'शूरः' इति वृत्ति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इत्यविश्रान्तप्रतीतयो व्यवहरन्ति।" का० प्र० ८ सू० ८६ की वृत्ति।

[2]. "मधुरादिव्यंजकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेः, अमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि रसामपि नोपकुर्वन्ति।"—वही।

[3]. "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।" का० प्र० ८।

के साथ नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि यदि काव्य में गुण न रहकर केवल अलंकार ही रहें, तो वे काव्य की शोभा को उतना अधिक नहीं बढ़ा सकते, जितना काव्य गुणों के साथ रहकर बढ़ाते हैं। इसके विपरीत ओज-प्रसादादि गुण, अलंकारों के बिना भी काव्य-शोभा को बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से गुणों की अपरिहार्यता सिद्ध होती है।

गुणों के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्द्धन का मत है कि "जो धर्म, काव्य के आत्मभूत तत्त्व रसादिरूपध्वनि के आश्रित रहने वाले हैं, वे गुण कहलाते हैं। इसके विपरीत अलंकार रसाश्रित न होकर शब्द तथा अर्थ पर आधारित रहते हैं; इसीलिए वे काव्य के अंगभत शब्द तथा अर्थ के धर्म माने जाते हैं।" गुणों तथा अलंकारों के प्रविभाग के सम्बन्ध में आचार्य मम्मट ने भी ध्वनिकार के इसी मत का अनुसरण किया हैं।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ गुण तथा अलंकारों की रसोत्कर्षता का सूक्ष्म भेद स्पष्ट नहीं कर सके हैं। उन्होंने सामान्यतया केवल इतना ही कह दिया है कि गुण-अलंकार तथा रीति प्रभृति काव्य को उत्कर्ष प्रदान करने वाले (उत्कर्ष-हेतु) कहे जाते हैं।[1] इससे गुण तथा अलंकार का वह सूक्ष्म भेद स्पष्ट नहीं हो पाता, जिसका निदर्शन ध्वनिकार ने किया है।

रसों के आस्वादन के निमित्त सामाजिक-हृदय की तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—द्रुति, विस्तार और विकास। श्रृंगार, करुण एवं शान्त रस में चित्त-द्रुति होती है। वीर रौद्र और बीभत्स में चित्त का विस्तार होता है; हास्य, अद्‌भुत और भयानक रस में चित्त का विकास होता है। यह विकास कहीं द्रुति के साथ होता है, और कहीं विस्तार के साथ। प्रसाद गुण सभी रसों का उत्कर्षक माना जाता है। रसास्वादन की उपर्युक्त तीन अवस्थायें मानी जाने से रस के धर्म (गुण) भी तीन ही माने जा सकते हैं।

श्रृंगारादि रस, आनन्द स्वरूप माने जाते हैं। इनके भीतर एक विशेष प्रकार की आनन्दस्वरूपता पायी जाती है। इसी के द्वारा सहृदयों का चित्त द्रवित होता है। माधुर्य गुण, श्रृंगार आदि का उत्कर्षक एक विशेष धर्म है।[2] वह रस में तारतम्य भाव से रहता है; इसी कारण श्रृंगारादि रस कहीं कम मधुर और कहीं अधिक मधुर होते हैं। यह केवल संभोग श्रृंगार में ही नहीं रहता, अपितु करुण, विप्रलंभश्रृंगार, तथा शांत रस में भी रहा करता है।[3]

दीप्ति, चित्त की एक विशेष वृत्ति है, जिससे आत्म-विस्तृति होती है।[4] यह प्रतिकूल विषयों के प्रति हुआ करती है। इसको उत्पन्न करने वाला रस-धर्म ही 'ओज' कहलाता है। वीर रस में ही इसकी स्थिति मानी जाती हैं, इसके अतिरिक्त यह बीभत्स तथा रौद्र-रस में भी पाया जाता है।[5]

---

१. "उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकाररीतयः ॥" सा० द०
२. 'आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम्।' का० प्र० ८ सू० ८९
३. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। का० प्र० ८। सू० ९१
४. "दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।" का० प्र० ८। सू० ९२
५. 'बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।' का० प्र० ८। सू० ९३

प्रसाद-गुण को चित्त-विकास का जनक माना जाता है। इसमें रस, हृदय में उतनी ही त्वरितगति से व्याप्त हो उठता है; जितना सूखे ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल।[१] यह समस्त रसों का धर्म है; और सभी रस इसके आधार हैं। यद्यपि रस में ही गुण रहते हैं, तथापि रचनायें गुणों की व्यंजक तो होती ही हैं। इस तरह गुण, व्यंग्य-व्यंजक-भाव संबंध से विशेष प्रकार की पद-विन्यास युक्त रचनाओं में पाये जाते हैं।

अब तक जिन तीन काव्य गुणों ओज-माधुर्य-प्रसाद-की चर्चा की गयी हैं, अन्य आचार्यगण, इनके अतिरिक्त भी गुणों की स्थिति (काव्य में) स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए वामन ने दश शब्द गुण तथा दश अर्थ गुण स्वीकार किया है। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य भरत, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, इन्हीं दश गुणों की स्थिति काव्य में स्वीकार करते हैं। उन्होंने शब्द तथा अर्थ के गुणों का पृथक्-पृथक् विचार नहीं किया है, इसीलिए किसी किसी गुण के दुहरे लक्षण भी हो गए हैं। भामह ने शब्द के केवल तीन ही गुण—माधुर्य-ओज तथा प्रसाद—स्वीकार किए हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने सामान्य और विशेष दो प्रकार के गुणों को स्वीकार किया है। उनके सामान्य गुण हैं—'औचित्य' और 'सौभाग्य' तथा विशेष गुण हैं,—'माधुर्य', 'प्रसाद', 'लावण्य' और 'आभिजात्य'।

अग्निपुराण में शब्द के छः गुण, अर्थ के छः गुण तथा शब्दार्थ के छः गुण इस प्रकार कुल १८ गुण माने गये हैं[२]। शब्द गुणों के अन्तर्गत—श्लेष, लालित्य, गांभीर्य, सुकुमारता, औदार्य्य तथा ओज माने गये हैं। अर्थ गुणों में—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकता की गणना की गयी है। उभयगुणों के अन्तर्गत—प्रसाद, सौभाग्य, यथा-संख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग की गणना की गयी है। द्रष्टव्य है कि इस व्यवस्था में 'ओज' की गणना शब्दगुणों में, माधुर्य की गणना अर्थगुणों में तथा 'प्रसाद' की गणना उभयगुणों में की गयी है।

भोजराज ने प्रथमतः तीन ही गुण स्वीकार किए हैं—बाह्य, आभ्यंतर और वैशषिक वैशेषिक का अर्थ है—विशेष स्थितिवाला। इसके अन्तर्गत उन गुणों की गणना की जाती है, जो किसी विशेष परिस्थिति के कारण गुण मान लिये जाते हैं, अन्यथा दोष ही हैं। बाह्य और आभ्यन्तर में १४ नाम और बढ़ाकर वामनादि द्वारा निरूपित दशगुणों को भोजराज ने २४ तक पहुँचा दिया। भोजराज ने जिन १४ अन्यगुणों का उल्लेख किया है, वे हैं—उदात्तता, और्जित्य, प्रेय, सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढ़ि।

गुण, जब चारुत्व प्रवाह से अनुभूतिप्रवाह की ओर पहुँचे, तो उनकी संख्या तीन ही रह गयी, माधुर्य, ओज और प्रसाद। पहले ये काव्य के धर्म (शब्द और अर्थ के धर्म)

---

१ 'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥' का० प्र० ८। सू० ९४

२ देखिए—अग्निपुराण अध्याय ३४६ श्लोक ५—१२

थे, अब रस के धर्म हो गए। अंतःकरण की दो वृत्तियाँ मानी जाती हैं—राग एवं द्वेष। 'माधुर्य' का सम्बन्ध राग से एवं 'ओज' का सम्बन्ध द्वेष से है। 'प्रसाद' का सम्बन्ध किसी से नियत नहीं है; इसी कारण उभयस्थितिवाले गुणों की कल्पना अनिवार्य थी। अग्नि-पुराण में 'प्रसाद' गुण की गणना, जो उभयस्थितिवाले गुणों के अन्तर्गत की गयी है, उसका रहस्य भी यही है।

आचार्य्य मम्मट एवं आनन्दवर्द्धन काव्य में तीन ही गुणों की स्थिति स्वीकार करने के पक्ष में हैं। ऊपर जिन अतिरिक्त गुणों की चर्चा की गयी है, वे सभी इन तीन गुणों में अंतर्भुक्त किए जा सकते हैं। अतएव काव्य में तीन ही गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद) की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

———

EDITH SITWELL AND THE SYMBOLIST TRADITION

USHA KAUL
Research Scholar,
Deptt. of English.

Casting a backward glance at the history of English Poetry, one finds many movements bringing new techniques and richer content in their wake. The Symbolist Movement, initiated by the French poets, is one such movement which ushered in a new poetic era in English Poetry. The French pioneers were Rimbaud, Verlaine and Mallarme, whose poems inspired Valery, Appollinaire and the Surrealists. Symbolism was a reaction against the rigidity imposed on French Poetry by the neo-classical Parnassians. It gave us a "musically intellectualized" and "symbolically organized" poetry[1].

After 1910, symbolism opened fresh avenues for the more advanced English poets. Oscar Wilde, Arthur Symons, T. S. Eliot, Dylan Thomas and Edith Sitwell learned much of their art from the symbolist tradition of France. In fact the best poetry of our time owes its rich vintage to the symbolist influence and this indebtedness has become part of the iterary history of our time[2]. The faint beginnings of Symbolism in English poetry are perceptible in poets like Beddoes and Darley (with the intellectual giant Blake behind it) and undertones of it in Keats and Shelley too. But Tennysonian verse killed it off. His verse, offering a spiritual anodyne to the people shaken in their complacent and smug belief in

1 Hermann Peschmann, "New Directions in English Poetry" in *Literature and Life*—(Addresses to the English Association) Second Volume, (1951) p. 151.

2 See Arthur Symons; *The Symbolist Movement in Literature*. New York, (1919); Edmund Wilson, *Axel's Castle* (New York, 1931); C. M. BOWRA, *The Heritage of Symbolism*. (London, 1943), and such particular references as are to be found in C. D. Lewis, *A Hope for poetry*, (London), Ch. IX; Babette Deutsch, *This Modern Poetry*, (New York, 1935), Ch. V.

God and the Bible by the triumphant march of science, did not pick up the threads of symbolism present in the poetry of his predecessors. Symbolism became a dynamic force in English poetry only when mature poets like Eliot, Thomas and Edith Sitwell gave a new turn to it, with their original use of symbols. These poets imbibed the spirit of the French Symbolists and enriched their poetic contents by the symbolic method. Eliot's "The Wasteland", for instance, vindicates the mature use of symbolism by the English poets without any slavish imitation. Edith Sitwell and the other mature poets were influenced by symbolism both in technique and poetic sensibility.

The indebtedness of English writers to the Symbolist tradition varies from writer to writer. Of all the modern English poets, Edith Sitwell shows the strongest affinity both in technique and imaginative pre-occupations, with the French Symbolists. She has participated with verve and audacity in the development of modern British verse. She introduced into English poetry the "deep furious forces that the French Symbolists unloosed in their alembic of poetic transmutation.[1] What Marcel Raymond perceived in Symbolism as "Volonte nouvelle de saisir la poesie en son essence"[2] may also be what Miss Sitwell is after when she says: "The primary needs in poetry today are a greater expressiveness, a greater formality, and a return to rhetoric (good rhetoric, be it understood)"[3]. It was to achieve this expressiveness that she employed the idiom of the French poets. It was also very effective in countering the bromidic vision of the Georgian verse, which she found rhythmically flaccid and verbally moribund. Edith Sitwell discovered the Symbolists in 1921. She read Arthur Symons, Baudelaire, Verlaine, Rimbaud; and, after studying Eliot,

---

[1] Jack Lindsay, "The Poetry of Edith Sitwell", in *Life and Letters and the London Mercury*. Ed. Robert Herring. Vol. 64, (1950) p. 45.

[2] Marcel Raymond, *De Baudelaire au Surrealisme* (Paris, 1940) p. 53.

[3] Edith Sitwell in *Tradition and Experiment in Present Day Literature* p. 83 (London 1929).

Laforgue. The introductory essay she wrote for Helen Rootham's adaptation of Rimbaud's *Les Illuminations* and the numerous observations, recorded in *A Poet's Notebook*, on Baudelaire, Rimbaud, Verlaine, Mallarme, Wagner and Cocteau show her intimacy with the works of Symbolism.

When the poetry of Miss Sitwell is held against the tradition which it presupposes—the tradition of Mallarme, Laforgue, and Corbiere—a number of comparisons are obvious.[1] The most striking of these are in the field of imagery. Several types of images, used by both symbolist and modern poets, may be distinguished.

The first type of image is one that effects a dislocation of the structure of appearance, recreating the world on its own terms and according to its own needs. Such an image is characterized by the excessive license it takes with reason and reality. The image remains within the boundaries of art, operating on Coleridge's principle of the "willing suspension of disbelief", and relying heavily on the coherence of its context and the tension of its components. Rimbaud has been acknowledged as its master. The effect of the image, as Elizabeth Sewell recognizes of Rimbaud's language in general, is to multiply reference while abolishing order, to pull language in the direction of nightmare, which is chaos, rather than in the direction of number, which is pure order.[2] Edith Sitwell also recognized that effect when she said, with Rimbaud's *Illuminations* in mind: "This hallucination consists...........not so much in transforming actualities into other actualities, as in making all things as one, in abolishing time and place, in making all time as one, all places as one".[3] But the "phantasmic" image appears in a subdued degree in the poetry of Edith Sitwell

[1] These poets seem to represent jointly both the "serious-aesthetic" and "conversational ironic" views which Wilson observed in French Symbolism. See *Axel's Castle*, Ch. I, (1931); also John Crowe Ransom, *The World's Body*.

[2] Elizabeth Sewell, *The Structure of Poetry* (London, 1951) Pp. 82, 84, 102—130.

[3] Quoted by Elizabeth Sewell, *Ibid*; p. 131.

and other Symbolists. Miss Sitwell has a flair for such images as "............a Gold Man like a terrible Sun,/A Mummy with a Lion's mane" ("The Song of the Cold"), and "The Lynx-fürred and Lynx-purring plain of snow where branches of red coral/Hum of the spring..........." ("The Wind of Early Morning").

Another type of image used by the Symbolists is the "Synaesthetic". Synaesthesia presents an alogical transposition of the senses intended to create or weld impressions, to differentiate between the real and the superfluous, in the world of appearance and to centralize perception. Edith Sitwell observes, "The modernist poet's brain is becoming a central sense, interpreting and controlling the other five senses........."[1]. And of her own verse she says "Where the language of one sense was insufficient to cover the meaning, the sensations, I used the language of another, and by this means attempted to pierce down to the essence of the thing seen..........."[2]. Baudelaire's "Correspondances", Rimbaud's "Audition Coloree", all show the general pre-occupation with the "Synaesthetic" image, a preoccupation very much present in the earlier verse of Edith Sitwell. Such expressions as "...........sounds I heard through the begonia—yellow music" ("Butterfly Weather") or "Ribbons of noisy heat" ("Switchback"). This Synaesthesia that she cultivated more systematically than any other English poet was inspired by the famous Sonnet "Voyelles" by Rimbaud, where the colours which the vowels suggest are described. Rimbaud announced as imperative for poetry "a long, immense and reasoned derangement of all the senses". Welcoming this she heard colours and smelt sounds. She writes about "braying light", "Crackling green" etc. This "derangement" of senses produces an effect of engaging eccentricity. Occasionally it is a strange, beautiful effect, as in the gardener's song in "The sleeping Beauty"[3]...........

---

[1] Edith Sitwell, *Poetry and Criticism* (London, 1925) p. 18.

[2] Edith Sitwell, "Some Notes on My Poetry", *The Canticle of the Rose*, p. XVI. (1949).

[3] Henry Reed, "Edith Sitwell" in *Writers of Today*. Ed. D. V. Baker, (1946). Pp. 63—64.

"The dew all tastes of ripening leaves ;
Dawn's tendril fingers heap
The yellow honeyed fruits whose clear
Sound flows into his sleep.
Those yellow fruits and honeycomb............
'Lulla—Lullalby ;
Shrilled the dew on the broad leaves
'Time itself must die............

(—must die").

The two kinds of images discussed seem to disregard logical experience. But they share an assumption of the preconscious and the subhuman, which coexist with the artful and the sophisticated,[1] in the Symbolist and modern traditions. Synaesthesia, which according to Empson "throws back the reader upon the undifferentiated affective states which are all that such sensations have in common............,"[2] is but one instance of the primitive, and private associationism that Miss Sitwell develops. The "stridency" of cold, the "hairiness' of sky, the "whining" of grass, the "Emily" and "Martha" colors of things are partially explained in *The Canticle of the Rose ;* but beyond Synaesthesia or impressionism they raise the issue of obscurity and 'objective correlatives' in modern poetry. It is from Symbolists like Baudelaire ; Mallarme, Rimbaud, Laforgue that she learnt the use of recondite and obscure Symbolism. Like the Symbolists she gives expression to our sub-conscious impulses : at its extreme this leads to Surrealist poetry at its best in the early work of David Gascoyne. Edith Sitwell organizes the sub-conscious impulses and the resultant images, and combines them with ordinary rationalised experience, producing a composite and attractive type of poetry—the sort that Dylan Thomas also exhibits, poetry in which one moves without logical links from the realms of objectively shared common experience into the private domain of the poet's mind and its arbitrary symbols.

[1] Ihab. H. Hassan, "Edith Sitwell and the Symbolist Tradition" in *Comparative Literature*, Vol. VII, 1955 p. 242.

[2] William Empson, *Seven Types of Ambiguity* (London, 1953) p. 13.

But it would be misleading to conclude that logic has no place in the imagery of symbolists or modern poets. A third type of image which they use proves the contrary—the image of "Conceit"—which found extensive application in the poetry of Donne and has been, since Eliot, reclaimed by the modernist poet. The image yokes together dissonant elements, draws upon sudden and far-fetched analogies, elaborates a relationship to the limits of its possibilities and elicits both wit and irony from the anomalies and paradoxes it creates. But in the Conceit the fibre of analogy, however elastic, always exerts a cohesive pull that controls the many strands of associations—the logical structure in it is real. Its character in Symbolist poetry becomes clear by studying many conceits in Laforgue's, Corbiere's, Mallarme's and Rimbaud's poetry. Edith Sitwell has essentially the same orientation in sensibility—betrayed in such figures as "our sun, our love, will leave us more alone than the black mouldering rags about the bone ("Metamorphosis"); "And to me the jarring atoms are parted lovers". ("A Simpleton"); "A butterfly poised on a pigtailed ocean" ("EnFamille"); "Devoid of root like the planets, (those bright bees that move in heaven about their honeycomb of light,). And are forms of Time that irritate the eternal..." ("Out of School"). And perhaps it is not a mere coincidence that Miss Sitwell's image, "the black mouldering rags about the bone ;" should suggest to us another image which Eliot has singled out from Donne, "A bracelet of bright hair about the bone". In some respects Edith Sitwell, like a number of Symbolists, partakes of the Donne tradition. But a measure of caution should be applied in discovering parallels between Symbolist and metaphysical verse and the differences between the two schools of poetry should be observed.[1] The tendency of Symbolism was, in general, towards concentration, that of metaphysical poetry towards elaboration. Edith Sitwell

[1] A legitimate distinction between Symbolist and metaphysical verse is that the latter has a logical structure often more rugged and more explicit. See Rosemond Tuve, *Elizabethan and Metaphysical Imagery* (Chicago, 1943) p. 132.

reaches out to both the Symbolist and the metaphysical traditions as far as the image of conceit is concerned.

Another type of image is the Symbolic image. There are "intrinsic" and "extrinsic" Symbols. The intrinsic symbol is one in which the suggestive powers are largely inherent; it carries them wherever it goes, and derives them from popular traditions, myths, history from the very roots of language. Intrinsic symbols have a common set of associations, no matter how these associations may be modified by the context. The extrinsic symbol, on the other hand, is activated by the pressure of its context—it may be a word otherwise neutral. The French Symbolists were particulary skilful in their use of this kind of Symbol, though sometimes they lapsed into excessive obscurity. The idea of symbolic processes we encounter in Mallarme's hyperbolic statement on a flower, "......idea meme et suave, l' absentee de tous bouquets"[1]—Miss Sitwell herself does not disagree with this conception of symbolism when she says that all expression is welded into an image, and that the theme of consciousness in her poetry is "the very cry of that waiting, watching world where everything we see is a Symbol of something beyond, to the consciousness that is yet buried in this earth-sleep".[2]

In Edith Sitwell's poetry there are some intrinsic symbols that bring with them their own range of reference; *ape, cold rose, worm, burning bush, Cain, Lazarus, dust*; others, extrinsic symbols, she creates in a particular context and invests with special meanings; *lion, mind, claw, amber-blood, bone*. She puts the extrinsic symbols to a very personal use, though they awaken some general association In the preface to *The Canticle of the Rose* we are told that claw symbolizes in "The Shadow of Cain" the idea of struggle and in the same collection, she clarifies the symbolism of "amber-blood" by quoting William Harvey, who says of the blood that it has "the innate heat, the sun of the microcosm, the fire of Plato", a spirit that "corresponds to the

[1] Stephane Mallarme, *Divagations* (Paris, 1897), p. 250.

[2] Edith Sitwell, *The Canticle of the Rose*, Pp. XXVII (1949).

essence of the stars, "while further on, she gives her symbol additional meaning by recording Rimbaud's phrase, "her heart is of amber and musk"[1]. The notational clarification of symbols seems to be an effort to link intrinsic and extrinsic methods of symbolism through an artificial medium of common associations, outside of the poem, and in default of a natural community of knowledge or feeling. The "Symbolic image" has allowed the language of poetry to meet the modern crisis of sensibility. Judging from poems like "The Song of the Cold" "Anne Boleyn's Song", or "The Shadow of Cain", we can say that Miss Sitwell can make the Symbols and images conjure a world from which no willing reader is excluded. For instance, in the following lines—

> "Born of the primal cause
> That keeps the hearts and blood of men and beasts
> ever in motion,
> The amber blood of the smooth weeping tree
> Rising towards the life giving heat of the Sun—
> ("An Old Woman").

Stephen Spender selects the poem "A Young Girl" to illustrate Edith Sitwell's use of Symbolism and imagery.[2]

> "Is it the light of the snow that soon will be overcoming.
> The spiring of the world ? Ah no ; the light is the
> whiteness of all the wings of the angels
> As pure as the lily born with the white Sun
> And I would that each hair on my head was an angel,
> O my red Adam ;
> And my neck could stretch to you like a sunbeam or
> the young shoot of a lily.
> In the first spring of the world, till you, my grandeur
> of clay,
> My Adam, red loam of the orchard, forgetting
> The thunders of wrongs and of rights and of ruins

[1] *Ibid*, Pp. 283, 285.

[2] Stephen Spender, "Green Song and other Poems" in *Horizon*, Vol. X (1944) Pp. 281—282.

Would find the green shadow of spring beneath the hairs of my head, those bright angels,
And my face, the white Sun that is born of the stalk of a lily
Come back from the underworld, bringing light to the lonely ;
Till the people in islands of loneliness cry to the other islands
Foregetting wars of men and of angels, the new Fall of man".

In the above poem the most comprehensive and statuesque symbols are used ; *Adam, the lion, the Sun, the night, Christ, Caesar, Flames, bread,* the *young girl, the young man,* and so on. The Symbols are used nakedly and without complications. Light is repeatedly contrasted with darkness, spring with winter, the skeleton with the flesh, frost with the heart, and so on.

In the early poetry of Edith Sitwell, her use of Symbolism was too derivative. In the cry of "The Little Ghost who Died for Love"

"It is not I

But this old world, is sick and soon must die"—we may well hear the undertones of symbolism[1]. For ten years till 1940, there was a lull in her poetic output. But with the onset of the Second World War there was an outburst of poetic energy and her poetry touched new heights in Symbolism.

In this latest phase of her poetry Edith Sitwell uses symbols of the widest range, from Christian and classical history and legend, from the old Testament and even beyond—from the primitive pre-history and shadowy beliefs and customs on which our civilization was gradually built.

John Lehmann has explained her use of symbols very understandingly[2]. Edith Sitwell blends the Symbols with

[1] A. S. Collins, *English Literature of the Twentieth Century.* p. 87 (University Tutorial Press, 1960).

[2] John Lehmann, *Edith Sitwell* (1952, published for the British Council and the National Book League) Pp. 28—30.

the more ancient and universal symbols of animal and flower and corn, gold and precious metal, sea and sun and stars, conveying a sense of depth in Time and space and a view of things from a vantage point. The 'golden-woman grown old" is a symbol for the poet-philosopher, who through personal suffering and identification with the sufferings of others, sees that all created things are sacred, there is eternal renewal, of the spiritual as well as of the physical world and thereis divine forgiveness and charity behind the evil and terror of the world. "Eurydice" has the most exultant declaration of this faith.

In "The Shadow of Cain, "Dirge for the new Sunrise" and "The Canticle of the Rose", the poet has a presentiment of a cataclysm in the history of man. In her symbolism the heart, the heat of the blood has invariably symbolized good, and cold—'the ultimate cold within the heart of man'—evil. The symbols *Lazarus*, *Dives* and *Christ* achieve full status in "the Shadow of Cain"—the roots of these conceptions go back to "Gold Coast Customs" and "Elegy" with the further use of gold as symbol both of union and division in a complex poetic dialectic. Roughly, Lazarus and Dives, are two opposed social and spiritual forces, and Christ is the New Man, the resolution of their conflict both in the individual and history ; and the *gold* expresses the involved potentialities of good and evil, life and death, that come out of the opposition and union. These religious and alchemic symbols give the desired universal, significance to her statement. There is nothing imported in her use of symbols: they have evolved out of her individual experience—necessary universalizing images that come together at the main points of emotional concentration.

The symbolist poets, always intent on a very personal kind of expression, did little for the interaction of symbols (Mallarme's *Azur* and Laforgue's *Lure* are two exceptions). In modern poetry Keats, Eliot and Rilke have made the symbols of different poems come into a meaningful compact. Edith Sitwell takes a step further in the elucidation of her Symbolism when she allows the symbol in one poem to reinforce and develop

itself in another poem. She thus creates a pattern of meaning and a frame of reference that may be considered equivalent to a "personal mythology".

Two such symbols, the *lion* and the *sun*, are objectified in a series of images taken from related poems. They interact and derive part of their force from the external clues given by Edith Sitwell and they make use of the extrinsic and intrinsic processes of association. The external clues are present in "A Poet's Notebook" for instance. She quotes Cocteau:

> "Warning: The 'raw elegance of the lion is dangerous";
> and she quotes Leonardo da Vinci:
>
> "The eyes in the Lion Tribe have a larger part of the head for their sockets, and the optic nerves communicate at once with brain; but the contrary is to be seen in Man...;" to which she adds her own comment: "We must have the eyes, the nose, of the lion, the Lion's acuity of sense, and with these the Sun of Man's reason. Remember the 'animal full of genius' of whom Baudelaire wrote".[1]

Elsewhere she records from Burton's *The Anatomy of Melancholy* the question" When shall you see a lion hide gold in the ground ?[2]". The Sun symbol is of great significance. Max-Wykes Joyce has shown in his book on Edith Sitwell the use of the "Sun" Symbol[3]. This had been used in isolated instances in the early poetry-in "A Historian" (1917) for example: "when death's hand wiped out my Sun"; and in "Metamorphosis" (1929): "Then my immortal Sun arose, Heavenly Love". More recently, it has assumed a new value as a token of love and its power, "Eurydice" lauds the triumph of Love— "All the weight of Death in all the world yet does not equal Love". Concerning the Sun Symbol, Edith Sitwell says

[1] Edith Sitwell, *A Poet's Notebook* (London, 1944), Pp. 14—19.

[2] *The Canticle of the Rose*, p. 287.

[3] Max Wykes-Joyce *Triad of Genius* (Part I) (1953) p. 67.

"Before the time came for 'The Shadow of Cain" to be written, various of my poems spoke of the change from the worship of the holy, living, life-giving gold of the wheat to the destructive gold of Dives. But as yet the Sun itself had not been harnessed to a war machine and used against us. In "The Shadow of Cain", however, we moved still farther from the Sun that is Christ and the Sun of the heart".[1] The ripeness of love is all ; Christ the Slain Son is resurrected in Christ the Living Sun. Both these symbols are sufficiently personal and complex to demand a measure of alertness on the reader's part: the Sun is not simply radiance of energy, nor is the lion simply courage, strength, or nobility. The following images show her mature symbolic method:

> "As the earth is heavy with the lion-strong Sun
> When he has fallen with his hot days and rays
> We are heavy with Death."
>
> (Eurydice)
>
> "I saw great things mirrored in littleness,
> Who now see only that great Venus wears Time's filthy dress-"
>
> A toothless crone who once had the Lion's mouth-
> (The Poet Laments the Coming of Old Age).
> But in bud and branch the nature of Fate begins—
> And love with the Lion's claws and the Lion's hunger
> Hides in the brakes in the nihilistic spring—"
>
> (Invocation)
>
> "(Of the miser Foscue)............or fertilize
> His flesh, that continent of dryness ? Yellow, cold
> And crumbling as his gold,
> Deserted by the god of this world, a God Man like a terrible Sun,
> A Mummy with a Lion's mane..."
>
> (The Song of the Cold)

It is evident from the above lines that Edith Sitwell relies both on the total power of the image and on the intrinsic sugges-

[1] Edith Sitwell, *The Canticle of the Rose* (1949) Pp. XXXII f.

tiveness of the Symbol, as much on created as on natural associations. In the symbols there is what Allen Tate called the balance of *intension* and *extension*, a balance of the kind French Symbolists predicted without wholly achieving.[1] And in their pattern the whole meaning seems larger than the Sun of the individual Symbolic references. John Lehmann thinks that Edith Sitwell's tendency has been rather to overwork her symbolism by a certain overfluid quality in her imagination which make her Symbols......sometimes appear confused and indiscriminate.[2] But with each turn in the dialectic of her poetic career these symbols are brought forward again with fresh vigour and meaning, in a new order and in association with new discoveries. She does not use symbols with fixed meanings. She has said of her poems that 'all expression is welded into an image, not removed into a Symbol that is inexact or squandered into a metaphor'. The result is that although her poems may sometimes be vaguer than those of a strict Symbolist, they are more vivid and more flexible, and they never become mere riddles, as are some of the minor poems of Mallarme.[3]

Edith Sitwell assimilated the different techniques of various Symbolists. She took dandyism and the exotic artificiality of "Reve Parisien" from Baudelaire. Elegant artifice was a refuge from the Terror of the world. Retreat to childhood was another. In this she was inspired by Rimbaud. "Pleasure Gardens", a section of *Troy Park*, which celebrates her infancy, owes epigraph, atmosphere, and theme to Rimbaud. She shares further more with Rimbaud a love for the quick, bright image of a building or a human figure against a shifting background, though her control over these backgrounds is by no means as virile and scintillating as Rimbaud's. She puts this method into practice in "The Sleeping Beauty".

---

[1] Allen Tate, *On the Limits of Poetry* (New York, 1948) Pp. 75.86.

[2] Ibid 21, Pp. 31—32.

[3] Kenneth Clark, "On the Development of Miss Sitwell's Later Style" in *Horizon*, Vol. XVI No. 90 (July 1947) Ed. Cyril Connolly. p. 16.

Like Rimbaud, Edith Sitwell suddenly makes a "set" of illuminations, a succession of visual images, collapse into an agonized personal cry. In Rimbaud's "Bateau Ivre" or the prose poem "Villes", where a detailed account of an imaginary mountain city ends with a whiff of lament. In Edith Sitwell's longer poems, the "Elegy on Dead Fashion" for instance, the artificial stagery of a rustic fairyland drops apart and the true note of sorrow and lament is heard.[1]

In Edith Sitwell's preface to *Children's Tales from the Russian Ballet* (1920), she found Laforgue's "Terrible gaiety", like Petrouchka's, another refuge from the post war world. Equal admiration of Verlaine's *Fetes Calantes* is apparent in the nostalgic eighteenth century elegance that interrupts the terrible gaiety.

Edith Sitwell's diction, syntax, and versification adduce further evidence in showing her affinity with the poets of the Symbolist tradition. Laforgue's jazzy diction and Mallarme's awed use of "le verbe" had its influence on the diction of modern poetry. Through the Symbolists, on the other hand, were introduced into poetry exotic words, scientific or specialized terms, slang, puns, neologisms, that is, all types of verbal conceits, drawn like the imagist conceit from various fields of knowledge. Mallarme evoked words of strange weight and independent life. Both verbal conceit and incantation are to be found extensively in Miss Sitwell's verse. Her poetic world is populated with jewels, stones, musical terms, raiments, flowers, birds, trees, herbs and various creatures real and mythical.[2]

Even the proper names she uses show her penchant for variousness and ecentricity : Megrhalline, Justice Mompesson,

---

[1] *Ibid* 12, Pp. 64—65.

[2] Warren Ramsey, *Jules Laforgue and the Ironic Inheritance.* (New York, 1953) p. 6. Ramsey isolates an essential triat of symbolism when he writes : "From Baudelaire onwards poets gave a prominent place to jewels, metals, stony, treeless landscape, and such "dehumanized" imagery".

Mrs. Behemoth, Bohea, Pomona, Malinn, Don Pasquito, Mannuccia, Peregrine and many others. Other instances are : "Dives of the palcocrystic heart" (The song of the Cold) ; "......the Megatherium Mylodon/Lies buried under Mastodon-trumpetings of leprous suns" (The Shadow of Cain) ; "The Wind's bastinado/whipt on the calico/skin of the Macaroon/And the black Picaroon" (The Wind's Bastinado) And rubbing shoulders with these verbal conceits there are passages of remarkable purity and sonority, passages in which Mallarme's advice of ceding the initiative to words is carried out, though perhaps short of the limit he sometimes dangerously exceeded :

"After the terrible rain, the Annunciation
The bird blood in the veins that has changed to emeralds
Answered the bird-call—
Men said I was the primal Fall,
That I gave him the world of spring and of youth like
an apple
And the orchards' emerald lore-
And sin lay at the core.

(Anne Boleyn's Song)

The passage raises questions of versification. The Symbolist tradition is imbued with the spirit of experimentation[30]. The desire to work out a language more organic and complex lead to the use of free verse, slant rhymes, auditory conceits, conversational rhythms, and highly intricate sound patterns. But Miss Sitwell, like Mallarme, in such critical works, as "Poetry and Criticism" and "Experiment in Poetry" is only prepared to defend the best of free verse : the "best", she says, possesses" just as much organic form (form arising from the properties of the material) as any other verse[31]. Lines cited

[30] Lehmann has observed that Symbolist aesthetic has established "a positive link with our day", mainly through its "critical preoccupation with language as such in the widest sense—the artist's peculiar field" Sec. A. G. Lehman, *The Symbolists Aesthetic in France, 1885—1895* (Oxford, 1950), p. 14.

[31] Edith Sitwell, "Experiment in Poetry" in *Tradition and Experiment, in Present Day Literature* (London, 1929) p. 93.

from "Anne Boleyn's Song" evinces, in its pliant beauty, that quality of free verse which Miss Sitwell described as having a "strong and lovely movement". Such a type of free verse gives the idea of a rhythmic unit. Enjambment and caesura cannot be accepted as awkward necessities, but deliberately chosen devices intended for special effects to be witnessed in such early free verse poems as Rimbaud's "Marine" etc.

In Edith Sitwell's petite masterpiece "The Ghost whose lips were Warm" we have a lovely illustration of the use of enjambment. Because of this idea of rhythm and meaning, what liberties the poet takes with syntax, she takes with the unique requirements of each poem in mind. Syntax becomes a sort of criticism of content; it can absorb the stream of consciousness or it can modulate the presentational effect of lines like:

"The ice, weeping, breaks.
But my heart is underground.
And the ice of its dead tears melts never. Wakes
No sigh, no sound.

(The Ghost whose Lips Were Warm)

Symbolist experiments with the auditory appeal of verse were further carried to rhyme itself. The slant rhymes, consonantal and assonantal rhymes, were used by the French poets as a means of hinting relationships within the poem that a more direct and emphatic rhyme might obscure. Edith Sitwell's "bear" and "purr", "chain" and "men", "gone" and 'bone', "fall and "apple", "red" and "blood" etc. illustrate this. Banter, whimsy, undertone, humour, can be evoked by rhyme as well as by metaphor. Miss Sitwell's experiments in *Facade* provide ample proof for that. Her notions on texture and tempo, the "weight" of syllables and the "color" of vowels and the "thickness" of consonants etc. hark back to the Symbolists (Mallarme's *La Musique et les lettres* and *Divagation* are rich in insights on the subject).

A product of experimentation with sound and texture, the auditory conceit, is a feature of modern verse. This feature

is often attributed to the influence of Hopkins whose "Sprung Rhythm" was startling. But whoever may have the claim to it, this technique does for sound what the verbal conceit does for reference. The French Symbolists like Laforgue. Corbiere and Mallarme adopted it. Edith Sitwell does the same in lines like: "That hobnailed goblin, the bobtailed Hob Said, "It is time I began to rob' (Country Dance); "Among the pheasant feathered corn the unicorn has torn, forlorn..." (Fox-trot): "the azoic azure calls to the sphinxes of the silence..." (The Road to Thebes).

The analysis of these modes of poetic expression in the Symbolist tradition, while they are not its exclusive property, bring out the exact nature of the relationship between a modern poet and the French Symbolists. Thab. H. Hassan puts it beautifully that "Miss Sit-well's situation with respect to French Symbolism is not more than a partial definition of Eliot's historical notion that literature continually renews itself by going back to its sources, and by assimilating influences from abroad.[1] Both she and Eliot have shown that to derive such nourishment is not plagiarism.

---

[1] *Notes towards the Definition of Culture*, p. 113.

CHANGING CONCEPTS OF HOME SCIENCE

Talk delivered at the Home Science Seminar held in the Govt. Training College for Women, Allahabad.

DR. MRS. ANNAPURNĀ SHUKLĀ,
Home Science Section, Women's College

Introduction :

I have chosen my topic for todays talk as changing concepts of Home Science, because this subject has developed so fast during the past few years in our country that it will be worthwhile to review it in retrospect and look into its future prospects. Its rapid development is a healthy sign and is to be regarded with satisfaction. However, if we look towards the vast potentialities which Home Science promises we can realise the necessity of working still harder towards its further progress and its establishment as an indispensable subject in the educational programmes of our country.

Definition :

To define the subject if we split the two words 'Home and Science' we can easily get an idea as to what does this subject mean. Thus 'Science' in Homes is the main concept of this subject, although some of the arts subjects have also to contribute in laying down its foundation. On looking into the literature we find that Home Science was known as Home Economics which is a generic term used cheifly in the United States of America to describe the subject of study formerly known as Domestic Science, Domestic Economy, House-hold arts, or the Science of Home making. Today Home Science is called Home Economics in U.S.A. and Canada where it is supposed to be most highly developed. In U.K. it is known as Home Science. In India, although the generally accepted term is 'Home Science' but in some institutions it is still called Domestic Science, and Home Economics. The term 'Home Science' was first proposed emphatically by the All India Home

Science Association, and it seems to be more appropriate than others. Here it may be noted that Home Science is an imported term and so also is the teaching of the subject.

Concept of Home Science :

Home making as an art has existed since the beginning of humanity in its simple and natural form. It is something which is spontaneously born in human nature—"a desire to have ones own home. The primitive man used to live in caves, hollows dug into the ground or huts, put on leaves, or animal skin as clothes and feed upon wild plants and lower animals. Thus food, shelter and clothes have been the three basic needs of human existance from the begnning of the mankind and continue to be even till today. They form the main nucleus of Home Science and I call it the basic traingle of human needs, which forms the foundation stone of Home Science.
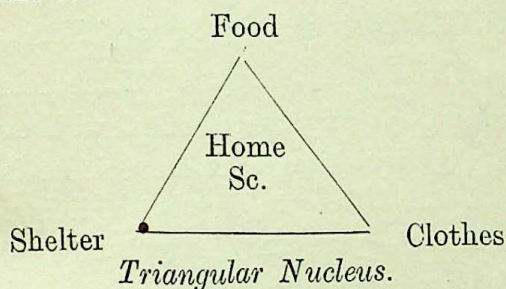
Triangular Nucleus.

Home Science thus is as old in its existance as the human civilization itself, although it was not given any shape or importance until recent years. Gradually with the march of civilization the human needs expanded and life became more and more complicated. The demands and understanding of life increased, and man started evolving better methods of comfort and living. Consequently the scope of Home Science also increased from a simple triangle of food shelter and clothing to include health, education and entertainment also, making it a hexagonal nucleus.
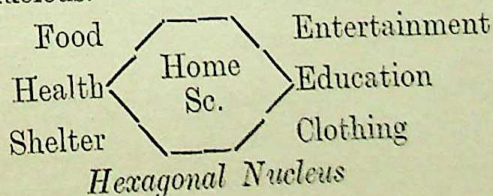
Hexagonal Nucleus

Further details of the scope of Home Science can be worked out analysing each one of the aspects which form the nucleus of this subject, and they are in a way ramifications or branches of the basic factors as depicted below.
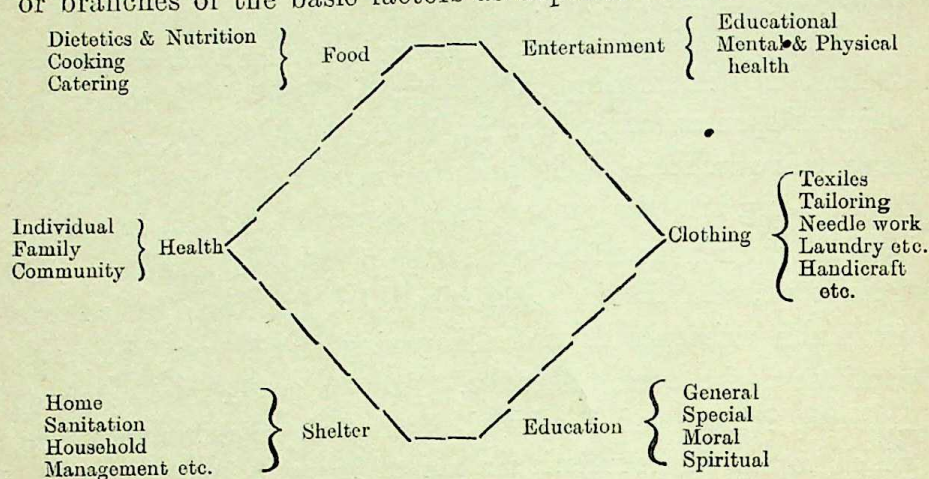
Hexagonal Nucleus showing scope of Home Science

Thus we can see that the concept of Home Science gradually widened and now it is expected to deal with every aspect of our life. The Primary Aim of Home Science is now to find out ways and means of day to day better living, and this has to be done by utilizing the knowledge gained by innumerable advances in Science and Technology. It is only this subject which can deal with the various aspects of our modern life like question of working women, domestic economy, food technology, human relationship, health matters, care of children and pregnant mothers, preservation of indigenous handicraft and cultural values, community development and so on. We can realise now that the concept of Home Science has not to be limited only to the basic needs of our life but to all its associated problems in view of the life of today. We can shake off our backwardness, remove many infectious and contagious diseases, other unhygienic conditions, poverty, ignorance, etc. effectively and improve our ways of living by a study of this subject.

It is matter of regret that majority of our educated class of people even till today are ignorant about the significance of home science in our life. It is still a common experience to

hear often "What is the need of establishing laboratories in Home Science or "Home Science is nothing else but cooking or ordinary house wifery". It is a challenge to all those who have taken up the task of teaching the subject that they have to endeavour to remove this false notion from the common mind. I would like to emphasize that we should try our level best to remove this misconception from the minds of our friends, neighbours, and all those who come in contact with us. Some of the reasons for this misconception are :—

1. Until few years back Home Science was not so significant in its status as it is today.
2. It was thought to be an important subject meant for unintelligent students.
3. People in general were, and even now they are, mostly ignorant about the various technological advancements and better mechanical devices which are being utilized in average homes in Europeon Countries.
4. Parents used to think that there was no special teaching or training required in homemaking which was just a traditional knowledge passed on to the younger generation by the previous one.

In my opinion the knowledge of running a home and looking after the family properly, should not be limited to academic interest only, but should be extended to the individual housewife in our country. This can be done by introducing short term courses for teaching simple home science and arranging for popular films, group talks, and exhibition etc. inorder to trainup all the individual housewives no matter whether they came from rural or urban areas. This is an important task to be undertaken by those who are in a position to teach this subject. The aim of this teaching would be to attain a uniform level of basic and fundamental knowledge which should necessarily be available to all the women population of our country

in order to enlighten them in matters of home making. Thus the privilage of learning Home Science will not be limited to school or college students only but will be extended to all the housewives which should be our goal in the context of the prevailing conditions in our country.

Another suggestion worth considering is about teaching and trainning boys also in this subject as they have to shoulder equal responsibility of the family, and this is essential specially because increasing number of women are taking up for careers, and servant problem is also becoming acute. In many Europeon Countries men have also to undergo training for looking after the baby and help actively in household work when wife has to go for work.

So far as I have dwelt upon the primary aim of Home Science. Now it is time for us to realise that Home Science is not only limited to the four walls of the 'home' but it offers opportunities for women to prepare hemsleves for careers like Dieticians, Social workers, Nursery school teachers, Teachers in Primary and Secondary Schools and at college level, institution manageress, business advisers in Food technology and textile industry ; research and laboratory technicians dress and design makers, Gram Sevikas and so on. Thus we can see the tremendous advancement which Home Science has acheived today, from its simple form to all these specialities.

Teaching of the Subjects :

The teaching of Home Science is based upon a foundation laid down by a study of subjects like physics, chemistry, biology, anatomy, physiology, hygiene and sanitation, bacteriology, biochemistry; psychology, economics and sociology etc. on which the main structure of Home Science is laid down consisting of Food and Nutution, Parentcraft, Child development and family relations, clothing and textiles, Home management and comparatively a newer field—Home Science education and Extension. On reviewing the progress of Home Science teaching and its simultaneous recognition as an important field of

study by the educationists and our Government, it is gratifying to note that whereas in 1951 there were only 3 Universities offering a comprehensive course in the subject and 4 or 5 others as an elective; today we have 28 institutions in the country which are teaching Home Science as an elective or optional subject and five independent Home Science Colleges. At school level it is widely taught, and is compulsory in High Schools in U.P. At graduate level there are two groups of students--one who get pure B.Sc. degree in Home Science and other group of those who obtain B.A. or B.Sc. degree in Women's Colleges where home science is offered as an optional subject. A few comments are needed for the graduate teaching of Home Science :—

1. B.A. and B.Sc. students find it difficult to get admission for post graduate studies, in Home Science institutions where it is taught as special subject. If the students wish to persue their studies in Home Science for taking it up as a career, they have either to remain disappointed or start from the first year of the special course.

2. Students who get admission in Home Science institutions for pure B.Sc. Courses are the minority Group, hence the opportunity of gaining knolwedge of Home Science, if it is offered as an optional subject is extended to a wider group of student population which has a definite advantage in continuing it in multipuropose institutions.

Suggestions :

(*a*) The courses should be reorientated and made uniform and correlated so that exchange of students for the various degrees is made possible.

(*b*) M.A. and M.Sc. degree in Home Science should also be introduced in Women's Colleges so that like any other optional subject, students who wish to undertake post graduate studies may be able to do so without much difficulty.

(*c*) The goal of graduate teaching should be to train up as many students as possible and to cater for teaching

of the rest of women population for attaining a uniform level of basic knowledge and scientific attitude towards life in common Indian homes, thus making the best use of the subject by its real practical application in daily life.

In Teachers Training Colleges, Home Science is offered as a special subject for B.Ed. degree. Such students can gain admission for doing M.A. in Home Management, Child development, or Home Science education and extension.

Post graduate research :

Few institutions have been able to arrange for providing the facility to do research work. A vast field of research studies is open in this subject. Such a study can help materially in solving so many problems concerning home and family in our country today. This will give an opportunity to the students for developing initiative to find out solutions for our problems of domestic life in our own way. Various fields in which research studies can be done are :—

Nutrition studies :—A survey of food habits, quality and quantity of food, relation with helath, ways and means to improve the diet of families, Parentcraft and Child development, study of health standards, preparing vital statistics, finding out causes of prevailing illhealth and solutions for improving them.

Home management—Study and evaluation of simple devices and plans for better houses and healthy and happy living, importance of modern hame appliances etc.

Clothing and textiles—

Study of old and New textiles, their relation with health and personality, utility, strength etc., handicarft and their importance.

Home Science teaching in foreign Countries-

The subject is well advanced and deals with their ways of living. Their social and cultural background is different,

food habits are different and climate is also quite different in comparison to that of our country. These factors all affect the pattern of living. They have more of psychological problems than problems related to physical health Naturally Home Science has also to take up a different shape and the course of study has been framed in such a way that it gives complete and substantial knowledge about what is expected to know about daily living according to their conditions. Hence if an Indian student is thinking of going abroad for studying Home Science it has to be kept in mind that the only advantage which one can gain is that one can study the administration and organisation of Home Science institutions and then translating them in our country according to our ways of living. The main benefit of studies in advanced Home Science institution in European countries is in doing research in some of its special fields in which they have good facilities. The Indian student should be always careful to avoid developing western outlook even at research level.

Conclusion :—

1. It is necessary for us to have correct conception of Home Science.
2. Teaching of Home Science in various institutions should be correlated and made uniform.
3. Propagation of the knowledge of simple Home Science is necessary to train up all the individual housewives.
4. Training of men, inorder to make them fit enough for actively co-operating in looking after domestic work, necessary.
5. Copying the Western system of living has to be avoided. Useful and beneficial aspects only have to be chosen from the Western system.
6. Academic standards should be raised by encouraging post graduate studies.
7. Research work should be organised and encouraged.

At the end I have to re-emphasize that it is high time for us to give home science its proper status in the education programmes, and realize that the subject can contribute a great deal towards National development and progress in general, by ensuring better understanding of living.

OBJECTS OF THE UNIVERSITY.

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing, for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India,

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches,

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country : and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.